अथ सप्तमोऽध्यायः

(१) यद्भक्तिं न विना मुक्तिर्यः सेव्यः सर्वयोगिनाम् ।
तं वन्दे परमानन्दघनं श्रीनन्दनन्दनम् ॥

(२) एवं कर्मसंन्यासात्मकसाधनप्रधानेन प्रथमषट्केन ज्ञेयं त्वंपदलक्ष्यं सयोगं व्याख्याया-धुना ध्येयब्रह्मप्रतिपादनप्रधानेन मध्यमेन षट्केन तत्पदार्थो व्याख्यातव्यः । तत्रापि—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥'

इति प्रागुक्तस्य भगवद्भजनस्य व्याख्यानाय सप्तमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र कीदृशं भगवतो रूपं भजनीयं कथं वा तद्गतोऽन्तरात्मा स्यादित्येतद्द्वयं प्रष्टव्यमर्जुनेनाप्रष्टमपि परमकारुणिकतया स्वयमेव विवक्षुः—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

(३) मयि परमेश्वरे सकलजगदायतनत्वादिविविधविभूतिभागिनि आसक्तं विषयान्तरपरिहारेण सर्वदा निविष्टं मनो यस्य तव स त्वम् । अत एव मदाश्रयो मदेकशरणः, राजाश्रयो भार्याद्यास-

(ज्ञानविज्ञानयोग)

(१) जिनकी भक्तिके बिना मुक्ति नहीं मिलती और जो सभी योगियोंके सेव्य हैं उन परमानन्दघन श्रीनन्दनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ ।

(२) इस प्रकार कर्मसंन्यासरूप साधनकी प्रधानतावाले पहले छः अध्यायों द्वारा त्वंपदके लक्ष्य ज्ञेयरूप जीवकी योगके सहित व्याख्या कर अब बीचके छः अध्यायोंसे, जिनमें कि ध्येय ब्रह्मके प्रतिपादनकी प्रधानता है, तत्पदके अर्थकी व्याख्या करनी है । इनमें भी 'समस्त योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् पुरुष मुझमें लगे हुए चित्तसे मेरा भजन करता है उसे मैं युक्ततम मानता हूँ' इस श्लोक द्वारा पहले कहे हुए भगवान्‌के भजनकी व्याख्या के लिये सातवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । सो भगवानका भजन करनेयोग्य रूप कैसा है और किस प्रकार चित्त उसमें लगा रह सकता है—इन दो पूछने योग्य बातोंको, अर्जुनके न पूछनेपर भी, परमकारुणिकतासे स्वयं ही बतानेकी इच्छा से

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान् बोले—अर्जुन ! मेरेमें आसक्तचित्त और मेरे ही आश्रय रहनेवाले तुम योगका अभ्यास करते हुए जिस प्रकार मुझे निःसन्देहरूपसे पूर्णतया जान लोगे वह सुनो ॥ १ ॥]

(३) सम्पूर्ण जगत्‌का आश्रय होनेके कारण तरह-तरह की विभूतियोंको भोगनेवाले मुझ परमेश्वरमें अन्य विषयोंके परित्यागपूर्वक जिनका मन सर्वदा आसक्त अर्थात् लगा हुआ है ऐसे तुम और इसीसे जो मदाश्रय अर्थात् एकमात्र मेरी ही शरणमें स्थित हैं;

क्तमनाश्च राजभृत्यः प्रसिद्धो मुमुक्षुस्तु मदाश्रयो मदासक्तमनाश्च, त्वं त्वद्विधो वा योगं युञ्जन्मनःसमाधानं षष्ठोक्तप्रकारेण कुर्वन्, असंशयं यथा भवत्येवं समग्रं सर्वविभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिसंपन्नं मां यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि तच्छृणूच्यमानं मया ॥ १ ॥

(१) ज्ञास्यसीत्युक्ते परोक्षमेव तज्ज्ञानं स्यादिति शङ्कां व्यावर्तयन्स्तौति श्रोतुराभिमुख्याय—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

(२) इदं मद्विषयं स्वतोऽपरोक्षज्ञानम् । असंभावनादिप्रतिबन्धेन फलमजनयत्परोक्षमित्युपचर्यते असंभावनादिनिरासे तु विचारपरिपाकान्ते तेनैव प्रमाणेन जनितं ज्ञानं प्रतिबन्धाभावात्फलं जनयदपरोक्षमित्युच्यते । विचारपरिपाकनिष्पन्नत्वाच्च तदेव विज्ञानं, तेन विज्ञानेन सहितमिदमपरोक्षमेव ज्ञानं शास्त्रजन्यं ते तुभ्यमहं परमार्थो वक्ष्याम्यशेषतः साधनफलादिसहितत्वेन निरवशेषं कथयिष्यामि । श्रौतीमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञामनुसरन्नाह—यज्ज्ञानं नित्यचैतन्यरूपं ज्ञात्वा वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्येह व्यवहारभूमौ भूयः पुनरपि अन्यत्किंचिदपि ज्ञातव्यं नावशिष्यते । सर्वाधिष्ठानसन्मात्रज्ञानेन कल्पितानां सर्वेषां बाधे सन्मात्रपरिशेषात्तन्मात्रज्ञानेनैव त्वं कृतार्थो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

राजसेवक राजाके आश्रय और अपनी भार्यादिमें आसक्त होता है—यह प्रसिद्ध ही है, किन्तु मुमुक्षु मेरे ही आश्रित और मुझमें ही आसक्तचित्त होता है । अतः तुम या तुम्हारे समान कोई दूसरा मुमुक्षु योगका अभ्यास अर्थात् छठे अध्यायमें बताये हुए प्रकारसे मन को समाहित करते हुए जिस प्रकार सन्देहशून्य होकर समग्र—समस्त विभूति, बल, शक्ति और ऐश्वर्यादिसे सम्पन्न मुझे जान सकोगे वह मेरे द्वारा कहा जाता है, सुनो ॥ १ ॥

(१) 'जान सकोगे' ऐसा कहनेसे वह ज्ञान परोक्ष ही होगा—ऐसी शंका हो सकती है, उसे निवृत्त करते हुए श्रोताको अपने अभिमुख करनेके लिए उस ज्ञानकी स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं तुम्हें यह विज्ञानके सहित ज्ञानका पूर्णतया उपदेश करूँगा, जिसे जान लेनेपर इस लोकमें फिर कोई दूसरा जानने योग्य पदार्थ नहीं रहता ॥ २ ॥

(२) यह मुझको विषय करनेवाला ज्ञान स्वतः अपरोक्ष होनेपर भी असम्भावना आदि प्रतिबन्धके कारण फलको उत्पन्न न करनेके कारण उपचारसे परोक्ष कहा जाता है । असम्भावना आदि की निवृत्ति होनेपर तो विचारका परिपाक होनेके अनन्तर उसी प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रतिबन्धका अभाव होनेसे फलकी उत्पत्ति करनेके कारण अपरोक्ष कहा जाता है; तथा विचारकी परिपक्वतासे निष्पन्न होनेके कारण वही विज्ञान भी है । मैं अत्यन्त यथार्थवक्ता उस विज्ञानके सहित तुम्हें यह शास्त्रजन्य अपरोक्ष ज्ञानका ही अशेषतः—साधन और फल आदिके सहित पूर्णतया उपदेश करूँगा । श्रुतिकी जो एकके विज्ञान द्वारा सबके विज्ञानकी प्रतिज्ञा है उसका अनुसरण करते हुए कहते हैं—जिस नित्य चैतन्यरूप ज्ञानको जानकर—वेदान्तजनित मनोवृत्तिका विषय करके यहाँ व्यवहार भूमिमें तुम्हारे लिये फिर और कुछ भी जानने योग्य नहीं रहेगा । अभिप्राय यह है कि सबके अधिष्ठानभूत केवल सन्मात्रके ज्ञानसे सम्पूर्ण कल्पित वस्तुओंका बाध होजानेपर केवल सन्मात्र ही अवशिष्ट रह जानेके कारण उसीके ज्ञानसे तुम कृतार्थ हो जाओगे ॥२॥

(१) अतिदुर्लभं चैतन्मदनुग्रहमन्तरेण महाफलं ज्ञानम् । यतः—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

(२) मनुष्याणां शास्त्रीयज्ञानकर्मयोग्यानां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेकोऽनेकजन्मकृतसुकृतसमासादितनित्यानित्यवस्तुविवेकः सन्यतति यतते सिद्धये सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तये । यततां यतमानानां ज्ञानाय सिद्धानां प्रागर्जितसुकृतानां साधकानामपि मध्ये कश्चिदेकः श्रवणमननिदिध्यासनपरिपाकान्ते मामीश्वरं वेत्ति साक्षात्करोति तत्त्वतः प्रत्यगभेदेन तत्त्वमसीत्यादिगुरूपदिष्टमहावाक्येभ्यः । अनेकेषु मनुष्येष्वात्मज्ञानसाधनानुष्ठायी परमदुर्लभः, साधनानुष्ठायिष्वपि मध्ये फलभागी परमदुर्लभ इति किं वक्तव्यमस्य ज्ञानस्य माहात्म्यमित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

(३) एवं प्ररोचनेन श्रोतारमभिमुखीकृत्याऽऽत्मनः सर्वात्मकत्वेन परिपूर्णत्वमवतारयन्नादावपरां प्रकृतिमुपन्यस्यति—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

(४) सांख्यैर्हि पञ्च तन्मात्राण्यहंकारो महानव्यक्तमित्यष्टौ प्रकृतयः पञ्च महाभूतानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि उभयसाधारणं मनश्चेति षोडश विकारा उच्यन्ते । एतान्येव चतुर्वि-

---

(१) क्यों कि जिसका महान् फल है ऐसा यह ज्ञान मेरी कृपाके बिना मनुष्योंको प्राप्त होना बहुत कठिन है, इसलिये—

[श्लोकार्थः— हजारों मनुष्योंमें से कोई एक सिद्धिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे कोई एक मुझे तत्त्वतः जान पाता है ॥ ३ ॥]

(२) शास्त्रीय ज्ञान और कर्मके योग्य सहस्रों मनुष्योंमेंसे अनेकों जन्मोंमें किये हुए शुभ कर्मों द्वारा जिसे नित्यानित्यवस्तुविवेक प्राप्त हुआ है ऐसा कोई एक सिद्धि अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये यत्न करता है । तथा ज्ञानके लिए यत्न करनेवाले सिद्धोंमें—पूर्वोपार्जित सुकृतोंवाले साधकोंमें भी कोई एक श्रवण, मनन और निदिध्यासनके परिपाकके पश्चात् मुझ ईश्वरको तत्त्वतः जान पाता अर्थात् गुरुके उपदेश किये 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों द्वारा मेरा साक्षात्कार कर पाता है । अभिप्राय यह है कि अनेकों मनुष्योंमें तो आत्मज्ञानके साधनोंका अनुष्ठान करनेवाला ही अत्यन्त दुर्लभ है तथा उन साधनोंका अनुष्ठान करनेवालोंमें भी उसके फलको प्राप्त करनेवाला तो और भी दुर्लभ है—इस प्रकार इस ज्ञानके माहात्म्यका क्या वर्णन किया जाय ?॥ ३ ॥

(३) इस प्रकार रुचि उत्पन्न करके श्रोताको अपने अभिमुख कर सर्वात्मकताके कारण अपनी परिपूर्णताका वर्णन करनेके लिए पहले अपरा प्रकृतिका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार यह (प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाली) मेरी आठ प्रकारके भेदोंसे युक्त प्रकृति है ॥४॥]

(४) सांख्यवादी पञ्चतन्मात्र, अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्त इन आठको 'प्रकृति' और पाँच महाभूत, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं इन दोनोंमें समानरूपसे

शतिस्तत्त्वानि । तत्र भूमिरापोऽनलो वायुः खमिति पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यपञ्चमहाभूतसूक्ष्मावस्थारूपाणि गन्धरसरूपस्पर्शशब्दात्मकानि पञ्चतन्मात्राणि लक्ष्यन्ते । बुद्ध्यहंकारशब्दौ तु स्वार्थावेव । मनःशब्देन च परिशिष्टमव्यक्तं लक्ष्यते प्रकृतिशब्दसामानाधिकरण्येन स्वार्थहानेरावश्यकत्वात् ।

(१) मनःशब्देन वा स्वकारणमहंकारो लक्ष्यते पञ्चतन्मात्रसंनिकर्षात् । बुद्धिशब्दस्त्वहंकारकारणे महत्तत्त्वे मुख्यवृत्तिरेव । अहंकारशब्देन च सर्ववासनावासितमविद्यात्मकमव्यक्तं लक्ष्यते प्रवर्तकत्वाद्यसाधारणधर्मयोगाच्च । इति उक्तप्रकारेणेयमपरोक्षा साक्षिभास्यत्वात्प्रकृतिर्मायाख्या पारमेश्वरी शक्तिरनिर्वचनीयस्वभावा त्रिगुणात्मिकाऽष्टधा भिन्नाऽष्टभिः प्रकारैर्भेदमागता । सर्वोऽपि जडवर्गोऽत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः । स्वसिद्धान्ते चेक्षणसंकल्पात्मकौ मायापरिणामावेव बुद्ध्यहंकारौ । पञ्चतन्मात्राणि चापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानीत्यसकृदुक्तम् ॥ ४ ॥

(२) एवं क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरपरत्वं वदन्क्षेत्रज्ञलक्षणां परां प्रकृतिमाह—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

(३) या प्रागष्टधोक्ता प्रकृतिः सर्वाचेतनवर्गरूपा सेयमपरा निकृष्टा जडत्वात्परार्थत्वात्संसारबन्धरूपत्वाच्च । इतस्त्वचेतनवर्गरूपायाः क्षेत्रलक्षणायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणां, तुशब्दाद्यथाकथंचिद्-

---

रहनेवाला मन—इन सोलहको 'विकार' कहते हैं । ये ही चौबीस तत्त्व हैं । यहाँ 'भूमिरापोऽनलो वायुः खम्' इससे पृथ्वी जल तेज वायु और आकाशसंज्ञक पाँच महाभूतोंकी सूक्ष्मावस्थारूप गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्दमयी पाँच तन्मात्राएँ लक्षित होती हैं । 'बुद्धि' और 'अहंकार' शब्द तो अपनेही अर्थमें हैं तथा 'मन' शब्दसे बचा हुआ अव्यक्त लक्षित होता है, क्योंकि 'प्रकृति' शब्दसे सामानाधिकरण्य होनेके कारण इसके अपने अर्थकी हानि होनी आवश्यक ही है ।

(१) अथवा पञ्चतन्मात्राओंका समीपवर्ती होनेके कारण 'मन' शब्दसे उसका कारण अहंकार लक्षित होता है । 'बुद्धि' शब्दकी तो अहंकारके कारण महत्तत्त्वमें मुख्य वृत्ति ही है । तथा 'अहंकार' शब्दसे प्रवर्तकत्व आदि असाधारण धर्मोंके योगसे समस्त वासनाओंसे बसा हुआ अविद्यामय अव्यक्त लक्षित होता है । इस तरह पूर्वोक्त प्रकारसे साक्षीभास्य होनेके कारण यह अपरोक्ष प्रकृति—माया नामकी परमेश्वरकी अनिर्वचनीय स्वभाववाली त्रिगुणमयी शक्ति अष्टधा भिन्न अर्थात् आठ प्रकारसे भेदको प्राप्त हुई है । तात्पर्य यह है कि सारा ही जडवर्ग इसीके अन्तर्गत है । हमारे सिद्धान्तमें तो ईक्षण और संकल्परूप मायाके परिणाम ही बुद्धि और अहंकार हैं तथा पाँच तन्मात्राएँ पाँच अपञ्चीकृत भूत हैं—यह हम कई बार कह चुके हैं ॥ ४ ॥

(२) इस प्रकार क्षेत्ररूपा प्रकृतिकी अपरता बतलाते हुए क्षेत्रज्ञरूपा परा प्रकृतिका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे महाबाहो ! यह मेरी अपरा प्रकृति है, इससे भिन्न जो जीवस्वरूपा प्रकृति है, जिससे कि यह सारा जगत् धारण किया जाता है, उसे मेरी परा प्रकृति जानो ॥ ५ ॥]

(३) पहले जो सम्पूर्ण जडवर्गरूपा आठ प्रकारकी प्रकृति बतायी है वह जड, पदार्थ और संसार बन्धनरूपा होनेके कारण अपरा अर्थात् निम्न कोटि की है । इस अचेतनवर्गरूपा क्षेत्रलक्षणा प्रकृतिसे भिन्न-विलक्षण मेरी जीवभूता चेतनात्मिका क्षेत्रज्ञलक्षणा स्वरूप-

व्यभेदार्हायां जीवभूतां चेतनात्मिकां क्षेत्रज्ञलक्षणां मे ममाऽऽत्मभूतां विशुद्धां परां प्रकृष्टां प्रकृतिं विद्धि हे महाबाहो, यया क्षेत्रज्ञलक्षणया जीवभूतयाऽऽन्तरनुप्रविष्टया प्रकृत्येदं जगद्‌चेतनजातं धार्यते स्वतो विशीर्यं उत्तम्यते "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति श्रुतेः। न हि जीवरहितं धारयितुं शक्यमित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

(१) उक्तप्रकृतिद्वये कार्यलिङ्गकमनुमानं प्रमाणयन्स्वस्य तद्द्वारा जगत्सृष्ट्यादिकारणत्वं दर्शयति—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

(२) एते अपरत्वेन परत्वेन च प्रागुक्ते क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनिर्येषां तान्येतद्योनीनि भूतानि भवनधर्मकाणि सर्वाणि चेतनाचेतनात्मकानि जन्तिमन्ति निखिलानीत्येवमुपधारय जानीहि। कार्याणां चिदचिद्ग्रन्थिरूपत्वात्तत्कारणमपि चिदचिद्ग्रन्थिरूपमनुमिनित्वित्यर्थः। एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे ममोपाधिभूते यतः प्रकृती भवतस्ततस्तद्द्वाराऽहं सर्वज्ञः सर्वेश्वरोऽनन्तशक्तिमायोपाधिः कृत्स्नस्य चराचरात्मकस्य जगतः सर्वस्य कार्यवर्गस्य प्रभव उत्पत्तिकारणं प्रलयस्तथा विनाशकारणम्। स्वाप्निकस्येव प्रपञ्चस्य मायिकस्य मायाश्रयत्वविषयत्वाभ्यां माययहमेवोपादानं द्रष्टा चेत्यर्थः ॥ ६ ॥

(३) यस्मादहमेव मायया सर्वस्य जगतो जन्मस्थितिभङ्गहेतुस्तस्मात्परमार्थतः—

भूता विशुद्ध प्रकृतिको तुम परा—प्रकृष्ट जानो। 'तु' शब्दसे यह सूचित होता है कि जो किसी भी प्रकार पूर्वप्रकृतिसे अभेदके योग्य नहीं है तथा हे महाबाहो, जिस क्षेत्रज्ञलक्षणा जीवभूता एवं जडवर्गके भीतर अनुप्रविष्ट प्रकृतिके द्वारा यह जगत् अर्थात् जडवर्ग धारण किया हुआ है अर्थात् स्वयं विच्छिन्न न होता हुआ स्थिर रखा जाता है, जैसा कि 'इस जीवरूपसे अनुप्रविष्ट होकर मैं नामरूपका विभाग करता हूँ' इस श्रुतिसे कहा गया है। अभिप्राय यह है कि बिना जीवके जड पदार्थको धारण नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

(१) उक्त दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंके विषयमें कार्य जिसका लिंग है ऐसा अनुमान प्रमाण देकर उसके द्वारा अपनी जगद्रचनादिकी कारणता प्रदर्शित करते हैं—

[श्लोकार्थः—सम्पूर्ण भूत इस प्रकृतिरूप कारणवाले हैं—ऐसा जानो। मैं सारे संसारका उत्पत्ति और प्रलयका स्थान हूँ ॥ ६ ॥]

(२) पहले अपर और पररूपसे कही हुई ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूपा दोनों प्रकारकी प्रकृतियाँ जिनकी योनियाँ हैं वे प्रकृतिरूप योनिवाले भूत—उत्पत्तिरूप धर्मवाले समस्त चेतन और अचेतनरूप पदार्थ जननशील हैं—ऐसा जानो। तात्पर्य यह है कि कार्य चिदचिद्ग्रन्थिरूप है, इसलिये उसके कारणके विषयमें भी चिदचिद्ग्रन्थिरूपताका अनुमान करो। इस प्रकार क्योंकि मेरे उपाधिभूत क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जगत्‌के कारण हैं इसलिये उनके द्वारा मैं सर्वज्ञ सर्वेश्वर अनन्तशक्ति मायोपाधिक परमात्मा ही चराचर जगत्‌का—सम्पूर्ण कार्यवर्गका प्रभव—उत्पत्तिका कारण और प्रलय—विनाशका कारण हूँ तथा मायाका आश्रय और विषय होनेके कारण स्वप्नप्रपञ्चके समान इस मायिक संसारका मैं मायावी ही उपादान कारण और द्रष्टा भी हूँ—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ६ ॥

(३) क्योंकि मायासे मैं ही समस्त संसारके उत्पत्ति, स्थिति और नाशका कारण हूँ इसलिये परमार्थतः—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

(१) निखिलदृश्याकारपरिणतमायाधिष्ठानात्सर्वभासकान्मत्तः सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वानुस्यूतात्स्वप्रकाशपरमानन्दचैतन्यघनात्परमार्थसत्यात्स्वप्नदृश इव स्वाप्निकं मायाविन इव मायिकं शुक्तिशकलावच्छिन्नचैतन्यादिवत्तदज्ञानकल्पितं रजतं परतरं परमार्थसत्यमन्यत्किंचिदपि नास्ति हे धनंजय। मयि कल्पितं परमार्थतो न मत्तो भिद्यत इत्यर्थः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (ब्र० सू० २।१।१४) इति न्यायात्। व्यवहारदृष्ट्या तु मयि सद्रूपे स्फुरणरूपे च सर्वमिदं जडजातं प्रोतं ग्रथितं मत्सत्तया सदिव मत्स्फुरणेन च स्फुरदिव व्यवहाराय मायामयाय कल्पते। सर्वस्य चैतन्यग्रथितत्वमात्रे दृष्टान्तः—सूत्रे मणिगणा इवेति। अथवा सूत्रे तैजसात्मनि हिरण्यगर्भे स्वप्नदृशि स्वप्नप्रोता मणिगणा इवेति सर्वांशे दृष्टान्तो व्याख्येयः।

(२) अन्ये तु "परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः" (ब्र० सू० ३।२।३१) इतिसूत्रोक्तस्य पूर्वपक्षस्योत्तरत्वेन श्लोकमिमं व्याचक्षते। मत्तः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः सर्वकारणात्परतरं प्रशस्यतरं सर्वस्य जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणमन्यन्नास्ति हे धनंजय! यस्मादेवं तस्मान्मयि सर्वकारणे

[श्लोकार्थः—अर्जुन! मेरे सिवा कोई और वस्तु परमार्थतः सत्य नहीं है। जिस प्रकार सूतमें दाने पिरोये रहते हैं उसी प्रकार मुझमें यह सारा जगत् ओतप्रोत है ॥ ७ ॥

(१) अर्जुन! जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टासे भिन्न स्वप्नके पदार्थ, मायावीसे भिन्न मायिक वस्तु और शुक्तिखण्डावच्छिन्न चैतन्यसे भिन्न अज्ञानकल्पित रजत परमार्थतः सत्य नहीं हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यके आकारमें परिणत, मायाके अधिष्ठान, सबके प्रकाशक मुझसे अर्थात् सद्रूप और स्फुरणरूपसे सबमें अनुस्यूत, स्वयंप्रकाश, परमानन्दचैतन्यघन परमार्थ सन्मात्रसे भिन्न यह कोई भी पदार्थ परमार्थ-सत्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि हे धनञ्जय! मुझमें कल्पित कोई भी पदार्थ परमार्थतः मुझसे भिन्न नहीं है। यह बात "वाचारम्भण' इत्यादि श्रुति होनेके कारण इस प्रपञ्चकी परमात्मासे अभिन्नता है' इस सूत्र द्वारा कहे हुए न्यायसे भी सिद्ध होती है। व्यवहार दृष्टिसे तो सद्रूप और स्फुरणरूप मुझमें पिरोया हुआ यह सारा जडसमूह मेरी सत्तासे मेरे ही समान मेरे स्फुरणसे स्फुरित होता हुआ मायामय व्यवहारके योग्य होता है। 'सूत्रे मणिगणा इव' यह सम्पूर्ण जगत्‌के चैतन्यमें ग्रथित होनेमात्रमें दृष्टान्त है। अथवा सूत्र अर्थात् स्वप्नके साक्षी तैजसरूप हिरण्यगर्भमें स्वप्नावस्थामें अनुस्यूत मणियोंके समान—इस प्रकार सर्वांशमें इस दृष्टान्तकी व्याख्या की जा सकती है।

(२) कुछ अन्य टीकाकार इस श्लोककी व्याख्या 'परमतः सेतून्मान सम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः'[1] इस सूत्रमें कहे हुए पूर्वपक्षके उत्तररूपसे करते हैं। मुझ सर्वशक्ति और सबके कारणसे परतर—श्रेष्ठतर इस सारे जगत्‌के सृष्टि और संहारका कोई दूसरा स्वतन्त्र कारण नहीं है। हे धनञ्जय! क्योंकि ऐसा है इसलिये सबके कारणभूत मुझमें यह सारा

---

१. इस आत्मासे भी पर कोई वस्तु है, क्योंकि श्रुतिने इसका उल्लेख करते हुए इसकी सेतुसे तुलना की है, चतुष्पाद षोडशकल इत्यादि रूपसे इसका परिमाण बताया है, 'यह आत्मा उस समय अतिक्रान्त हो जाता है' ऐसा कहकर इसके सम्बन्धका निर्देश किया है तथा 'यह जो सूर्यमें हिरण्मय पुरुष है' इत्यादि वाक्यसे इसके आधार आधेयरूप भेदका निर्देश किया है।

सर्वमिदं कार्यजातं प्रोतं ग्रथितं नान्यत्र । सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु ग्रथितत्वमात्रे न तु कारणत्वे । कनके कुण्डलादिवदिति तु योग्यो दृष्टान्तः ॥ ७ ॥

(१) अबादीनां रसादिषु प्रोतत्वप्रतीतेः कथं त्वयि सर्वमिदं प्रोतमिति च न शङ्क्यं रसादिरूपेण ममैव स्थितत्वादित्याह पञ्चभिः—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

(२) रसः पुण्यो मधुरस्तन्मात्ररूपः सर्वासामपां सारः कारणभूतो योऽप्सु सर्वास्वनुगतः सोऽहं हे कौन्तेय ! तद्रूपे मयि सर्वा आपः प्रोता इत्यर्थः । एवं सर्वेषु पर्यायेषु व्याख्यातव्यम् । इयं विभूतिराध्यानायोपदिश्यत इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् । तथा प्रभा प्रकाशः शशिसूर्ययोरहमस्मि । प्रकाशसामान्यरूपे मयि शशिसूर्यौ प्रोतावित्यर्थः । तथा प्रणव ओंकारः सर्ववेदेष्वनुस्यूतोऽहं "तत्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक्" इति श्रुतेः । संतृण्णानि ग्रथितानि । सर्वा वाक्सर्वो वेद इत्यर्थः । शब्दः पुण्यस्तन्मात्ररूपः ख आकाशेऽनुस्यूतोऽहम् । पौरुषं पुरुषत्वसामान्यं नृषु पुरुषेषु यदनुस्यूतं तदहम् । सामान्यरूपे मयि सर्वे विशेषाः प्रोताः श्रौतैर्दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरिति सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

कार्यजात प्रोत—ग्रथित है, किसी अन्यमें नहीं । सूतमें मणियोंके समान—यह दृष्टान्त तो उसके ग्रथित होने मात्रमें है, कारणत्वमें नहीं है । कारणत्वमें तो सुवर्णमें कुण्डलादिके समान' यह दृष्टान्त ही उचित होगा ॥ ७ ॥

(१) 'जलादि तो रसादिमें अनुस्यूत हैं'—ऐसा प्रतीत होता है, इसलिये ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि तुममें ही यह सब संसार किस प्रकार अनुस्यूत है, क्योंकि रसादिके [रूपमें भी मैं ही स्थित हूँ—यह बात 'रसोऽहम्' इत्यादि पाँच श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—कुन्तिनन्दन ! जलोंमें रस, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा, समस्त वेदोंमें प्रणव, आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषत्व मैं हूँ ॥ ८ ॥

(२) हे कुन्तिनन्दन ! समस्त जलोंका सार उनका कारणभूत जो रसतन्मात्ररूप पवित्र एवं मधुर रस सारे जलोंमें अनुस्यूत है वह मैं हूँ । तात्पर्य यह है कि रसरूप मुझमें ही सारे जल पिरोये हुए हैं । उक्त सब पर्यायोंमें इसी प्रकार व्याख्या कर लेनी चाहिये । इस विभूतिका ध्यानके लिये उपदेश किया जाता है, इसलिये इसमें विशेष अभिनिवेश नहीं करना चाहिये । इसी प्रकार चन्द्रमा और सूर्यमें मैं प्रभा यानी प्रकाश हूँ । तात्पर्य यह है कि प्रकाशसामान्यरूप मुझमें चन्द्रमा और सूर्य अनुस्यूत हैं । इसी तरह मैं समस्त वेदोंमें अनुस्यूत प्रणव—ओंकार हूँ; जैसा कि 'जिस प्रकार सारे पत्ते नसोंसे व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार समस्त वाणी ओंकार से व्याप्त है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । संतृण्णानि-ग्रथित हैं समस्त वाक् अर्थात् सम्पूर्ण वेद । ख—आकाशमें अनुस्यूत शब्द—पवित्र शब्द-तन्मात्ररूप भी मैं हूँ तथा नरों यानी पुरुषोंमें अनुस्यूत जो पौरुष—पुरुषत्वसामान्य है वह भी मैं हूँ । श्रुतिके कहे हुए दुन्दुभि आदि दृष्टान्तोंके अनुसार सामान्यरूप मुझमें ही समस्त विशेष अनुस्यूत हैं—ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

(१) पुण्यः सुरभिरविकृतो गन्धः सर्वपृथिवीसामान्यरूपस्तन्मात्राख्यः पृथिव्यामनुस्यूतोऽहम् । चकारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां हि स्वभावत एव पुण्यत्वमविकृतत्वं प्राणिनामधर्मविशेषात्तु तेषामपुण्यत्वं न तु स्वभावत इति द्रष्टव्यम् । तथा विभावसावग्नौ यत्तेजः सर्वदहनप्रकाशनसामर्थ्यरूपमुष्णस्पर्शसहितं सितभास्वरं रूपं पुण्यं तदहमस्मि । चकाराद्यो वायौ पुण्य उष्णस्पर्शातुराणामाप्यायकः शीतस्पर्शः सोऽप्यहमिति द्रष्टव्यम् ।

(२) सर्वभूतेषु सर्वेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमस्मि, तद्रूपे मयि सर्वे प्राणिनः प्रोता इत्यर्थः । तपस्विषु नित्यं तपोयुक्तेषु वानप्रस्थादिषु यत्तपः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वंद्वसहनसामर्थ्यरूपं तदहमस्मि, तद्रूपे मयि तपस्विनः प्रोता विशेषणाभावे विशिष्टाभावात् । तपश्चेति चकारेण चित्तैकाग्र्यमान्तरं जिह्वोपस्थादिनिग्रहलक्षणं बाह्यं च सर्वं तपः समुच्चीयते ॥ ९ ॥

(३) सर्वाणि भूतानि स्वस्वबीजेषु प्रोतानि न तु त्वयीति चेन्नेत्याह—

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

[श्लोकार्थः—पृथ्वीमें जो पवित्र गन्ध है वह मैं हूँ, अग्निमें तेज मैं हूँ, समस्त प्राणियोंमें जीवन मैं हूँ तथा तपस्वियों में तप मैं हूँ ॥ ९ ॥]

(१) पुण्य—सुरभि अर्थात् विकारशून्य गन्ध, जो समस्त पृथ्वीमें सामान्यरूपसे स्थित तन्मात्र संज्ञावाला और सारी पृथ्वीमें व्याप्त है, मैं हूँ । 'च' शब्द रसादिके साथ भी पुण्यत्वका समुच्चय करनेके लिये है । शब्द स्पर्श रूप रस गन्धमें स्वभावतः तो पवित्रता और विकारहीनता ही है, प्राणियोंके अधर्म विशेषके कारण ही उनमें अपवित्रता आ जाती है, वह स्वभावतः नहीं है—ऐसा जानना चाहिये । तथा विभावसु-अग्निमें जो सबको जलाने और प्रकाशित करनेका सामर्थ्यरूप, उष्णस्पर्शसहित, शुक्ल और प्रकाशमय पवित्र तेज है वह मैं हूँ । चकारसे यह समझना चाहिए कि वायुमें जो उष्णस्पर्शसे पीडित पुरुषोंको शान्ति देनेवाला पवित्र शीतल स्पर्श है वह भी मैं ही हूँ ।

(२) समस्त भूत अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवन—प्राणधारण अर्थात् आयु मैं हूँ । तात्पर्य यह है कि जीवनरूप मुझमें समस्त प्राणी अनुस्यूत हैं । तपस्वियों—सर्वदा तपसे युक्त रहनेवाले वानप्रस्थ आदिमें जो शीत-उष्ण एवं क्षुधा-पिपासा आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेका सामर्थ्यरूप तप है वह भी मैं हूँ । तपरूप मुझमें ही तपस्वी लोग अनुस्यूत हैं, क्योंकि विशेषणके बिना विशिष्ट नहीं रह सकता । 'तपश्च' इसमें 'च' शब्दसे चित्तकी एकाग्रतारूप आन्तर और जिह्वा-उपस्थादि इन्द्रियोंका निग्रहरूप बाह्य सभी प्रकारके तपका समुच्चय किया जाता है ॥ ९ ॥

(३) समस्त भूत तो अपने-अपने बीजोंमें अनुस्यूत हैं, तुममें अनुस्यूत नहीं हैं—ऐसा यदि कहो तो कहते हैं 'नहीं'—

[श्लोकार्थः—पार्थ ! तुम मुझे समस्त भूतोंका सनातन बीज जानो । मैं बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ और तेजस्वियोंका तेज हूँ ॥ १० ॥]

(१) यत्सर्वभूतानां स्थावरजङ्गमानामेकं बीजं कारणं सनातनं नित्यं बीजान्तरानपेक्षं न तु प्रतिव्यक्तिभिन्नमनित्यं वा तदव्याकृताख्यं सर्वबीजं मामेव विद्धि न तु मद्भिन्नं हे पार्थ । अतो युक्तमेकस्मिन्नेव मयि सर्वबीजे प्रोतत्वं सर्वेषामित्यर्थः । किं च बुद्धिस्तत्त्वातत्त्वविवेकसामर्थ्यं तादृशबुद्धिमतामहमस्मि, बुद्धिरूपे मयि बुद्धिमन्तः प्रोता विशेषणाभावे विशिष्टाभावस्योक्तत्वात् । तथा तेजः प्रागल्भ्यं पराभिभवसामर्थ्यं परैरनभिभाव्यत्वं तेजस्विनां तथाविधप्रागल्भ्ययुक्तानां यत्तदहमस्मि, तेजोरूपे मयि तेजस्विनः प्रोता इत्यर्थः ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

(२) अप्राप्तो विषयः प्राप्तिकारणाभावेऽपि प्राप्यतामित्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः कामः, प्राप्तो विषयः क्षयकारणे सत्यपि न क्षीयतामित्येवमाकारश्चित्तवृत्तिविशेषो रञ्जनात्मा रागस्ताभ्यां विशेषेण वर्जितं सर्वथा तदकारणं रजस्तमोविरहितं यत्स्वधर्मानुष्ठानाय देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं सात्त्विकं बलं बलवतां तादृशसात्त्विकबलयुक्तानां संसारपराङ्मुखानां तद्रूपे मयि बलवन्तः प्रोता इत्यर्थः । चशब्दस्तुशब्दार्थो भिन्नक्रमः, कामरागविवर्जितमेव बलं मद्रूपत्वेन ध्येयं न तु संसारिणां कामरागकारणं बलमित्यर्थः ।

(१) हे पार्थ ! स्थावर-जंगम समस्त भूतोंका जो एक सनातन—नित्य अर्थात् अन्य बीजोंकी अपेक्षासे रहित बीज—कारण है, प्रत्येक व्यक्तिका भिन्न-भिन्न अथवा अनित्य बीज नहीं, वह अव्याकृत संज्ञक बीज तुम मुझे ही जानो, मुझसे भिन्न मत समझो । अतः सबके एकमात्र मुझमें सबका अनुस्यूत होना उचित ही है—ऐसा इसका तात्पर्य है । तथा बुद्धि यानी सदसद्विवेकका सामर्थ्य भी इस प्रकारकी बुद्धिवालोंका मैं ही हूँ । अर्थात् बुद्धिरूप मुझमें ही सारे बुद्धिमान् अनुस्यूत हैं, क्योंकि विशेषणके अभावमें विशिष्ट का अभाव पहले बताया जा चुका है । इसी प्रकार तेज—प्रगल्भता—दूसरोंका पराभव करनेका सामर्थ्य तथा स्वयं उनसे पराभूत न होना यह जो तेजस्वियों अर्थात् इस प्रकारकी प्रगल्भतावालोंका गुण है वह मैं हूँ । तात्पर्य यह है कि तेजरूप मुझमें समस्त तेजस्वी अनुस्यूत हैं ॥ १० ॥

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका काम और रागसे रहित बल हूँ तथा प्राणियोंमें जो धर्मसे अविरुद्ध काम है वह मैं हूँ ॥ ११ ॥]

(२) 'अप्राप्त विषय, प्राप्तिके कारणका अभाव होनेपर भी, प्राप्त हो जाय' ऐसी जो चित्तकी वृत्तिविशेष है वह काम है । तथा 'प्राप्त विषय क्षयका कारण रहते हुए भी क्षीण न हो' ऐसी चित्तवृत्तिविशेष रञ्जनात्मक होनेके कारण राग है । उन दोनोंसे विशेषरूपसे रहित अर्थात् उनके आकारवाले रजोगुण एवं तमोगुणसे सर्वथा शून्य जो स्वधर्मका आचरण करनेके लिये देह और इन्द्रिय आदि को रोकनेका सामर्थ्यरूप सात्त्विक बल बलवानों अर्थात् उस प्रकारके सामर्थ्यसे युक्त संसारविमुख पुरुषोंमें पाया जाता है वह मैं हूँ । तात्पर्य यह है कि उस प्रकारके बलरूप मुझमें बलवान् अनुस्यूत हैं । यहाँ 'च' शब्द 'तु' शब्दके अर्थमें है तथा इसका क्रम भी दूसरा है । तात्पर्य यह है कि काम और रागसे रहित बलका ही मेरे स्वरूपसे ध्यान करना चाहिये, संसारियोंका जो काम और रागका कारणरूप बल है, उसका नहीं ।

(१) क्रोधार्थो वा रागशब्दो व्याख्येयः । धर्मो धर्मशास्त्रं तेनाविरुद्धोऽप्रतिषिद्धो धर्मानुकूलो वा यो भूतेषु प्राणिषु कामः शास्त्रानुमतजायापुत्रवित्तादिविषयोऽभिलाषः सोऽहमस्मि हे भरतर्षभ । शास्त्राविरुद्धकामभूते मयि तथाविधकामयुक्तानां भूतानां प्रोतत्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

(२) किमेवं परिगणनेन—

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

(३) ये चान्येऽपि भावाश्चित्तपरिणामाः सात्त्विकाः शमदमादयः । ये च राजसा हर्षदर्पादयः । ये च तामसाः शोकमोहादयः प्राणिनामविद्याकर्मादिवशाज्जायन्ते तान्मत्त एव जायमानान् इति अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभव इत्यादयुक्तप्रकारेण विद्धि समस्तानेव । अथवा सात्त्विका राजसास्तामसाश्च भावाः सर्वेऽपि जडवर्गा व्याख्येया विशेषहेत्वभावात् । एवकारश्च समस्तावधारणार्थः । एवमपि न त्वहं तेषु, मत्तो जातत्वेऽपि सद्वशस्तद्विकाररूपितो रज्जुखण्ड इव कल्पितसर्पविकाररूपितोऽहं न भवामि संसारीव । ते तु भावा मयि रज्ज्वामिव सर्पादयः कल्पिता मदधीनसत्तास्फूर्तिका मदधीना इत्यर्थः ॥ १२ ॥

(४) तव परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्ये नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वे च सति कुतो जगतस्त्वदात्मकस्य संसारित्वम् । एवंविधमत्स्वरूपापरिज्ञानादिति चेत्, तदेव कुत इत्यत आह—

(१) अथवा 'राग' शब्दकी व्याख्या क्रोधके अर्थमें करनी चाहिये । धर्म अर्थात् धर्मशास्त्र उससे अविरुद्ध—अप्रतिषिद्ध अथवा धर्मके अनुकूल जो प्राणियोंमें काम यानी शास्त्रानुमोदित स्त्री-पुत्र एवं धनविषयक अभिलाषा है वह मैं हूँ । तात्पर्य यह है कि हे भरतश्रेष्ठ ! शास्त्रसे अविरुद्ध कामरूप मुझमें उस प्रकारके कामयुक्त प्राणियोंको अनुस्यूत समझना चाहिये ॥ ११ ॥

(२) इस प्रकार गणना करनेका क्या प्रयोजन है ?—

[श्लोकार्थः—जो भी सात्त्विक भाव हैं और जो राजस एवं तामस भाव हैं उन्हें तुम मुझ हीसे जानो । मैं तो उनमें नहीं हूँ वे ही मुझमें हैं ॥ १२ ॥

(३) इनके सिवा जो दूसरे भी शम-दमादि सात्त्विक भाव यानी चित्तके परिणाम हैं और जो हर्ष एवं दर्पादि राजस तथा शोक-मोहादि तामस भाव प्राणियोंको अविद्या एवं कर्मादिके कारण उत्पन्न होते हैं उन सभी को तुम 'मैं' सारे जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ । इस पूर्वोक्त प्रकारसे मुझसे ही उत्पन्न हुए जानो । अथवा सात्त्विक, राजस एवं तामस भावोंकी व्याख्या सम्पूर्ण जडवर्ग ही करनी चाहिये, क्योंकि इनका शम-दमादि अर्थ करनेका कोई विशेष कारण नहीं है । 'एव' शब्द भी इन सबका एकसाथ ही निश्चय करनेके लिये है ! इस प्रकार भी मैं उनमें नहीं हूँ, अर्थात् मुझसे उत्पन्न होने पर भी संसारियोंके समान, रज्जुखण्ड जैसे अपनेमें कल्पित सर्परूप विकारके आकार का नहीं होता वैसे ही मैं उनके अधीन अर्थात् उनके विकारसे लिप्त नहीं होता, किन्तु रज्जुमें कल्पित सर्पादिके समान वे भाव ही मेरे अधीन अपनी सत्ता और स्फूर्तिवाले हैं, अर्थात् वे ही मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

(४) आप परमेश्वरकी स्वतन्त्रता तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूपता होनेपर भी आपही के स्वरूपभूत जगत्को किस प्रकार संसारीपनकी प्राप्ति होती है ? यदि कहो कि

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

(१) एभिः प्रागुक्तैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोगुणविकारैर्भावैः सर्वैरपि भवनधर्मभिः सर्वमिदं जगत्प्राणिजातं मोहितं विवेकायोग्यत्वमापादितं सदेभ्यो गुणमयेभ्यो भावेभ्यः परमेषां कल्पनाधिष्ठानमत्यन्तविलक्षणमव्ययं सर्वविक्रियाशून्यमप्रपञ्चमानन्दघनमात्मप्रकाशमव्यवहितमपि मां नाभिजानाति । ततश्च स्वरूपापरिचयान्मुत्संसरतीवेत्यहो दौर्भाग्यमविवेकिजनस्येत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान् ॥ १३ ॥

(२) ननु यथोक्तानादिसिद्धमायागुणत्रयबद्धस्य जगतः स्वातन्त्र्याभावेन तत्परिवर्जनासामर्थ्यान्न कदाचिदपि मायातिक्रमः स्यादतस्तुविवेकासामर्थ्यहेतोः सदातनत्वादित्याशङ्क्य भगवदेकशरणतया तत्त्वज्ञानद्वारेण मायातिक्रमः संभवतीत्याह—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

(३) दैवी, "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे० ३।११) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादिते स्वतोद्योतनवति देवे स्वप्रकाशचैतन्यानन्दे निर्विभागे तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पिता "आश्रयत्व-

---

इस प्रकारकी भगवद्रूपताका ज्ञान न होनेसे ऐसा होता है तो ऐसा भी क्यों होता है ? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—इन त्रिगुणमय भावोंसे मोहित हुआ यह सारा जगत् इनसे भिन्न इनके अधिष्ठानभूत और अविनाशी मुझको नहीं जानता ॥ १३ ॥]

(१) इन पहले कहे हुए तीन प्रकारके गुणोंवाले अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुणके विकाररूप सम्पूर्ण भावों—उत्पत्ति-धर्मवाले पदार्थोंसे यह सारा जगत्—प्राणि-समुदाय मोहित अर्थात् विवेकके अयोग्यताको प्राप्त करा दिया जानेके कारण इन गुणमय भावोंसे भिन्न इनकी कल्पनाके अधिष्ठान, अत्यन्त विलक्षण और अव्यय—सब प्रकारके विकारसे रहित—सर्वप्रपञ्चातीत आनन्दघन स्वयंप्रकाश और व्यवधानशून्य मुझको नहीं जानता। इसीसे स्वरूपका परिचय न होनेके कारण यह जन्म-मरणको प्राप्त होता-सा जान पड़ता है। अहो अविवेकी पुरुषोंका कैसा दुर्भाग्य है ?—इस प्रकार भगवान् उनके प्रति करुणा प्रदर्शित करते हैं ॥ १३ ॥

(२) ऊपर कहे हुए अनादिसिद्ध मायाके तीन गुणोंसे बँधे हुये जगत्की स्वतन्त्रताका अभाव होनेसे उन गुणोंके त्यागका समर्थ्य हुए बिना कभी भी मायाका अतिक्रमण नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थितिमें वस्तुओंके विवेकके असामर्थ्यका कारण निरन्तर बना रहता है—ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके यह बताते हैं कि एकमात्र भगवान्की शरण लेकर तत्त्वज्ञानके द्वारा मायासे पार होना सम्भव है—

[श्लोकार्थः—मेरी यह त्रिगुणात्मिका दैवी माया कठिनतासे पार की जाने योग्य है। जो मुझको ही प्राप्त होते हैं वे ही इस मायाको पार कर सकते हैं ॥ १४ ॥

(३) दैवी—'एक देव समस्त भूतोंमें छिपा हुआ है' इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित स्वयंद्योतनशील देवमें, जो स्वयंप्रकाश चैतन्य और आनन्दस्वरूप तथा विभागहीन है, उसी को आश्रय और विषयरूपसे बनाये हुये कल्पित है, जैसा कि 'एक विभागहीन

विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला" (सं० शारी० १।३।१९) इत्युक्तेः । एषा साक्षिप्रत्यक्षत्वेनापलापानर्हा । हिशब्दाद्भ्रमोपादानत्वादर्थापत्तिसिद्धा च । गुणमयी सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मिका । त्रिगुणरज्जुरिवातिदृढत्वेन बन्धनहेतुः, मम मायाविनः परमेश्वरस्य सर्वजगत्कारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वभूता स्वाधीनत्वेन जगत्सृष्ट्यादिनिर्वाहिका, माया तत्त्वप्रतिभासप्रतिबन्धेनातत्त्वप्रतिभासहेतुरावरणविक्षेपशक्तिद्वयवत्यविद्या सर्वप्रपञ्चप्रकृतिः "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" (श्वे० ३-४।१९) इति श्रुतेः ।

(१) अत्रैवं प्रक्रिया—जीवेश्वरजगद्विभागशून्ये शुद्धे चैतन्येऽध्यस्ताऽनादिरविद्या सत्त्वप्राधान्येन स्वच्छा दर्पण इव मुखभासं चिदाभासमागृह्णाति । ततश्च बिम्बस्थानीयः परमेश्वर उपाधिदोषानास्कन्दितः प्रतिबिम्बस्थानीयश्च जीव उपाधिदोषास्कन्दितः । ईश्वराच्च जीवभोग्याऽऽकाशादिक्रमेण शरीरेन्द्रियसंघातस्तद्भोग्यश्च कृत्स्नः प्रपञ्चो जायत इति कल्पना भवति । बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखवच्चेशजीवानुगतं मायोपाधि चैतन्यं साक्षीति कल्प्यते । तेनैव च स्वाध्यस्ता माया तत्कार्यं च कृत्स्नं प्रकाश्यते । अतः साक्ष्यभिप्रायेण दैवीति बिम्बेश्वराभिप्रायेण तु ममेति भगवतोक्तम् । यद्यप्यविद्याप्रतिबिम्ब एक एव जीवस्तथाऽप्यविद्यागतनानान्तःकरणसंस्काराणां भिन्नत्वात्तद्भेदेनान्तःकरणोपाधेस्तस्यात्र भेदव्यपदेशो 'मामेव ये प्रपद्यन्ते, दुष्कृतिनो मूढा न प्रपद्यन्ते, चतुर्विधा भजन्ते माम्', इत्यादिः । श्रुतौ च 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (बृ० उ० १।४।१०) इत्यादिः ।

विशुद्ध चिति ही आश्रयत्व और विषयत्व की भागिनी है' इस उक्तिसे प्रमाणित होता है। यह माया साक्षिप्रत्यक्ष होनेके कारण त्यागके योग्य नहीं है। मूलमें 'हि' शब्द होनेसे जो भ्रमका उपादान कारण होनेसे अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध है, गुणमयी—सत्त्व, रज और तमरूप तीन गुणोंवाली तथा तीन लड़ोंवाली रस्सीके समान अत्यन्त दृढ होनेके कारण बन्धनका हेतु, सम्पूर्ण जगत्के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्ति मुझ मायावी परमेश्वरकी अपनी वस्तु, स्वाधीनतासे जगत्की सृष्टि आदि का निर्वाह करनेवाली माया—तत्त्वज्ञानका प्रतिबन्ध करके अतत्त्वज्ञानका हेतु बननेवाली आवरण और विक्षेप इन दो शक्तियोंवाली अविद्या सारे प्रपञ्चका कारण है, जैसा कि 'माया को तो प्रकृति जानो और मायावीको महेश्वर' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

(१) यहाँ ऐसी प्रक्रिया है—जीव, ईश्वर और जगत्के विभागसे शून्य शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त अनादि अविद्या सत्त्वगुणकी प्रधानता होनेसे, स्वच्छ दर्पण जैसे मुखका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, वैसे ही, चैतन्यका आभास ग्रहण करती है। उसीसे 'उपाधिके दोषसे अलिप्त बिम्बस्थानीय परमेश्वर और उपाधिके दोषसे लिप्त प्रतिबिम्बस्थानीय जीव होते हैं तथा ईश्वरसे जीवके भोगके लिये आकाशादि क्रमसे शरीर और इन्द्रियोंका संघात और उसका भोग्य सारा प्रपञ्च उत्पन्न होता है—ऐसी कल्पना होती है। बिम्ब और प्रतिबिम्बभूत मुखमें जैसे मुख अनुगत है उसी प्रकार ईश्वर और जीवमें अनुगत मायोपाधिक चैतन्य उनका साक्षी माना जाता है। उसीके द्वारा उसमें कल्पित माया और उसका सारा कार्य प्रकाशित होता है। इसीसे भगवान्ने साक्षीके अभिप्रायसे उसे 'दैवी' और बिम्बभूत ईश्वरके अभिप्रायसे 'मेरी' कहा है। यद्यपि अविद्यामें प्रतिबिम्बित जीव तो एक ही है तथापि अविद्यान्तर्गत अन्तःकरणोंके संस्कार भिन्न-भिन्न होनेसे उनके भेदसे अन्तःकरणोपाधिक उस जीवका भी यहाँ (इस ग्रन्थमें) 'जो मेरी ही शरणमें आजाते हैं', 'दुष्कर्मी और मूढ पुरुष मेरी शरणमें नहीं आते', 'मुझे चार प्रकारके भक्त भजते हैं' इत्यादि प्रकारसे

(१) अन्तःकरणोपाधिभेदापर्यालोचने तु जीवत्वप्रयोजकोपाधेरेकत्वादेकत्वेनैवात्र व्यपदेशः 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु', 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि', 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्यादिः । श्रुतौ च 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्', (बृ० उ० १।४।१०) । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६।११), 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य', (छा० उ० ६।३।२)—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥' (श्वे० उ० ५।९)

इत्यादिः । यद्यपि दर्पणगतश्चैत्रप्रतिबिम्बः स्वं परं च न जानात्यचेतनांशस्यैव तत्र प्रतिबिम्बितत्वात्तथाऽपि चित्प्रतिबिम्बश्चित्त्वादेव स्वं परं च जानाति, प्रतिबिम्बपक्षे बिम्बचैतन्य एवोपाधिस्थत्वमात्रस्य कल्पितत्वात्, आभासपक्षे तस्यानिर्वचनीयत्वेऽपि जडविलक्षणत्वात् । स च यावत्स्वबिम्बैक्यमात्मनो न जानाति तावज्जलसूर्य इव जलगतकम्पादिकमुपाधिगतं विकारसहस्रमनुभवति । तदेतदाह—दुरत्ययेति । बिम्बभूतेश्वरैक्यसाक्षात्कारमन्तरेणात्येतुं तरितुमशक्येति दुरत्यया । अत एव जीवोऽन्तःकरणावच्छिन्नत्वात्तत्संबद्धमेवार्थादिद्वारा भासयन्किञ्चिज्ञो भवति । ततश्च जानामि करोमि भुञ्जे चेत्यनर्थशतभाजनं भवति । स चेद्बिम्बभूतं भगवन्तमनन्तशक्तिं मायानियन्तारं सर्वविदं सर्वफलदातारमनिशमानन्दघनमूर्तिमनेकानवतारान्भक्तानुग्रहाय विदधतमाराधयति परमगुरुमशेषकर्मे-

भेद कहा गया है। श्रुतिमें भी 'उसे देवताओंमेंसे जिस-जिसने जाना है वही वह हो गया है, इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमें भी हुआ है' इत्यादि प्रकारसे कहा गया है।

(१) किन्तु जब अन्तःकरणरूप उपाधिके भेद का विचार नहीं किया जाता तो जीवत्वकी हेतुभूत उपाधि एक ही होनेके कारण इस ग्रन्थमें 'समस्त क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे जानो', 'प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही अनादि समझो', 'मेरा ही अंश जीवलोकमें सनातन जीवस्वरूप है' इत्यादि प्रकारसे उसका एक रूपसे ही उल्लेख किया है। श्रुतिमें भी कहा है—'पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपनेहीको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इसलिये वह सब कुछ हो गया', 'एक देव समस्त भूतोंमें छिपा हुआ है', 'इस जीवात्मारूपसे उसने शरीरमें प्रवेश किया', 'सौ भागोंमें बाँटे हुए बालके अग्रभागका जो एक भाग है वैसा जीव है, वही अनन्त हो सकता है' इत्यादि। यद्यपि दर्पणमें पड़ा हुआ चैत्रका प्रतिबिम्ब अपने या दूसरे किसी को भी नहीं जानता क्योंकि उसमें केवल अचेतन अंश ही प्रतिफलित होता है, तथापि चेतनका प्रतिबिम्ब चिद्रूप होनेके कारण यह अपनेको और दूसरेको भी जानता है, क्योंकि प्रतिबिम्बवादकी दृष्टिसे तो बिम्बचैतन्य हीं की केवल उपाधिमें स्थितरूपसे कल्पनाकी गयी है। आभासवादकी दृष्टिसे उसकी अनिर्वचनीयता माननेपर भी जड़से विलक्षण होनेके कारण वह जबतक आत्माका अपने बिम्बसे एकत्व नहीं जानता तभीतक जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान जलगत कम्पादिकी तरह उपाधिगत सहस्रों विकारोंका अनुभव करता है। इसीसे कहा है—'दुरत्यया' अर्थात् बिम्बभूत ईश्वरके साथ एकत्वका साक्षात्कार किये बिना यह अत्यय यानी पार करनेके लिए अशक्य है। इसीसे जीव अन्तःकरणसे अवच्छिन्न होनेके कारण उससे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंको ही नेत्रादिके द्वारा भासित करते हुए अल्पज्ञ हो जाता है। इससे वह जानताहूँ, करता हूँ, भोगता हूँ इत्यादि सैकड़ों अनर्थोंका भागी होता है। वह यदि अपने बिम्बभूत अनन्तशक्ति, मायाके नियन्ता, सर्वज्ञ, समस्त फलोंके देनेवाले, आनन्दघनस्वरूप, भक्तोंपर कृपा

समर्पणेन तदा बिम्बसमर्पितस्य प्रतिबिम्बे प्रतिफलनात्सर्वानपि पुरुषार्थानासादयति । एतदेवाभिप्रेत्य प्रह्लादेनोक्तम्—

'नैवाऽऽत्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चाऽऽत्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥' इति

दर्पणप्रतिबिम्बितस्य मुखस्य तिलकादिश्रीरपेक्षिता चेद्बिम्बभूते मुखे समर्पणीया । सा स्वयमेव तत्र प्रतिफलति नान्यः कश्चित्तत्प्राप्तावुपायोऽस्ति यथा तथा बिम्बभूतेश्वरे समर्पितमेव तत्प्रतिबिम्बभूतो जीवो लभते नान्यः कश्चित्तस्य पुरुषार्थलाभेऽस्युपाय इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरर्थः ।

(१) तस्य यदा भगवन्तमनन्तमनवरतमाराधयतोऽन्तःकरणं ज्ञानप्रतिबन्धकपापेन रहितं ज्ञानानुकूलपुण्येन चोपचितं भवति तदाऽविनिर्मले मुकुरमण्डल इव मुखमतिस्वच्छेऽन्तःकरणे सर्वकर्मत्यागशमदमादिपूर्वकगुरूपसदनवेदान्तवाक्यश्रवणमननिदिध्यासनैः संस्कृते तत्त्वमसीतिगुरूपदिष्टवेदान्तवाक्यकरणिकाऽहं ब्रह्मास्मीत्यनात्माकारशून्या निरुपाधिचैतन्याकारा साक्षात्कारात्मिका वृत्तिरुदेति । तस्यां च प्रतिफलितं चैतन्यं सद्य एव स्वविषयाश्रयमविद्यामुन्मूलयति दीप इव तमः । ततस्तस्या नाशात्तया वृत्त्या सहाखिलस्य कार्यप्रपञ्चस्य नाशः, उपादाननाशादुपादेयनाशस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वात् । तदेतदाह भगवान्—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति ।

करनेके लिये अनेकों अवतार धारण करनेवाले, परमगुरु श्रीभगवान्की अपने सम्पूर्ण कर्मोंके समर्पणद्वारा अहर्निश आराधना करता है तो बिम्बमें समर्पित वस्तुके प्रतिबिम्बमें प्रतिफलित होनेके कारण सभी पुरुषार्थोंको प्राप्त कर लेता है। इसी अभिप्रायसे प्रह्लादजीने कहा है—'अपने स्वरूपलाभसे पूर्ण वह करुणामय ईश्वर अपने लिये अविद्वान् पुरुषसे किसी प्रकारके मानकी इच्छा नहीं करता। जीव भगवान्के प्रति जो जो मान प्रदर्शित करता है वह मुखपर की हुई तिलक आदिकी शोभा जैसे उसके प्रतिबिम्बको प्राप्त होती है। उसी प्रकार अपनेही लिये होता है।' इस दृष्टान्तका तात्पर्य यह है कि यदि दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखको कोई तिलक आदिकी शोभा समर्पित करनेकी आवश्यकता हो तो उसे बिम्बभूत मुखमें ही समर्पित करनी चाहिये। तब वह स्वयं ही उसमें प्रतिबिम्बित हो जायगी; उसे उसकी प्राप्ति करानेका कोई और उपाय नहीं है। इसी प्रकार बिम्बभूत ईश्वरको समर्पितकी हुई वस्तु उसके प्रतिबिम्बभूत जीवको मिल जाती है। उसे पुरुषार्थकी प्राप्ति होनेका इसके सिवा कोई और उपाय नहीं है।

(१) जब भगवान् अनन्तकी निरन्तर आराधना करनेवाले उस जीवका अन्तःकरण ज्ञानके प्रतिबन्धरूप पापसे रहित और ज्ञानानुकूल पुण्यसे युक्त होता है तब सम्पूर्ण कर्मोंके त्याग तथा शम-दमादिपूर्वक गुरूपसत्ति और वेदान्तवाक्योंके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनसे शुद्ध हुए उसके अत्यन्त स्वच्छ अन्तःकरणमें, अत्यन्त निर्मल दर्पणमें जैसे मुख प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही, 'तत्त्वमसि' इस गुरुके द्वारा उपदेश किये हुए वेदान्तवाक्यसे होनेवाली 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनात्माकारसे शून्य एवं निरुपाधिक चैतन्यका साक्षात्कार करानेवाली वृत्ति उदित होती है। तब दीपक जैसे अन्धकारका नाश कर देता है उसी प्रकार उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य उसी समय अपनेको विषय करनेवाली और अपने ही आश्रित अविद्याका उच्छेद कर देता है। फिर तो उस अविद्याका नाश होनेसे उसकी वृत्तिके सहित सम्पूर्ण कार्यप्रपञ्चका ही नाश हो जाता है, क्योंकि उपादानके नाशसे उपादेयका नाश होना तो सभी सिद्धान्तोंसे सिद्ध है। इसीसे भगवान् ऐसा कहते हैं—'जो मुझको ही प्राप्त होते हैं वे इस मायाको पार कर लेते हैं।' जिस प्रकार

'आत्मेत्येवोपासीत' (बृ० उ० १।४।७), 'तदात्मानमेवावेत्' (बृ० उ० १।४।१०), 'तमेव धीरो विज्ञाय' (बृ० उ० ४।४।२३), 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (श्वे० उ० ३।१५) इत्यादिश्रुतिष्विवेहापि मामेवेत्येवकारोऽप्यनुपरक्तताप्रतिपत्त्यर्थः । मामेव सर्वोपाधिविरहितं चिदानन्दसदात्मानमखण्डं ये प्रपद्यन्ते वेदान्तवाक्यजन्यया निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपया निर्वचनानर्हशुद्धचिदाकारत्वधर्मविशिष्टया सर्वसुकृतफलभूतया निदिध्यासनपरिपाकप्रसूतया चेतोवृत्त्या सर्वाज्ञानतत्कार्यविरोधिन्या विषयीकुर्वन्ति ते ये केचिदेतां दुरतिक्रमणीयामपि मायामखिलानर्थजन्मभुवमनायासेनैव तरन्ति अतिक्रामन्ति 'तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' (बृ० उ० १।४।१०) इति श्रुतेः । सर्वोपाधिनिवृत्त्या सच्चिदानन्दघनरूपेणैव तिष्ठन्तीत्यर्थः । बहुवचनप्रयोगो देहेन्द्रियादिसंघातभेदनिबन्धनात्मभेदभ्रान्त्यनुवादार्थः ।

(१) प्रपश्यन्तीति वक्तव्ये प्रपद्यन्त इत्युक्तेर्यं सदेकशरणाः सन्तो मामेव भगवन्तं वासुदेवमीदृशमनन्तसौन्दर्यसारसर्वस्वमखिलकलाकलापनिलयमभिनवपङ्कजशोभाधिक्करणकमलयुगलप्रभमनवरतवेणुवादननिरतवृन्दावनक्रीडासक्तमानसहेलोद्धृतगोवर्धनाख्यमहीधरं गोपालं निपूदितशिशुपालकंसादिदुष्टसंघमभिनवजलदशोभासर्वस्वहरणचरणं परमानन्दघनमयमूर्तिमतिवैरिब्रपञ्चमन-

'आत्मेत्येवोपासीत'[1], 'तदात्मानमेवावेत्'[2], 'तमेव धीरो विज्ञाय'[3] तथा 'तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति'[4] इत्यादि श्रुतियोंमें है उसी प्रकार यहाँ भी 'मामेव' इसमें एवकार दूसरोंके सम्बन्धका अभाव दिखानेके लिये है । जो सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित सच्चिदानन्दस्वरूप अखण्ड आत्मा मुझको ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् वेदान्त-वाक्योंसे उत्पन्न होनेवाली, निर्विकल्पक साक्षात्काररूपा, जिसका निरूपण नहीं हो सकता ऐसे शुद्ध चेतनकी आकारतारूप धर्मसे विशिष्ट, सम्पूर्ण सुकृतोंकी फलभूता, निदिध्यासनके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाली एवं सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्यकी विरोधिनी चित्तवृत्तिसे मुझेही विषय करते हैं, वे जो कोई भी हों इस कठिनतासे पार होने योग्य तथा सम्पूर्ण अनर्थोंकी जन्मभूमि मायाको पार करनेमें कठिन होनेपर भी, सुगमतासे ही पार कर लेते हैं । इस विषयमें 'उसका पराभव करनेमें देवता भी समर्थ नहीं होते, क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है' यह श्रुति प्रमाण है । तात्पर्य यह है कि समस्त उपाधिकी निवृत्ति हो जानेसे वे सच्चिदानन्दघनरूपसे ही स्थित हो जाते हैं । यहाँ बहुवचनका प्रयोग देह और इन्द्रियों आदिके संघातोंके भेदसे होनेवाले जीवोंके भेद की भ्रान्तिका अनुवाद करनेके लिये है ।

(१) यहाँ 'प्रपश्यन्ति' ऐसा कहना चाहिये था, उसकी जगह जो 'प्रपद्यन्ते' ऐसा कहा गया है इससे भगवान्‌का यह अभिप्राय है कि जो एकमात्र मेरी ही शरण लेकर ऐसे अनन्त सौन्दर्यसारसर्वस्वभूत, निखिलकलानिधि, नवीन कमलोंकी शोभासे भी अधिक चरणयुगलकी आभावाले निरन्तर वंशीवादनमें तत्पर रहकर वृन्दावनकी क्रीडामें आसक्त-चित्त रहनेवाले, क्रीडा-कौतुकसे ही गिरिराज गोवर्धनको उठा लेनेवाले, शिशुपाल एवं कंसादि दुष्टोंके समूहका संहार करनेवाले, नूतन जलधरकी शोभाके सर्वस्वको हरते हुए

१. आत्मा है—इसी प्रकार परमात्माकी उपासना करे ।
२. उसने अपनेहीको जाना ।
३. धीर पुरुष उसीको जानकर ।
४. उसीको जानकर मृत्युको पार कर लेता है ।

वरतमनुचिन्तयन्तो दिवसानतिवाहयन्ति ते मत्प्रेममहानन्दसमुद्रमग्नमनस्तया समस्तमायागुणविकारैर्नाभिभूयन्ते । किं तु मद्विलासविनोदकुशला एते मदुन्मूलनसमर्था इति शङ्कमानेव माया तेभ्योऽपसरति वारविलासिनीव क्रोधनेभ्यस्तपोधनेभ्यस्तस्मान्मायातरणार्थी मामीदृशमेव संततमनुचिन्तयेदित्यप्यभिप्रेतं भगवतः । श्रुतयः स्मृतयश्चात्रार्थे प्रमाणीकर्तव्याः ॥ १४ ॥

(१) यद्येवं तर्हि किमिति निखिलानर्थमूलमायोन्मूलनाय भगवन्तं भवन्तमेव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते चिरसंचितदुरितप्रतिबन्धादित्याह भगवान्—

(२)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

(२) दुष्कृतिनो दुष्कृतेन पापेन सह नित्ययोगिनः । अत एव नरेषु मध्येऽधमा इह साधुभिर्गर्हणीयाः परत्र चानर्थसहस्रभाजः । कुतो दुष्कृतमनर्थहेतुमेव सदा कुर्वन्ति यतो मूढा इदमर्थसाधनमिदमनर्थसाधनमितिविवेकशून्याः । सति प्रमाणे कुतो न विविच्यन्ति यतो मायया ऽपहृतज्ञानाः शरीरेन्द्रियसंघाततादात्म्यभ्रान्तिरूपेण परिणतया मायया पूर्वोक्त्याऽपहृतं प्रतिबद्धं ज्ञानं विवेकसामर्थ्यं येषां ते तथा । अत एव ते 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च' इत्यादिनाऽग्रे वक्ष्यमाणमासुरं भावं हिंसानृतादिस्वभावमाश्रिता मत्प्रतिपत्त्ययोग्याः सन्तो न मां सर्वेश्वरं प्रपद्यन्ते न भजन्ते । अहो दौर्भाग्यं तेषामित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

चरणोंवाले, परमानन्दघनस्वरूप, ब्रह्माकी गतिसे बढ़ी हुई मायाका विस्तार करनेवाले मुझ गोपकुमारको निरन्तर चिन्तन करते हुए दिन व्यतीत करते हैं वे मेरे प्रेमरूप परमानन्दसमुद्रमें मग्नमना रहनेके कारण मायिक गुणोंके सभी प्रकारके विकारोंसे अभिभूत नहीं होते । किन्तु माया ऐसी शंका करके कि 'मेरे विलासका निरास करनेमें कुशल ये महानुभाव मेरा उच्छेद करनेमें समर्थ हैं' उनसे इसी प्रकार दूर चली जाती है जैसे क्रोधी तपस्वियोंके पाससे वेश्या । अतः जिसे मायाको पार करनेकी इच्छा हो वह निरन्तर ऐसे स्वरूपवाले मेरा ही चिन्तन करे—ऐसा श्रीभगवान्‌का अभिप्राय है । इस विषयमें श्रुति और स्मृतियोंका प्रमाण भी समझ लेना चाहिये ॥ १४ ॥

(१) यदि ऐसी बात है तो सम्पूर्ण अनर्थोंकी मूलभूता मायाका उच्छेद करनेके लिये सब लोग आप भगवान्‌की ही शरण क्यों नहीं लेते ? इस पर भगवान् कहते हैं कि वे चिरकालसे सञ्चित पापरूप प्रतिबन्धके कारण मेरी शरणमें नहीं आते—

[श्लोकार्थः—जो पापी मूढ और आसुरी भावका आश्रय लेनेवाले हैं तथा मायाने जिनके ज्ञानको हर लिया है वे अधम पुरुष मुझे प्राप्त नहीं हो सकते ॥ १५ ॥]

(२) दुष्कृति—दुष्कृत यानी पापके साथ नित्य सम्बन्ध रखनेवाले, इसलिये मनुष्योंमें जो अधम हैं अर्थात् इस लोकमें सत्पुरुषोंद्वारा निन्दाके पात्र और परलोकमें सहस्रों अनर्थोंके भाजन हैं । वे सर्वदा अनर्थका हेतुभूत पाप ही क्यों करते हैं ? क्योंकि वे मूढ हैं अर्थात् 'यह अर्थका साधन है और यह अनर्थका साधन है' इस प्रकारके विवेकसे रहित हैं । प्रमाण रहते हुए भी वे ऐसा विवेक क्यों नहीं करते ? क्योंकि मायाने उनके ज्ञानको हर लिया है, अर्थात् शरीर और इन्द्रियसंघातके तादात्म्यभ्रममें परिणत हुई पूर्वोक्त मायाने जिनके ज्ञान—विवेकसामर्थ्यका अपहरण यानी प्रतिबन्ध कर दिया है वे ऐसे हैं । इसीसे वे 'दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च' (१६-४)

(१) ये त्वासुरभावरहिताः पुण्यकर्माणो विवेकिनस्ते पुण्यकर्मतारतम्येन चतुर्विधाः सन्तो मां भजन्ते क्रमेण च कामनारहित्येन मत्प्रसादान्मायां तरन्तीत्याह—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

(२) ये सुकृतिनः पूर्वजन्मकृतपुण्यप्रसंचया जनाः सफलजन्मानस्त एव नान्ये ते मां भजन्ते सेवन्ते हेऽर्जुन । ते च त्रयः सकामा एकोऽकाम इत्येवं चतुर्विधाः । आर्तं आर्त्या शत्रुव्याध्याद्यापदा ग्रस्तस्तन्निवृत्तिमिच्छन् । यथा मखभङ्गेन कुपित इन्द्रे वर्षति व्रजवासी जनः, यथा वा जरासंधकारागारवर्ती राजनिचयः, द्यूतसभायां वस्त्राकर्षणे द्रौपदी च, ग्राहग्रस्तो गजेन्द्रश्च । जिज्ञासुरात्मज्ञानार्थी मुमुक्षुः । यथा मुचुकुन्दः, यथा वा मैथिलो जनकः श्रुतदेवश्च, निवृत्ते मौसले यथा चोद्धवः । अर्थार्थी, इह वा परत्र वा यद्भोगोपकरणं तद्भिप्सुः । तत्रेह यथा सुग्रीवो विभीषणश्च, यथा चोपमन्युः परत्र यथा ध्रुवः । एते त्रयोऽपि भगवद्भजनेन मायां तरन्ति । तत्र जिज्ञासुर्ज्ञानोत्पत्त्या साक्षादेव मायां तरति आर्तोऽर्थार्थी च जिज्ञासुत्वं प्राप्येति विशेषः । आर्तस्यार्थार्थितश्च जिज्ञासुत्वसंभवाज्जिज्ञासोश्चाऽऽर्तत्वज्ञानोपकरणार्थार्थित्वसंभवादुभयोर्मध्ये जिज्ञासुरुद्दिष्टः ।

इत्यादि श्लोकसे आगे कहे जानेवाले आसुरभावका—हिंसा एवं अनृतादिके स्वभावका आश्रय लिये रहनेके कारण मेरी प्राप्तिके अयोग्य रहनेसे मुझ सर्वेश्वरको प्राप्त नहीं होते अर्थात् मेरा भजन नहीं करते । हाय ! उनका कैसा दुर्भाग्य है-? ऐसा इसका अभिप्राय है ! ॥१५॥

(१) किन्तु जो आसुरी भावसे रहित पुण्यकर्मा विवेकी हैं वे पुण्यकर्मके तारतम्यसे चार प्रकारके होकर मेरा ही भजन करते हैं तथा क्रमसे कामनारहित होकर मेरी कृपासे मायाको पार कर लेते हैं—यह बात अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—भरतश्रेष्ठ ! अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकारके पुण्यकर्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं ॥ १६ ॥]

(२) जो लोग सुकृति—पूर्वजन्ममें पुण्योंका सञ्चय करनेवाले और सफलजन्मा हैं वे ही मेरा भजन—सेवन करते हैं, दूसरे नहीं । हे अर्जुन ! वे तीन सकाम और एक निष्काम इस प्रकार चार प्रकारके होते हैं । आर्त्त—आर्त्ति अर्थात् शत्रु अथवा व्याधि आदि आपत्तिसे ग्रस्त उसकी निवृत्तिकी इच्छावाला पुरुष, जिस प्रकार कि यज्ञभंगसे कुपित होकर इन्द्रके वर्षा करनेपर व्रजवासी लोग थे अथवा जैसे जरासन्धके कारागारमें पड़े हुए राजा लोग, द्यूतसभामें वस्त्र खींचे जानेपर द्रौपदी और ग्राहसे पकड़ा हुआ गजराज । जिज्ञासु—आत्मज्ञानकी इच्छावाला मोक्षकामी पुरुष, जैसे मुचुकुन्द, मिथिलानरेश जनक, श्रुतदेव अथवा मौसलकाण्ड समाप्त होनेपर उद्धव । अर्थार्थी—इस लोक अथवा परलोककी जो भोगसामग्री हैं उन्हें पानेकी इच्छावाला; जैसे इस लोकमें भोगोंकी इच्छावाले सुग्रीव, विभीषण अथवा उपमन्यु और परलोकमें श्रेष्ठ पदकी कामनावाले ध्रुव । ये तीनों प्रकारके भक्त भी भगवान्‌के भजनसे मायाको पार कर लेते हैं । इनमें जिज्ञासु तो ज्ञान उत्पन्न होनेपर सीधे-सीधे ही मायाको पार कर लेता है, किन्तु आर्त्त और अर्थार्थी जिज्ञासुत्वको प्राप्त करके उसे पार करते हैं—इतना इनमें अन्तर है । आर्त्त और अर्थार्थीका जिज्ञासु होना सम्भव है और जिज्ञासुका आर्त्त होना तथा ज्ञानके साधनभूत अर्थकी इच्छावाला होना सम्भव है, इसलिये जिज्ञासुका उल्लेख इन दोनों के बीचमें किया गया है ।

(१) तदेते त्रयः सकामा व्याख्याताः निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते—ज्ञानी च, ज्ञानं भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी तीर्णमायो निवृत्तसर्वकामः । चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः । हे भरतर्षभ त्वमपि जिज्ञासुर्वा ज्ञानी वेति कतमोऽहं भक्त इति मा शङ्किष्ठा इत्यर्थः । तत्र निष्कामभक्तो ज्ञानी यथा सनकादिर्यथा नारदो यथा प्रह्लादो यथा पृथुर्यथा वा शुकः । निष्कामः शुद्धप्रेमभक्तो यथा गोपिकादिर्यथा वाऽक्रूरयुधिष्ठिरादिः । कंसशिशुपालादयस्तु भयाद्द्वेषाच्च सततभगवच्चिन्तापरा अपि न भक्ता भगवदनुरक्तेरभावात् । भगवदनुरक्तिरूपायास्तु भक्तेः स्वरूपं साधनं भेदास्तथा भक्तानामपि भगवद्भक्तिरसायनेऽस्माभिः सविशेषं प्रपञ्चिता इतीहोपरम्यते ॥ १६ ॥

(२) ननु न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमा इत्यनेन तद्विलक्षणाः सुकृतिनो मां भजन्त इत्यर्थात्प्राप्तेऽपि तेषां चतुर्विध्यं चतुर्विधा भजन्ते मामित्यनेन दर्शितः ततस्ते सर्वे सुकृतिन एव निर्विशेषादिति चेत्तत्राऽऽह च । चतुर्विधानामपि सुकृतित्वे नियतेऽपि सुकृताधिक्येन निष्कामतया प्रेमाधिक्यात—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥

(३) चतुर्विधानां तेषां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्निवृत्तसर्वकामो विशिष्यते सर्वतोऽति-

---

(१) इस प्रकार ये तीनों सकाम भक्त कहे गये । अब चौथा निष्काम भक्त कहा जाता है । 'ज्ञानी च'—भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारको ज्ञान कहते हैं, उससे जो नित्ययुक्त हैं वह ज्ञानी मायासे पार गया हुआ और समस्त कामनाओंसे रहित होता है । 'च' शब्द जो कोई निष्काम प्रेमी भक्त है उसका भी ज्ञानीमें ही अन्तर्भाव करनेके लिये है । तात्पर्य यह है कि हे भरतर्षभ ! तुम भी ऐसी शंका मत करो कि मैं जिज्ञासु या ज्ञानी किस प्रकारका भक्त हूँ ? निष्काम भक्त ज्ञानी तो ये हैं, जैसे सनकादि, नारद, प्रह्लाद, पृथु और शुकदेव तथा निष्काम शुद्धप्रेमी भक्त ये हैं, जैसे—गोपिकादि, अक्रूर और युधिष्ठिरादि । कंस और शिशुपाल आदि भय और द्वेष के कारण निरन्तर भगवच्चिन्तनमें लगे रहनेपर भी भगवान्‌में प्रेम न होनेके कारण भक्त नहीं थे । भगवत्प्रेमरूपा भक्तिका स्वरूप, साधन और उसके भेद तथा भक्तोंके भी स्वरूप आदिका हमने भगवद्भक्तिरसायनमें विशेषरूप से विस्तार किया है, इसलिये यहाँ हम इसके विस्तारसे निवृत्त होते हैं ॥ १६ ॥

(२) यदि ऐसी शंका हो कि 'न मां दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमाः' इस वाक्य से यह बात अर्थतः सिद्ध हो जाती है कि उनसे भिन्न जो सुकृतिलोग हैं वे मुझे भजते हैं । फिर भी 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इस वाक्यसे उनके चार प्रकार दिखाये हैं, अतः समान होने के कारण वे चारों ही सुकृति हैं—तो इसपर कहते हैं कि चारों प्रकारके भक्तों का सुकृती होना निश्चित होनेपर भी पुण्य की अधिकता और निष्काम होनेसे प्रेमकी अधिकता होनेके कारण—

[श्लोकार्थः—उनमें भगवान्‌में सर्वदा समाधियुक्त रहनेवाला तथा एकमात्र उन्हींमें भक्ति रखनेवाला तत्त्वज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है ॥ १७ ॥

(३) उन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी—जिसकी समस्त कामनाएँ निवृत्त हो

रिष्यते सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः । यतो नित्ययुक्तो भगवति प्रत्यगभिन्ने सदा समाहितचेता विक्षेपकाभावात् । अत एवैकभक्तिरेकस्मिन्भगवत्येव भक्तिरनुरक्तिर्यस्य स तथा, तस्यानुरक्तिविषयान्तराभावात् । हि यस्मादियमीदृशी निरुपाधिप्रेमास्पदमात्मानमत्यर्थमत्यन्तीतिशयेन ज्ञानिनोऽहं प्रत्यगभिन्नः परमात्मा च तस्मादत्यर्थं स मम परमेश्वरस्य प्रियः । आत्मा प्रियोऽतिशयेन भवतीति श्रुतिलोकयोः प्रसिद्धमेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

(१) तत्किमार्तादयस्तव न प्रियाः, न, अत्यर्थमिति विशेषणादित्याह—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

(२) एते आर्तादयः सकामा अपि मद्भक्ताः सर्वे त्रयोऽप्युदारा एवोत्कृष्टा एव पूर्वजन्मार्जितानेकसुकृतराशित्वात् । अन्यथा हि मां न भजेयुरेव, आर्तस्य जिज्ञासोरर्थार्थिनश्च मद्विमुखस्य क्षुद्रदेवताभक्तस्यापि बहुलमुपलम्भात् । अतो मम प्रिया एव ते । न हि ज्ञानवानज्ञो वा कश्चिदपि भक्तो ममाप्रियो भवति । किं तु यस्य यादृशी मयि प्रीतिर्ममापि तत्र तादृशी प्रीतिरिति स्वभावसिद्धमेतत् । तत्र सकामानां त्रयाणां काम्यमानमपि प्रियमहमपि प्रियः, ज्ञानिनस्तु प्रियान्तरशून्यस्याहमेव निरतिशयप्रीतिविषयः । अतः सोऽपि मम निरतिशयप्रीतिविषय इति विशेषः । अन्यथा हि मम कृतज्ञता न स्यात्कृतघ्नता च स्यात् । अत एवात्यर्थमिति विशेषणमुपात्तं प्राक् । यथा हि

गयी हैं वह तत्त्वज्ञानवान् भक्त विशेष—सबसे बढ़कर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि कोई विक्षेपका कारण न होनेसे वह अपने अन्तरात्मासे अभिन्न श्रीभगवान्‌में नित्ययुक्त अर्थात् सर्वदा समाहित चित्त रहता है । इसीसे वह एकभक्ति अर्थात् जिसका एकमात्र भगवान्‌में ही अनुराग है ऐसा भी है, क्योंकि उसके अनुरागका कोई दूसरा विषय है ही नहीं । 'हि' इसका कारण यह है कि ज्ञानीको मैं प्रत्यगात्मासे अभिन्न परमात्मा ही अत्यर्थ—अतिशय प्रिय अर्थात् निरुपाधिक प्रेमका आश्रय हूँ और इसीसे वह भी मुझ परमेश्वरका अत्यन्त प्रिय है । 'आत्मा अत्यन्त प्रिय होता है' यह बात श्रुति और लोकमें प्रसिद्ध ही है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १७ ॥

(१) 'तो क्या आर्त्त आदि भक्त आपको प्रिय नहीं हैं ?' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् कहते हैं—'ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञानियोंके लिये 'अत्यर्थम्' यह विशेषण दिया है—

[श्लोकार्थः—श्रेष्ठ तो ये सभी हैं, किन्तु ज्ञानीको तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ, क्योंकि वह मुझमें ही समाहितचित्त है और मुझे ही अपनी सर्वश्रेष्ठ गति मानता है ॥

(२) ये सब अर्थात् मेरे आर्त्तादि तीनों प्रकारके भक्त सकाम होनेपर भी उदार—उत्कृष्ट ही हैं, क्योंकि ये पूर्वजन्मोंमें उपार्जित अनेकों प्रकारके पुण्यपुञ्जोंवाले होते हैं, नहीं तो वे मुझे भज ही नहीं सकते थे, कारण कि आर्त्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी पुरुषोंमें तो ऐसे भी बहुत देखे जाते हैं जो मुझसे विमुख तथा अन्य देवताओंके भक्त हैं । इसलिये वे भी मेरे प्यारे ही हैं; ज्ञानी या अज्ञानी मेरा कोई भी भक्त मुझे अप्रिय नहीं होता । किन्तु उनमें मेरे प्रति जिसकी जैसी प्रीति होती है मेरी भी उसके प्रति वैसी ही प्रीति होती है—यह बात तो स्वभावसिद्ध ही है । सो तीनों सकाम भक्तोंको तो काम्य पदार्थ प्रिय होते हैं और मैं भी प्रिय हूँ, किन्तु जिसका कोई और प्रिय नहीं है उस ज्ञानी भक्तकी निरतिशय प्रीतिका विषय तो मैं ही हूँ; इसलिये वह भी मेरी निरतिशय प्रीतिका विषय है—इतनी

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' इत्यत्र तरबर्थस्य विवक्षितत्वाद्विद्यादिव्यतिरेकेण कृतमपि कर्म वीर्यवद्भवत्येव, तथाऽत्यर्थं ज्ञानी भक्तो मम प्रिय इत्युक्तेर्ज्ञानव्यतिरेकेण भक्तः सोऽपि प्रिय इति पर्यवस्यत्येव, अत्यर्थमिति विशेषणस्य विवक्षितत्वात् । उक्तं हि—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति । अतो मामात्मत्वेन ज्ञानवाञ्ज्ञानी, आत्मैव न मत्तो भिन्नः किं त्वहमेव स इति मम मतं निश्चयः । तुशब्दः सकामभेददर्शित्रितयापेक्षया निष्कामत्वभेददर्शित्वविशेषद्योतनार्थः । हि यस्मात्स ज्ञानी युक्तात्मा सदा मयि समाहितचित्तः सन्मां भगवन्तमनन्तमानन्दघनमात्मानमेवानुत्तमां सर्वोत्कृष्टां गतिं मन्तव्यं परमं फलमास्थितोऽङ्गीकृतवान्, न तु मद्भिन्नं किमपि फलं स मन्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(१) यस्मादेवं तस्मात्—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

(२) बहूनां जन्मनां किंचित्किंचित्पुण्योपचयहेतूनामन्ते चरमे जन्मनि सर्वसुकृतविपाकरूपे वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान्सन्मां निरुपाधिप्रेमास्पदं प्रपद्यते सर्वदा समस्तप्रेमविषयत्वेन भजते, सकलमिदमहं च वासुदेव इति दृष्ट्या सर्वप्रेम्णां मय्येव पर्यवसायित्वात् । अतः स पूर्वज्ञानपूर्वकमद्भ-

---

उसमें विशेषता है । ऐसा न होता तो मेरी कृतज्ञता नहीं हो सकती थी, कृतघ्नता ही होती । इसीसे ज्ञानीके लिये पहले 'अत्यर्थम्' यह विशेषण दिया है । जिस प्रकार 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरंभवति' इस श्रुतिमें ['वीर्यवत्तरम्' पदके] 'तरप्' प्रत्ययका अर्थ बताना अभीष्ट होनेसे यह निष्कर्ष निकलता ही है कि विद्यादिके बिना किया हुआ कर्म भी वीर्यवान् तो होता ही है; इसी तरह 'ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है' ऐसा कहनेसे यह निश्चय होता है कि ज्ञानके बिना भी जो मेरा भक्त है वह भी मुझे प्रिय है, कारण कि यहाँ ज्ञानीको 'अत्यर्थम्' यह विशेषण देना अभीष्ट है । कहा भी है—'जो लोग मुझे जिस प्रकार प्राप्त होते हैं उन्हें मैं उसी प्रकार भजता हूँ ।' अतः मुझे आत्मस्वरूपसे जाननेवाला ज्ञानी मेरा आत्मा ही है, मुझसे भिन्न नहीं है, अपि तु 'मैं ही वह हूँ'—यह मेरा मत अर्थात् निश्चय है । यहाँ 'तु' शब्द उक्त तीन प्रकारके सकाम और भेददर्शी भक्तोंकी अपेक्षासे ज्ञानीमें निष्कामता और भेद न देखना रूप विशेषताको सूचित करनेके लिये है । 'हि'—क्योंकि उस ज्ञानीने मुक्तात्मा—सर्वदा मुझमें ही समाहितचित्त होकर मुझ अनन्त आनन्दघन आत्मस्वरूप भगवान्‌को ही अनुत्तम—सर्वोत्कृष्ट गति—गन्तव्य स्थान अर्थात् परमफलरूपसे आस्थित अंगीकार किया है इसलिये वह मुझसे भिन्न किसी और फलकी इच्छा नहीं करता—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥

(१) क्यों कि ऐसा है, इसलिये—

[श्लोकार्थः—अनेकों जन्मोंके पश्चात् 'यह सब वासुदेव है' ऐसे ज्ञानवाला पुरुष मेरा भजन करता है । ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ ही है ॥ १९ ॥]

(२) थोड़े-थोड़े पुण्यके संचयके हेतुभूत अनेकों जन्मोंके पश्चात् सम्पूर्ण सुकृतोंके परिपाकरूप अन्तिम जन्ममें 'सब वासुदेव है' ऐसे ज्ञानवाला होकर पुरुष निरुपाधिक प्रेमके विषयभूत मुझको प्राप्त होता अर्थात् सर्वदा समस्त प्रेमके विषयरूपसे भजता है, क्योंकि 'यह सब और मैं वासुदेव ही हूँ' इस दृष्टिसे समस्त प्रेमोंका पर्यवसान मेरेमें ही

क्तिमान्महात्माऽत्यन्तशुद्धान्तःकरणत्वाज्जीवन्मुक्तः सर्वोत्कृष्टो न तत्समोऽन्योऽस्ति अधिकस्तु नास्त्येव। अतः सुदुर्लभो मनुष्याणां सहस्रेषु दुःखेनापि लब्धुमशक्यः। अतः स निरतिशयमत्प्रीतिविषय इति युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

(३) तदेवमार्तादिभक्तत्रयापेक्षया ज्ञानिनो भक्तस्योत्कर्षस्तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यत इत्यत्र प्रतिज्ञातो व्याख्यातः। अधुना तु सकामत्वे भेददर्शित्वे च समेऽपि देवतान्तरभक्तापेक्षयाऽऽर्तादीनां त्रयाणां स्वभक्तानामुत्कर्षं उदाराः सर्व एवैत इत्यत्र प्रतिज्ञातो भगवता व्याख्यायते यावदध्यायसमाप्ति। समानेऽप्यायासे सकामत्वे भेददर्शित्वे च मद्भक्ता भूमिकाक्रमेण सर्वोत्कृष्टं मोक्षाख्यं फलं लभन्ते। क्षुद्रदेवताभक्तास्तु क्षुद्रमेव पुनःपुनःसंसरणरूपं फलम्। अतः सर्वेऽप्यार्ता जिज्ञासवोऽर्थार्थिनश्च मामेव प्रपन्नाः सन्तोऽनायासेन सर्वोत्कृष्टं मोक्षाख्यं फलं लभन्तामित्यभिप्रायः परमकारुणिकस्य भगवतः। तत्र परमपुरुषार्थफलमपि भगवद्भजनमुपेक्ष्य क्षुद्रफले क्षुद्रदेवताभजने पूर्ववासनाविशेष एवासाधारणो हेतुरित्याह—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

(२) मोहनस्तम्भनाकर्षणवशीकरणमारणोच्चाटनादिविषयैर्भगवत्सेवया लब्धुमशक्यत्वेनाभिमतैस्तैस्तैः क्षुद्रैः कामैरभिलाषैर्हृतमपहृतं भगवतो वासुदेवाद्विमुखीकृत्य तत्तत्फलदातृत्वाभिमतक्षुद्रदेहोता है। अतः ज्ञानपूर्वक मेरी भक्तिवाला वह महात्मा ही अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरणवाला होनेसे जीवन्मुक्त और सबसे श्रेष्ठ है। उसके समान कोई दूसरा नहीं है, उससे बढ़कर तो है ही नहीं। इसलिये वह सुदुर्लभ है अर्थात् सहस्रों मनुष्योंमें कठिनता से मिलना भी सम्भव नहीं है। अतः वह मेरी निरतिशय प्रीतिका विषय है—यह उचित ही है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १९ ॥

(१) इस प्रकार 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' इस श्लोकमें जिसके विषयमें प्रतिज्ञा की गयी उस ज्ञानी भक्तकी अन्य आर्तादि तीन प्रकारके भक्तोंकी अपेक्षा उत्कृष्टता कही गयी अब सकामता और भेददर्शितामें समान होनेपर भी 'उदाराः सर्व एवैते' इस स्थानपर भगवान्‌ने जिसकी प्रतिज्ञा की है उस अन्य देवताओंके भक्तोंकी अपेक्षा अपने आर्तादि तीन प्रकारके भक्तोंके उत्कर्षका इस अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त उल्लेख किया जाता है। परिश्रम, सकामता और भेददर्शितामें समान होनेपर भी मेरे भक्त भूमिका क्रमसे मोक्षसंज्ञक सर्वोत्कृष्ट फल प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु क्षुद्र देवताओंके भक्तको बार-बार जन्म-मरणरूप क्षुद्र फल ही मिलता है। अतः परम कारुणिक श्रीभगवान्‌का ऐसा अभिप्राय है कि आर्त जिज्ञासु और अर्थार्थी सभी भक्त मेरी ही शरण लेकर अनायास मोक्षसंज्ञक सर्वोत्कृष्ट फल प्राप्त कर लें। सो जिसका फल परम पुरुषार्थ है ऐसे भगवद्भजन की उपेक्षा करके क्षुद्र देवताओंके भजनमें प्रवृत्त होनेका असाधारण कारण पूर्ववासनाविशेष ही है—ऐसा भगवान् कहते हैं—

श्लोकार्थः—उन-उन कामनाओंने जिनके अन्तःकरणको हर लिया है अपनी प्रकृतिके अधीन हुए वे लोग उस-उस नियमका आश्रय लेकर दूसरे देवताओंको भजते रहते हैं ॥ २० ॥]

(२) भगवान्‌की सेवाके द्वारा प्राप्त होनेमें अशक्यरूपसे मानी हुई जिन मोहन, स्तम्भन, आकर्षण, वशीकरण, मारण और उच्चाटनादि विषयक उन-उन क्षुद्रकामनाओं

वताभिमुख्यं नीतं ज्ञानमन्तःकरणं येषां तेऽन्यदेवता भगवतो वासुदेवादन्याः क्षुद्रदेवतास्तं तं नियमं जपोपवासप्रदक्षिणानमस्कारादिरूपं तत्तद्देवताराधने प्रसिद्धं नियममास्थायाऽऽश्रित्य प्रपद्यन्ते भजन्ते तत्तत्क्षुद्रफलप्राप्तीच्छया। क्षुद्रदेवतामध्येऽपि केचित्कांचिदेव भजन्ते स्वया प्रकृत्या नियता असाधारणया पूर्वाभ्यासवासनया वशीकृताः सन्तः ॥ २० ॥

(१) तत्तद्देवताप्रसादात्तेषामपि सर्वेश्वरे भगवति वासुदेवे भक्तिर्भविष्यतीति न शङ्कनीयं, यतः—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

(२) तेषां मध्ये यो यः कामी यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया जन्मान्तरवासनाबलप्रादुर्भूतया भक्त्या संयुक्तः सन्नर्चितुमर्चयितुमिच्छति प्रवर्तते। चौरादिकस्यार्चयतेर्णिजभावपक्षे रूपमिदम्। तस्य तस्य कामिनस्तामेव देवतातनुं प्रति श्रद्धां पूर्ववासनावशात्प्राप्तां भक्तिमचलां स्थिरां विदधामि करोम्यहमन्तर्यामी, न तु मद्विषयां श्रद्धां तस्य तस्य करोमीत्यर्थः। तामेव श्रद्धामिति व्याख्याने यच्छब्दानन्वयः स्पष्टस्तस्मात्प्रतिशब्दमध्याहृत्य व्याख्यातम् ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते।

अर्थात् अभिलाषाओंसे जिनका ज्ञान—अन्तःकरण हर लिया गया अर्थात् भगवान् वासुदेवसे विमुख करके उस-उस फलके दातारूपसे माने हुए किसी क्षुद्र देवताके अभिमुख कर दिया गया है वे लोग उस-उस देवताकी आराधनाके लिये प्रसिद्ध जप उपवास प्रदक्षिणा एवं नमस्कारादि किसी नियमका आश्रय लेकर भगवान् वासुदेवसे भिन्न उन क्षुद्र देवताओंको प्रपन्न होते अर्थात् भजते हैं। उस-उस क्षुद्र फलकी प्राप्तिकी इच्छासे वे लोग अपनी प्रकृति—पूर्वाभ्यासजनित वासनासे नियत—वशीभूत होकर उन क्षुद्र देवताओंमेंसे भी किन्हीं-किन्हींका ही भजन करते हैं ॥ २० ॥

(१) उन-उन देवताओंकी कृपासे उनकी भी सर्वेश्वर भगवान् वासुदेवमें भक्ति हो जायगी—इस विषयमें शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि—

[श्लोकार्थः—जो-जो भक्त जिस-जिस देवविग्रहको श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है उस-उसकी उसी-उसी देवता विषयक श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूँ ॥ २१ ॥

(२) उनमेंसे जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवविग्रहको श्रद्धासे—जन्मान्तरकी वासनाके बलसे प्रकट हुई भक्तिसे युक्त होकर अर्चन करनेके लिये इच्छा करता अर्थात् प्रवृत्त होता है—'अर्चितुम्' यह रूप चुरादि गणके 'अर्च' धातुका 'णिच्' के अभाव पक्षमें है। उस-उस सकाम पुरुषकी उसी देवमूर्तिके प्रति श्रद्धाको—पूर्ववासनाके कारण प्राप्त हुई भक्तिको मैं अन्तर्यामी अचल—स्थिर कर देता हूँ। किन्तु उन-उन सकाम पुरुषोंकी श्रद्धाको मैं अपनेको विषय करनेवाली नहीं करता—ऐसा इसका तात्पर्य है। 'तामेव श्रद्धाम्' इसकी सीधी-सीधी व्याख्या करनेसे इसका ['यां यां' इस रूपमें आये हुए] 'यत्' शब्दसे अन्वय नहीं होता—यह स्पष्ट है, इसलिये ['तां प्रति' इस प्रकार] इसके साथ 'प्रति' शब्दका अध्याहार करके व्याख्या की है ॥ २१ ॥

श्लोकार्थः—उस श्रद्धासे युक्त हुआ वह देवभक्त उसकी आराधना करता है और मेरे द्वारा ही निष्पन्न की हुई अपनी कामनाओंको उससे प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

(१) स कामी तया मद्विहितया स्थिरया श्रद्धया युक्तस्तस्या देवतातन्वा राधनमाराधनं पूजनमीहते निर्वर्तयति । उपसर्गरहितोऽपि राधयतिः पूजार्थः । सोपसर्गत्वे ह्याकारः श्रूयेत । लभते च ततस्तस्या देवतातन्वाः सकाशात्कामानीप्सितांस्तान्पूर्वसंकल्पितान्हि प्रसिद्धम् । मयैव सर्वज्ञेन सर्वकर्मफलदायिना तत्तद्देवतान्तर्यामिणा विहितांस्तत्तत्फलविपाकसमये निर्मितान् । हितान्मनःप्रिया-नित्यैकपद्यं वा । अहितत्वेऽपि हिततया प्रतीयमानानित्यर्थः ॥ २२ ॥

(२) यद्यपि सर्वा अपि देवताः सर्वात्मनो ममैव तत्तद्वस्तदाराधनमपि वस्तुतो मदाराध-नमेव; सर्वत्रापि च फलदाताऽन्तर्याम्यहमेव, तथाऽपि साक्षान्मद्भक्तानां च तेषां च वस्तुविवेकाविवेक-कृतं फलवैषम्यं भवतीत्याह—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

(३) अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन वस्तुविवेकासमर्थानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तन्मया विहितमपि तत्तद्देवताराधनजं फलमन्तवदेव विनाशेव न तु मद्भक्तानां विवेकिनामिवानन्तं फलं तेषामित्यर्थः । कुत एवं यतो देवानिन्द्रादीनन्तवत एव देवयजो मदन्यदेवताराधनपरा यान्ति प्राप्नुवन्ति । मद्भक्तास्तु त्रयः सकामाः प्रथमं मत्प्रसादादभीष्टान्कामान्प्राप्नुवन्ति । अपिशब्दप्रयो-

(१) वह सकाम भक्त मेरे द्वारा विहित—स्थिरकी हुई श्रद्धासे युक्त होकर उस देवमूर्तिका आराधन—पूजन करता है । उपसर्गरहित होनेपर भी 'राध्' धातुका अर्थ पूजा है, उपसर्गसहित होनेपर ही उसके पहले आकार रहता है । फिर उस देवमूर्तिसे अपनी अभीष्ट—पूर्वसंकल्पित कामनाएँ—इच्छित वस्तुएँ प्राप्त करता है । हि—यह प्रसिद्ध ही है । उस-उस देवताके अन्तर्यामी सम्पूर्ण कर्मफलोंको देनेवाले मुझ परमेश्वरके द्वारा ही विहित अर्थात् उस-उस फलके परिपाकके समय निर्मित उन कामनाओंको प्राप्त करता है । अथवा 'हितान्' इस प्रकार 'हि' और 'तान्' ये दोनों एक पद हैं, अर्थात् प्रिय कामनाओंको प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि अहितरूप होनेपर भी हितरूपसे प्रतीत होनेवाली कामनाओंको प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

(२) यद्यपि समस्त देव मुझ सर्वात्माके ही स्वरूप हैं तथा उनकी आराधना भी मेरी ही आराधना है तथा सर्वत्र फल देनेवाला अन्तर्यामी भी मैं ही हूँ; तथापि साक्षात् मेरे भक्तोंमें और उनमें वस्तुके विवेक और अविवेकके कारण होनेवाली फलकी विषमता रहती ही है—यह बात अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—उन मन्दबुद्धि देवोपासकोंको नाशवान् फलकी प्राप्ति होती है । देवताओंकी उपासना करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ २३ ॥]

(३) अल्पबुद्धि—मन्दमति होनेके कारण वस्तुका विवेक करनेमें असमर्थ उन उस-उस देवताके भक्तोंका वह उस-उस देवताको आराधनासे प्राप्त होनेवाला मेरा नियत किया हुआ फल भी अन्तवान् नाशवान् ही होता है । तात्पर्य यह है कि मेरे विवेकी भक्तोंके समान उन्हें अनन्त फल नहीं मिलता । ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि देवयाजी—मुझसे भिन्न देवताओंकी आराधनामें लगे हुए लोग इन्द्रादि देवताओंको ही प्राप्त होते हैं ।

यात्ततो मदुपासनापरिपाकान्मामनन्तमानन्दघनमीश्वरमपि यान्ति प्राप्नुवन्ति । अतः समानेऽपि सकामत्वे मद्भक्तानामन्यदेवताभक्तानां च महदन्तरम् । तस्मात्साधूक्तमुदाराः सर्व एवैत इति ॥ २३ ॥

(३) एवं भगवद्भजनस्य सर्वोत्तमफलत्वेऽपि कथं प्रायेण प्राणिनो भगवद्विमुखा इत्यत्र हेतुमाह भगवान्—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

(२) अव्यक्तं देहग्रहणात्प्राक्कार्यात्तमत्वेन स्थितमिदानीं वसुदेवगृहे व्यक्तिं भौतिकदेहावच्छे-देन कार्यत्वमतां प्राप्तं कंचिज्जीवमेव मन्यन्ते मामीश्वरमप्यबुद्धयो विवेकशून्याः । अव्यक्तं सर्वकारणमपि मां व्यक्तिं कार्यरूपतां मत्स्यकूर्मादिनेकावताररूपेण प्राप्तमिति वा ।

(३) कथं ते जीवास्त्वां न विविञ्चन्ति । तत्राऽऽह अव्ययं इत्युक्तं हेतुं विवृणोति—परं सर्वकार-णरूपमव्ययं नित्यं मम भावं स्वरूपं सोपाधिकमजानन्तस्तथा निरुपाधिकमप्यनुत्तमं सर्वोत्कृष्टमनति-शयाद्वितीयपरमानन्दघनमनन्तं मम स्वरूपमजानन्तो जीवानुकारिकार्यदर्शनाज्जीवमेव कंचिन्मां मन्यन्ते । ततो मामनीश्वरत्वेनाभिमतं विहाय प्रसिद्धं देवतान्तरमेव भजन्ते । ततश्चान्तवदेव फलं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अग्रे च वक्ष्यते—अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितमिति ॥ २४ ॥

किन्तु मेरे जो तीन प्रकारके सकाम भक्त हैं वे पहले तो मेरी कृपासे अपने अभीष्ट फल प्राप्त करते हैं और 'अपि' शब्दका प्रयोग होनेके कारण फिर मेरी उपासनाका परिपाक होनेपर मुझ अनन्त आनन्दघन परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं । अतः सकामतामें समानता होनेपर भी मेरे भक्तोंमें और अन्य देवताओंके भक्तोंमें बड़ा भारी अन्तर है । अतः 'ये सभी उदार हैं' यह ठीक ही कहा है ॥ २३ ॥

(१) इस प्रकार भगवद्भजनका सर्वोत्तम फल होनेपर भी प्राणी प्रायः भगवान्से विमुख क्यों हैं—इसमें भगवान् कारण बताते हैं—

श्लोकार्थः—मेरे अविनाशी और सर्वोत्तम तथा सबके कारणरूप भावको न जाननेवाले बुद्धिहीन पुरुष अव्यक्तरूप मुझको व्यक्तत्वको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥

(२) अव्यक्त—देहग्रहणसे पूर्व कार्यमें असमर्थरूपसे स्थित तथा अब वसुदेवजीके घरमें व्यक्ति—भौतिक देहके अवच्छेदसे कार्यकी समर्थताको प्राप्त मुझ ईश्वरको अबुद्धि—विवेकशून्य पुरुष कोई जीव ही समझते हैं । अथवा अव्यक्त—सबके कारणरूप भी मुझको व्यक्ति—मत्स्य-कूर्मादि अनेक अवतार रूपसे कार्यरूपताको प्राप्त हुआ मानते हैं ।

(३) वे जीव आपको क्यों नहीं पहचानते ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा हुआ हेतु जो 'अबुद्धयः' है उसका स्पष्टीकरण करते हैं—'परम्' इत्यादि । मेरे पर—सबके कारणरूप अव्यय—नित्य भाव अर्थात् सोपाधिक स्वरूपको न जानकर तथा निरुपाधिक होनेपर भी जो अनुत्तम—सबसे उत्कृष्ट अर्थात् मेरा निरतिशय अद्वितीय परमानन्दघन अनन्तरूप है उसे न समझकर जीवोंका अनुकरण करनेवाला कार्य देखनेके कारण मुझे कोई जीव ही मानते हैं । इसलिये ईश्वररूपसे माने हुए मुझको छोड़कर किसी दूसरे प्रसिद्ध देवताका ही भजन करते हैं और उससे अन्तवान् फल ही प्राप्त करते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । आगे 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' (९।११) इस स्थानमें भी यही बात कही जायगी ॥ २४ ॥

(१) ननु जन्मकालेऽपि सर्वयोगिध्येयं श्रीवैकुण्ठस्थमैश्वरमेव रूपमाविर्भावितवति संप्रति च श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाकिरीटकुण्डलादिदिव्योपकरणशालिनि कम्बुकमलकौमोदकीचक्रवरधारिचतुर्भुजे श्रीमद्दैनतेयवाहने निखिलसुरलोकसंपादितराजराजेश्वराभिषेकादिमहावैभवे सर्वसुरासुरजेतरि विविधदिव्यलीलाविलासशीले सर्वावतारशिरोमणौ साक्राद्वैकुण्ठनायके निखिललोकदुःखनिस्ताराय भुवमवतीर्णे विरिञ्चिप्रपञ्चासंभविनिरतिशयसौन्दर्यसारसर्वस्वमूर्तौ बाललीलाविमोहितविधातरि तरणिकिरणोज्ज्वलदिव्यपीताम्बरे निरुपमश्यामसुन्दरे करदीकृतपारिजातार्थपराजितपुरंदरे बाणयुद्धविजितशशाङ्कशेखरे समस्तसुरासुरविजयिनरकप्रभृतिमहादैतेयप्रकरप्राणपर्यन्तसर्वस्वहारिणि श्रीदामादिपरमरङ्कमहावैभवकारिणि षोडशसहस्रदिव्यरूपधारिण्यपरिमेयगुणगरिमणि महामहिमनि नारदमार्कण्डेयादिमहामुनिगणस्तुते त्वयि कथमविवेकिनोऽपि मनुष्यबुद्धिर्जीवबुद्धिर्वेत्यर्जुनाशङ्कामपनिनीषुराह भगवान्—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

(२) अहं सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशः स्वेन रूपेण प्रकटो न भवामि । किं तु केषांचिन्मद्भक्तानामेव प्रकटो भवामीत्यभिप्रायः । कथं सर्वस्य लोकस्य न प्रकट इत्यत्र हेतुमाह—योगमाया-

(१) किन्तु जन्म लेनेके समय भी जो समस्त योगियोंके ध्येय श्रीवैकुण्ठलोकस्थ ईश्वरीय रूपको ही प्रकट करनेवाले, इस समय श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, किरीट एवं कुण्डलादि दिव्य आभूषणोंको धारण करनेवाले, शंख, पद्म, कौमोदकी गदा और श्रेष्ठ चक्र इन आयुधोंको धारण करनेवाली चार भुजाओंवाले, श्रीमान्, गरुडरूप वाहन और सम्पूर्ण देवताओं द्वारा सम्पादित राजराजेश्वराभिषेकरूप महान् वैभववाले, समस्त देवता और असुरोंको जीतनेवाले, अनेकों प्रकारकी दिव्य लीलाओंका विस्तार करनेके स्वभाववाले, सम्पूर्ण अवतारोंमें शिरमौर, साक्षात् वैकुण्ठनाथ, सम्पूर्ण लोकोंके दुःखोंकी निवृत्तिके लिये पृथ्वीमें अवतार लेनेवाले, ब्रह्माकी सृष्टिमें जिसका होना असम्भव है ऐसे निरतिशय सौन्दर्यके सारसर्वस्वस्वरूप, अपनी बाललीलासे विधाताको भी मोहमें डाल देनेवाले, सूर्यकी किरणोंके समान उज्ज्वल दिव्य पीताम्बरधारी, निरुपम श्यामसुन्दर, कररूपसे स्वीकार किये हुए पारिजात वृक्षके लिये इन्द्रको पराजित करनेवाले, बाणासुरके साथ युद्ध करते समय श्रीमहादेवजीको पराजित करनेवाले, समस्त देवता और असुरोंको जीतनेवाले नरकासुर आदि बड़े-बड़े दैत्योंके प्राणपर्यन्त सर्वस्वका हरण करनेवाले, श्रीदामा (सुदामा) आदि अत्यन्त कंगालोंको महान् सम्पत्तिशाली बना देनेवाले, सोलह सहस्र दिव्यरूप धारण करनेवाले, अपरिमित गुणगरिमासे युक्त, महान् महिमाशाली, नारद-मार्कण्डेय आदि महामुनियोंसे स्तुत हैं, ऐसे आपमें अविवेकियोंकी भी मनुष्यबुद्धि या जीवबुद्धि क्यों होती है ?—इस अर्जुनकी आशंकाका निराकरण करनेकी इच्छासे भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—योगमायासे आच्छादित हुआ मैं सब लोगोंको प्रकट नहीं होता । मुझ अजन्मा और अविनाशीको यह मूढ लोक नहीं जान सकता ॥ २५ ॥]

(२) मैं सब लोगोंके लिये प्रकाशमान अर्थात् अपने रूपसे प्रकट नहीं होता, किन्तु अपने किन्हीं भक्तोंको ही प्रकट होता हूँ—ऐसा इसका अभिप्राय है । सब लोगोंको प्रकट क्यों नहीं हूँ—इसमें 'योगमायासमावृतः' यह हेतु बताते हैं । योग मेरे सङ्कल्पका

समावृतः, योगो मम संकल्पस्तद्वशवर्तिनी माया योगमाया तयाऽयमभक्तो जनो मां स्वरूपेण न जानात्वितिसंकल्पानुविधायिन्या मायया सम्यगावृतः सत्यपि ज्ञानकारणे ज्ञानविषयत्वायोग्यः कृतः । अतो यदुक्तं 'परं भावमजानन्त' इति तत्र मम संकल्प एव कारणमित्युक्तं भवति । अतो मम मायया मूढ आवृतज्ञानः सन्नयं चतुर्विधभक्तविलक्षणो लोकः सत्यपि ज्ञानकारणे मामजमव्ययमनाद्यनन्तं परमेश्वरं नाभिजानाति, किं तु विपरीतबुद्ध्या मनुष्यमेव कंचिन्मन्यत इत्यर्थः । विद्यमानं वस्तुस्वरूपमावृणोत्यविद्यमानं च किंचिद्दर्शयतीति लौकिकमायायामपि प्रसिद्धमेतत् ॥ २५ ॥

(१) अतो मायया स्वाधीनया सर्वव्यामोहकत्वात्स्वयं चाप्रतिबद्धज्ञानत्वात्—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

(२) अहमप्रतिबद्धसर्वविज्ञानो मायया सर्वाँल्लोकान्मोहयन्नपि समतीतानि चिरविनष्टानि वर्तमानानि च भविष्याणि च । एवं कालत्रयवर्तीनि भूतानि स्थावरजंगमानि सर्वाणि वेद जानामि हेऽर्जुन ! अतोऽहं सर्वज्ञः परमेश्वर इत्यत्र नास्ति संशय इत्यर्थः । मां तु, तुशब्दो ज्ञानप्रतिबन्धोतनार्थः । मां सर्वदर्शिनमपि मायाविनमिव तन्मायामोहितः कश्चन कोऽपि मदनुग्रहाज्ञानं मद्भक्तं विना न वेद मन्मायामोहितत्वात् । अतो मत्तत्त्ववेदनाभावादेव प्रायेण प्राणिनो मां न भजन्त इत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

नाम है, उसके वशमें रहनेवाली जो योगमाया है उससे ये अभक्तलोग मुझे स्वरूपसे नहीं जानते । ज्ञानका कारण रहनेपर भी मैं संकल्पका अनुसरण करनेवाली मायासे पूर्णतया आच्छादित होकर ज्ञानकी विषयताके अयोग्य कर दिया गया हूँ । अतः कहना यह है कि 'मेरे परमभावको न जानकर' ऐसा जो कहा गया है उसमें मेरा संकल्प ही कारण है । इसलिये मेरी मायासे मूढ और आवृतज्ञान हुआ यह चार प्रकारके भक्तोंसे भिन्न लोकज्ञानका कारण रहनेपर भी मुझ अजन्मा, अविनाशी, अनादि और अनन्त परमेश्वरको नहीं जानता, किन्तु अपनी विपरीत बुद्धिके कारण मुझे कोई मनुष्य ही मानता है—ऐसा इसका तात्पर्य है । लौकिकी मायाके विषयमें भी यह बात प्रसिद्ध ही है कि वह विद्यमान वस्तुके स्वरूपको ढक लेती है और जो नहीं है ऐसी कोई चीज दिखा देती है ॥ २५ ॥

(१) इसलिए अपने अधीन रहनेवाली मायासे सबको मोहित करनेवाला और स्वयं अप्रतिबद्ध ज्ञानवान् होनेसे—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! मैं तो भूत, भविष्य और वर्तमान सभी प्राणियोंको जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥]

(२) हे अर्जुन ! जिसका सब प्रकारका विज्ञान अप्रतिबद्ध है ऐसा मैं अपनी मायासे सम्पूर्ण लोकोंको मोहमें डालता हुआ भी समतीत—बहुत समय पूर्व नष्ट हुए, वर्तमान और भविष्य इस प्रकार तीनों कालोंमें रहनेवाले स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियोंको जानता हूँ । अतः तात्पर्य यह है कि मैं सर्वज्ञ परमेश्वर हूँ—इसमें कोई सन्देह नहीं है । 'मां तु' इसमें 'तु' शब्द अन्य जीवोंके ज्ञानका प्रतिबन्ध सूचित करनेके लिये है । सबको देखनेवाला होनेपर भी मायावीके समान मुझको मेरे अनुग्रहपात्र भक्तोंको छोड़कर मेरी मायासे मोहित हुआ कोई भी जीव मेरी मायासे मोहित रहनेके कारण नहीं जानता । अतः अभिप्राय यह है कि मेरे तत्त्वका ज्ञान न होनेके कारण ही प्राणी प्रायः मेरा भजन नहीं करते ॥ २६ ॥

(१) योगमायां भगवत्तत्त्वविज्ञानप्रतिबन्धे हेतुमुक्त्वा देहेन्द्रियसंघाताभिमानातिशयपूर्वकं भोगाभिनिवेशं हेत्वन्तरमाह—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

(२) इच्छाद्वेषाभ्यामनुकूलप्रतिकूलविषयाभ्यां समुत्थितेन शीतोष्णसुखदुःखादिद्वंद्वनिमित्तेन मोहेनाहं सुख्यहं दुःखीत्यादिविपर्ययेण सर्वाण्यपि भूतानि संमोहं विवेकायोग्यत्वं सर्गे स्थूलदेहोत्पत्तौ सत्यां यान्ति । हे भारत हे परंतपेति संबोधनद्वयस्य कुलमहिम्ना स्वरूपशक्त्या च त्वां द्वंद्वमोहाख्यः शत्रुर्नाभिभवितुमलमिति भावः । नहीच्छाद्वेषरहितं किंचिदपि भूतमस्ति । न च ताभ्यामाविष्टस्य बहिर्विषयमपि ज्ञानं संभवति किं पुनरात्मविषयम् । अतो रागद्वेषव्याकुलान्तःकरणत्वात्सर्वाण्यपि भूतानि मां परमेश्वरमात्मभूतं न जानन्ति, अतो न भजन्ते भजनीयमपि ॥ २७ ॥

(३) यदि सर्वभूतानि संमोहं यान्ति कथं तर्हि 'चतुर्विधा भजन्ते मामि'त्युक्तम् ?

(४) सत्यं सुकृतातिशयेन तेषां क्षीणपापत्वादित्याह—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

(१) योगमायाको भगवत्तत्त्वके विज्ञानके प्रतिबन्धको कारण बताकर जब देह और इन्द्रिय संघातके अत्यन्त अभिमानपूर्वक भोगका अभिनिवेशरूप दूसरा हेतु बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे भारत ! हे परन्तप ! स्थूल देहकी उत्पत्ति होनेपर समस्त प्राणी इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वजनित मोहसे अविवेकको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥]

(२) अनुकूल और प्रतिकूल विषय-विषयक इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखादि निमित्तक मोहसे सम्पूर्ण प्राणी सर्ग यानी स्थूल देहकी उत्पत्ति होनेपर 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि विपर्ययके कारण सम्मोह—विवेककी अयोग्यताको प्राप्त होते हैं । 'हे भारत !' और 'हे परन्तप !' इन दो सम्बोधनोंका भाव यह है कि अपने कुलकी महिमा और स्वरूपशक्तिके कारण तुम्हें द्वन्द्वमोहसंज्ञक शत्रु दबानेमें समर्थ नहीं है । इच्छा और द्वेषसे रहित तो कोई भी प्राणी नहीं है और जिसपर इनका अधिकार होता है उसे तो बाह्य विषयका भी ज्ञान नहीं होता, फिर आत्मविषयक ज्ञानकी तो बात ही क्या है ? अतः राग-द्वेषसे व्याकुलचित्त रहनेके कारण सभी प्राणी अपने आत्मस्वरूप मुझ परमेश्वरको नहीं जानते और इसीसे भजनके योग्य होनेपर भी मेरा भजन नहीं करते ॥ २७ ॥

(३) प्रश्न—यदि सभी प्राणी सम्मोहको प्राप्त हो जाते हैं तो 'मुझे चार प्रकारके भक्त भजते हैं' ऐसा क्यों कहा है ?

(४) उत्तर—ठीक है, पुण्योंकी अधिकताके कारण उनके पाप क्षीण हो जाते हैं, इसलिए ऐसा कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जिन पुण्यकर्मा पुरुषोंके पापका अन्त हो गया है वे द्वन्द्वजनित मोहसे सर्वथा मुक्त और सुदृढ संकल्पवाले होकर मेरा भजन करते हैं ॥ २८ ॥]

(१) येषां त्वितरलोकविलक्षणानां जनानां सफलजन्मनां पुण्यकर्मणामनेकजन्मसु पुण्याचरणशीलानां तैस्तैः पुण्यैः कर्मभिर्ज्ञानप्रतिबन्धकं पापमन्तगतमन्तमवसानं प्राप्तं ते पापाभावेन तन्निमित्तेन द्वंद्वमोहेन रागद्वेषादिनिबन्धनविपर्यासेन स्वत एव निर्मुक्ताः पुनरावृत्त्ययोग्यत्वेन त्यक्ता दृढव्रता अचाल्यसंकल्पाः सर्वथा भगवानेव भजनीयः स चैवंरूप एवेति प्रमाणजनिताप्रामाण्यशङ्काशून्यविज्ञानाः सन्तो मां परमात्मानं भजन्तेऽनन्यशरणाः सन्तः सेवन्ते । एतादृशा एव 'चतुर्विधा भजन्ते मामि'त्यत्र सुकृतिशब्देनोक्ताः । अतः सर्वभूतानि संमोहं यान्तीत्युत्सर्गः । तेषां मध्ये ये सुकृतिनस्ते संमोहशून्या मां भजन्त इत्यपवाद इति न विरोधः । अयमेवोत्सर्गः प्रागपि प्रतिपादित-त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरित्यत्र । तस्मात्सत्त्वशोधकपुण्यकर्मसंचाय सर्वदा यतनीयमिति भावः ॥ २८ ॥

(२) अथेदानीमर्जुनस्य प्रश्नमुत्थापयितुं सूत्रभूतौ श्लोकावुच्येते । अनयोरेव वृत्तिस्थानीय उत्तरोऽध्यायो भविष्यति—

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

(३) ये संसारदुःखान्निर्विण्णा जरामरणमोक्षाय जरामरणादिविविधदुःसहसंसारदुःखनिरासाय तदेकहेतुं मां सगुणं भगवन्तमाश्रित्येतरसर्ववैमुख्येन शरणं गत्वा यतन्ति यतन्ते मदर्पितानि

(१) अन्य लोगोंसे विलक्षण जिन सफलजन्मा पुण्यकर्मा—अनेकों जन्मोंमें पुण्य कर्मोंका आचरण करनेवाले पुरुषोंका ज्ञानका प्रतिबन्धक पाप, उन-उन पुण्यकर्मोंके कारण अन्त—अवसानको प्राप्त हो गया है वे पापका अभाव और उसके कारण होनेवाले द्वन्द्वमोह—राग-द्वेषादिनिमित्तक विपरीत ज्ञानसे स्वयं ही निर्मुक्त—पुनरावृत्तिकी अयोग्यतापूर्वक परित्यक्त होकर दृढव्रत—अविचलसंकल्प अर्थात् 'सब प्रकार एकमात्र भगवान् ही भजनके योग्य हैं और वे ऐसे ही हैं' इस प्रकारके प्रमाणजनित तथा अप्रामाण्यकी शंकासे शून्य विज्ञानवाले होकर मुझ परमात्माको भजते अर्थात् किसी दूसरेकी शरण न लेकर मेरा ही सेवन करते हैं । 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इस श्लोकमें ऐसे लोगोंको ही 'सुकृति' शब्दसे कहा गया है । अतः 'समस्त भूत सम्मोहको प्राप्त होते हैं' यह उत्सर्ग (साधारण नियम) है तथा 'उनमें जो सुकृति हैं वे सम्मोहशून्य होकर मेरा भजन करते हैं' यह अपवाद है । इसलिए इस कथनमें विरोध नहीं है । इसी उत्सर्गका 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः' इस श्लोकमें पहले भी वर्णन किया गया है । अतः चित्तकी शुद्धि करनेवाले पुण्यकर्मके सञ्चयके लिए सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए—ऐसा इसका भाव है ॥

(२) अब अर्जुनका प्रश्न उठानेके लिए दो सूत्रभूत श्लोक कहे जाते हैं । अगला अध्याय इन दो श्लोकोंकी ही वृत्ति (व्याख्या) रूप होगा—

[श्लोकार्थः—जो लोग मेरा आश्रय लेकर जरा-मरण की निवृत्तिके लिये प्रयत्न करते हैं वे तत्पदके लक्ष्य परब्रह्म मुझको, शरीरादि उपाधिसे अपरिच्छिन्न त्वं पदके लक्ष्य आत्माको और उनके साधनभूत कर्मको पूर्णतया जान लेते हैं ॥ २९ ॥]

(३) संसार दुःखसे खिन्न होकर जो जरा-मरणसे छूटनेके लिए अर्थात् जरा-मरण आदि तरह-तरहके असहनीय सांसारिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये उनके एकमात्र हेतु सगुण भगवान् मेरा आश्रय लेकर—और सबसे मुख मोड़ते हुए मेरी ही शरणमें जाकर यत्न करते अर्थात् मुझे अर्पण किये हुए फलाशासे शून्य विहित कर्म करते हैं, वे

फलाभिसंधिशून्यानि विहितानि कर्माणि कुर्वन्ति ते क्रमेण शुद्धान्तःकरणाः सन्तस्तज्जगत्कारणं मायाधिष्ठानं शुद्धं परं ब्रह्म निर्गुणं तत्पदलक्ष्यं मां विदुः। तथाऽऽत्मानं शरीरमधिकृत्य प्रकाशमानं कृत्स्नमुपाध्यपरिच्छिन्नं त्वंपदलक्ष्यं विदुः। कर्म च तदुभयवेदनसाधनं गुरूपसदनश्रवणमननाद्यखिलं निरवशेषं फलाव्यभिचारि विदुर्जानन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

(१) न चैवंभूतानां मद्भक्तानां मृत्युकालेऽपि विवशकरणतया मद्विस्मरणं शङ्कनीयं, यतः साधिभूताधिदैवमधिभूताधिदैवाभ्यां सहितं तथा साधियज्ञं चाधियज्ञेन च सहितं मां ये विदुश्चिन्तयन्ति ते युक्तचेतसः सर्वदा मयि समाहितचेतसः सन्तस्तत्संस्कारपाटवात्प्रयाणकाले प्राणोत्क्रमणकाले करणग्रामस्यात्यन्तव्यग्रतायामपि, चकारादयत्नेनैव मत्कृपया मां सर्वात्मानं विदुर्जानन्ति, तेषां मृतिकालेऽपि मदाकारैव चित्तवृत्तिः पूर्वोपचितसंस्कारपाटवाद्भवति। तथा च ते मद्भक्तियोगात्कृतार्था एवेति भावः।

(२) अधिभूताधिदैवाधियज्ञशब्दानुत्तरेऽध्यायेऽर्जुनप्रश्नपूर्वकं व्याख्यास्यति भगवानिति

क्रमशः शुद्धचित्त होकर जगत्के कारण, मायाके अधिष्ठान और तत्पदके लक्ष्य मुझ निर्गुण एवं शुद्ध परब्रह्मको जान लेते हैं। तथा शरीरमें अधिष्ठित होकर प्रकाशमान कृत्स्न—उपाधिसे अपरिच्छिन्न त्वंपदके लक्ष्य आत्माको भी जान जाते हैं। इसके सिवा उन दोनोंके ज्ञानके साधन गुरूपसत्ति एवं श्रवण-मनन आदि कर्मको भी अखिल—अशेष रूपसे अर्थात् फलके अव्यभिचारपूर्वक जान लेते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २९ ॥

[श्लोकार्थः—जो लोग अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके सहित मुझे जान लेते हैं वे मेरेमें एकाग्रचित्त हो मरणकालमें भी अनायास ही मुझे जान सकते हैं ॥ ३० ॥]

(१) मेरे इस प्रकारके भक्तोंको, मरणकालमें भी, इन्द्रियोंके परवश हो जानेसे मेरी विस्मृति हो जाती होगी—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि साधिभूताधिदैव अर्थात् अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा साधियज्ञ—अधियज्ञके सहित मुझे जो लोग जानते अर्थात् मेरा चिन्तन करते हैं वे युक्तचित्त—सर्वदा मेरेमें समाहितचित्त रहनेवाले होकर उस संस्कारकी पटुताके कारण प्रयाणकालमें—प्राणोत्क्रमणके समय इन्द्रियग्रामकी अत्यन्त व्यग्रता हो जाने पर भी, 'च' शब्दसे बिना प्रयासके ही, मेरी कृपासे मुझ सर्वात्माको जान लेते हैं। पूर्वसञ्चित संस्कारोंकी पटुतासे मरणकालमें भी उनकी चित्तवृत्ति मेरे ही आकारवाली रहती है। इस प्रकार भाव यह है कि मेरे भक्तियोगके कारण वे कृतार्थ ही हो जाते हैं।

(२) अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ शब्दोंकी भगवान् अगले अध्यायमें

सर्वमनाविलम्। तदत्रोत्तमाधिकारिणं प्रति ज्ञेयं मध्यमाधिकारिणं प्रति च ध्येयं लक्षणया मुख्यया च वृत्त्या तत्पदप्रतिपाद्यं ब्रह्म निरूपितम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन ज्ञेयध्येय-यप्रतिपाद्यतत्त्वब्रह्मनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें व्याख्या करेंगे। इस प्रकार सभी निर्दोष हैं। इस तरह यहाँ तत्पदद्वारा लक्षणा और मुख्य वृत्तिसे प्रतिपाद्य उत्तम अधिकारीके लिए ज्ञेय और मध्यम अधिकारीके लिये ध्येय जो ब्रह्म है उसका निरूपण किया गया है ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यसूनुश्रीमधु-सूदनसरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाटीकाके हिन्दी भाषान्तरका ज्ञानविज्ञानयोगनामक सातवाँ अध्याय ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्यायान्ते 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इत्यादिना सार्धश्लोकेन सप्त पदार्था ज्ञेयत्वेन भगवता सूत्रितास्तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयमष्टमोऽध्याय आरभ्यते । तत्र सूत्रितानि सप्त वस्तूनि विशेषतो बुभुत्समानः श्लोकाभ्याम्—

अर्जुन उवाच—

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

(२) तज्ज्ञेयत्वेनोक्तं ब्रह्म किं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा । एवमात्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीत्यध्यात्मं किं श्रोत्रादिकरणग्रामो वा प्रत्यक्चैतन्यं वा । तथा कर्म चाखिलमित्यत्र किं कर्म यज्ञरूपमन्यद्वा 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' इति श्रुतौ द्वैविध्यश्रवणात् ।

(३) तव मम च समत्वात्कथं त्वं मां पृच्छसीति शङ्कामपनुदन्सर्वपुरुषेभ्य उत्तमस्य सर्वज्ञस्य तव न किंचिदज्ञेयमिति संबोधनेन सूचयति हे पुरुषोत्तमेति । अधिभूतं च किं प्रोक्तं पृथिव्यादिभूतमधिकृत्य यत्किंचित्कार्यमधिभूतपदेन विवक्षितं किंवा समस्तमेव कार्यजातम् । चकारः सर्वेषां प्रश्नानां समुच्चयार्थः । अधिदैवं किमुच्यते देवताविषयमनुध्यानं वा सर्वदैवतेष्वादित्यमण्डलादिष्वनुस्यूतं चैतन्यं वा ॥ १ ॥

---

(१) पिछले अध्यायके अन्तमें 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इत्यादि डेढ़ श्लोकसे भगवान्‌ने ज्ञेयरूपसे सात पदार्थ सूचित किये हैं । उनकी व्याख्यारूप यह आठवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । वहाँ सूचित किये हुए सात पदार्थोंको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छासे दो श्लोकोंद्वारा कहते हैं ।

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसे कहते हैं और अधिदैव क्या कहा जाता है ? ॥ १ ॥]

(२) [अर्जुनने कहा—] वह ज्ञेयरूपसे कहा हुआ ब्रह्म क्या है ? सोपाधिक है या निरुपाधिक ? इसी प्रकार जो आत्मा—देहको अधिष्ठित करके उस अधिष्ठानमें स्थित रहता है वह अध्यात्म क्या श्रोत्रादि इन्द्रिय-समूह है अथवा प्रत्यक्चैतन्य है ? तथा 'कर्म चाखिलम्' (७।२९) इस स्थानपर क्या यज्ञरूप कर्म है अथवा कोई और कर्म लिया गया है ? क्योंकि 'विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है तथा कर्मोंका भी विस्तार करता है' इस श्रुतिमें कर्मके दो प्रकार सुने गये हैं ।

(३) 'मैं और तुम तो समान हैं, फिर तुम मुझसे क्यों पूछते हो ?' इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये 'हे पुरुषोत्तम' इस सम्बोधनसे अर्जुन यह सूचित करता है कि समस्त पुरुषोंकी अपेक्षा उत्तम सर्वज्ञ आपके लिये कोई भी बात अज्ञेय नहीं है । तथा अधिभूत किसे कहते हैं ?—पृथिवी आदि भूतोंको लेकर जो कुछ कार्यजात अधिभूत पदसे कहना अभीष्ट है वह अथवा सारा ही कार्यसमूह क्या है ? यहाँ 'च' शब्द समस्त प्रश्नोंके समुच्चयके लिये है । तथा अधिदैव क्या कहा जाता है ? देवताविषयक ध्यान अथवा आदित्यमण्डलादिके समान समस्त देवताओंमें अनुस्यूत चैतन्य ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

(१) अधियज्ञो यज्ञमधिसतो देवतात्मा वा परब्रह्म वा । स च कथं केन प्रकारेण चिन्तनीयः । किं तादात्म्येन किंवाऽत्यन्ताभेदेन । सर्वथाऽपि स किमस्मिन्देहे वर्तते ततो बहिर्वा । देहे चेत्स कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वा । अधियज्ञः कथं कोऽत्रेति न प्रश्नद्वयम् । किंतु सप्रकार एक एव प्रश्न इति द्रष्टव्यम् । परमकारुणिकत्वाद्यासेनापि सर्वोपद्रवनिवारकस्य भगवतोऽनायासेन मत्संदेहोपद्रवनिवारणमीषत्करमुचितमेवेति सूचयन्संबोधयति हे मधुसूदनेति ।

(२) प्रयाणकाले च सर्वकरणग्रामवैयग्र्याच्चित्तसमाधानानुपपत्तेः कथं केन प्रकारेण नियतात्मभिः समाहितचित्तैर्ज्ञेयोऽसीत्युक्तशङ्कासूचनार्थश्चकारः । एतत्सर्वं सर्वज्ञत्वात्परमकारुणिकत्वाच्च शरणागतं मां प्रति कथयेत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

(३) एवं सप्तानां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरं त्रिभिः श्लोकैः—

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

[श्लोकार्थः—हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन है और किस प्रकार उसका चिन्तन करना चाहिये तथा मरनेके समय एकाग्रचित्त हुए पुरुषोंको किस प्रकार आपको जानना चाहिये ? ॥ २ ॥]

(१) अधियज्ञ—यज्ञका अधिष्ठाता जो देवात्मा या परमात्मा है उसे किस प्रकार चिन्तन करना चाहिये—तादात्म्यभावसे अथवा अत्यन्त अभेदरूपसे ? वह सर्वथा इसी देहमें रहता है अथवा इससे बाहर भी है ? यदि देहमें ही है तो वह इसमें कोई बुद्धि आदि है अथवा उनसे भिन्न है ? 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' ये दो प्रश्न नहीं हैं, किन्तु प्रकार-भेदसहित इसे एक ही प्रश्न समझना चाहिये । भगवान् परम कारुणिक हैं, अतः समस्त उपद्रवोंकी निवृत्ति करनेवाले होनेसे उनके लिये मेरे सन्देहरूप उपद्रवको दूर करना कुछ नहीं के बराबर है—यह उचित ही है । इस बातको सूचित करते हुए 'हे मधुसूदन' इस प्रकार सम्बोधन करते हैं ।

(२) तथा मरणके समय समस्त इन्द्रियग्रामकी व्यग्रता होनेपर चित्तका समाहित होना सम्भव न होनेसे नियतात्मा—समाहित-चित्त पुरुषोंके लिये आप किस प्रकार जानने योग्य हैं ? यहाँ 'च' शब्द पूर्व प्रश्नमें कही हुई शंकाको सूचित करनेके लिये है । तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ और परम कारुणिक होनेके कारण मुझ शरणागतसे आप ये सब बातें कहिये ॥ २ ॥

(३) इस प्रकार इन सात प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर तीन श्लोकों द्वारा कहा जाता है ।

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—अक्षर परमात्मा ब्रह्म है, स्वभाव अध्यात्म कहा जाता है तथा स्थावर-जंगम प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला यज्ञ-होम एवं दानरूप त्याग कर्म कहलाता है ॥ ३ ॥]

(१) प्रश्नक्रमेण हि निर्णये प्रष्टुरभीष्टसिद्धिरनायासेन स्यादित्यभिप्रायवान्भगवानत्र श्लोके प्रश्नत्रयं क्रमेण निर्धारितवान् । एवं द्वितीयश्लोकेऽपि प्रश्नत्रयं तृतीयश्लोके त्वेकमिति विभागः । निरुपाधिकमेव ब्रह्मात्र विवक्षितं ब्रह्मशब्देन न तु सोपाधिकमिति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह—अक्षरं न क्षरतीत्यविनाशि अश्नुते वा सर्वमिति सर्वव्यापकम् । "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु" इत्यारभ्योपक्रम्य "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादि मध्ये परामृश्य "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च" इत्युपसंहृतं श्रुत्या । सर्वोपाधिशून्यं सर्वस्य प्रशासितृ, अव्याकृताकाशान्तस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य धारयितृ, अस्मिंश्च शरीरेन्द्रियसंघाते विज्ञातृ, निरुपाधिकं, चैतन्यं तदिह ब्रह्मेति विवक्षितम् । एतदेव विवृणोति—परमिति । परमं स्वप्रकाशपरमानन्दरूपं प्रशासनस्य कृत्स्नजडवर्गधारणस्य च लिङ्गस्य तत्रैवोपपत्तेः । "अक्षरमम्बरान्तधृतेः" (ब्र० सू० १।३।१०) इति न्यायात् ।

(२) न ह्यिहाक्षरशब्दस्य वर्णमात्रे रूढत्वाच्छ्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायमूलकेन "रूढियोगमपहरति" इति न्यायेन रथकारशब्देन जातिविशेषवत्प्रणवाख्यमक्षरमेव ग्राह्यं तत्रोक्तलिङ्गासंभवात् ।

(१) प्रश्नके क्रमसे ही निर्णय करनेपर प्रश्नकर्ताकी अभीष्टसिद्धि सुगमतासे हो सकती है । इसी अभिप्रायसे इस श्लोकमें भगवान्‌ने तीन प्रश्नोंका क्रमशः निर्णय किया है । इसी प्रकार दूसरे श्लोकमें भी तीन प्रश्नोंका तथा तीसरेमें एक प्रश्नका निर्णय हुआ है—ऐसा इनका विभाग है । यहाँ ब्रह्मशब्दसे निरुपाधिक ब्रह्म ही विवक्षित है सोपाधिक नहीं—इस प्रकार पहले प्रश्नका उत्तर देते हैं—अक्षर जो क्षरित (विनष्ट) न हो अर्थात् अविनाशी अथवा जो सबमें व्याप्त हो अर्थात् सर्वव्यापक । श्रुतिने 'हे गार्गि ! ब्राह्मण लोग इस अक्षरको अस्थूल और अनणु बताते हैं' इस प्रकार आरम्भ करके बीचमें हे गार्गि ! इस अक्षरके ही शासनमें सूर्य और चन्द्रमा आकाशमें टिके हुए हैं, 'इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है' इत्यादि विचार करते हुए अन्तमें 'हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओत-प्रोत है, इससे भिन्न कोई और द्रष्टा नहीं है' इस प्रकार उपसंहार किया है । जो समस्त उपाधियोंसे रहित, सर्वत्र शासन करनेवाला, अव्याकृत और आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्चको धारण करनेवाला तथा इस शरीर और इन्द्रियसंघातमें इसका साक्षी निरुपाधिक चैतन्य है उसीको यहाँ ब्रह्म बताना अभीष्ट है । इसीका 'परमम्' इस शब्दसे विवरण करते हैं । परम अर्थात् स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप, क्योंकि प्रशासन और सम्पूर्ण जडवर्गको धारण करनारूप लिंग उसीमें उपपन्न हो सकता है; जैसा कि 'अक्षराम्बरान्तधृतेः" इस सूत्रोक्त न्यायसे सिद्ध होता है ।

(२) 'अक्षर' शब्द वर्णमात्रमें रूढ है, इसलिये श्रुतिलिंगाधिकरण[2] न्यायमूलक

१. पृथ्वीसे लेकर आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण विकारजातको धारण करनेके कारण अक्षर परमात्मा है ।

२. पूर्व मीमांसादर्शनके इस अधिकरणका आरम्भ इस सूत्रसे होता है—'श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (३।३।१४) । इसका तात्पर्य यह है कि [शब्दके अर्थका हेतुभूत] श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्यामें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दुर्बल है, क्योंकि अपने विनियोजकतारूप प्रयोजनके लिये उसे पूर्ववर्तीपर निर्भर रहना पड़ता है । अतः उससे देरीमें अर्थकी प्रतीति होती है । इस नियमके अनुसार श्रुति अर्थात् रूढिसे प्रतीत होनेवाला अर्थ ही सबसे प्रबल है और उससे यौगिकतथा अन्य सब प्रकारके अर्थका बाध हो जाता है ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्मेति च परेण विशेषणात् "आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्" इति न्यायात् । "वर्षासु रथकार आदधीत" इत्यत्र तु जातिविशेषे नास्त्यसंभव इति विशेषः । अनन्यथासिद्धेन तु लिङ्गेन श्रुतेर्बाधः "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इत्यादौ विवृतः । एतावांस्विह विशेष :—अनन्यथासिद्धेन लिङ्गेन श्रुतेर्बाधे यत्र योगः संभवति तत्र स एव गृह्यते मुख्यत्वात्, यथाऽऽज्यैः स्तुवते पृष्टैः स्तुवत इत्यादौ । यथा चात्रैवाक्षरशब्दे । यत्र तु योगोऽपि न संभवति तत्र गौणी वृत्तिर्यथाऽऽकाशप्राणादि-

रूढियौगिक अर्थका बाध कर देती है इस न्यायसे 'रथकार'[1] शब्दसे जैसे जातिविशेषका ग्रहण होता है वैसे इससे प्रणवसंज्ञक अक्षरका ही ग्रहण नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ जो 'अक्षर' पदका अर्थ किया गया है उसमें प्रणववाची लिंगका रहना सम्भव नहीं है । तथा आगे (तेरहवें श्लोकमें) वर्णात्मक अक्षरको 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इस प्रकार 'ओं' यह विशेषण भी दिया गया है, अतः 'निरर्थकतासे प्रतिहतोंकी सबलता और निर्बलतामें विपरीतता हो जाती है' इस न्याय[2]से यहाँ अक्षरपद वर्णवाचक नहीं माना जा सकता । 'वर्षामें रथकारजाति [अग्नियोंका] आधान करे' इस विधिमें तो इतनी विशेषता है कि 'रथकार' शब्दका किसी जातिविशेषमें ग्रहण करना असम्भव नहीं है । जो लिंग किसी प्रकार असम्भव सिद्ध नहीं होता उससे श्रुतिका बाध हो सकता है—इस विषयका विस्तार 'आकाशस्तल्लिङ्गात्'[3] इत्यादि सूत्रोंमें किया गया है । यहाँ इतनी ही विशेषता है कि जब किसी अन्य प्रकार सिद्ध न होनेवाले लिंगसे श्रुतिका बाध हो जाय तो उस प्रसंगमें जहाँ उसका यौगिक अर्थ सम्भव हो वहाँ मुख्य होनेके कारण उसीको ग्रहण किया जाता है, जैसा कि 'आज्यैः स्तुवते पृष्टैः स्तुवते'[4] इत्यादि प्रयोगमें और यहाँ अक्षर शब्दके

१. 'रथकार' शब्दका यौगिक अर्थ है रथ बनानेवाला । वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी हो सकता है । परन्तु रूढिके अनुसार इसका यह अर्थ न लेकर इससे केवल 'खाती' नामकी जाति विशेष ही समझी जाती है ।

२. तात्पर्य यह है कि यद्यपि यौगिक अर्थकी अपेक्षा रूढार्थ प्रबल होता है, किन्तु जहाँ वह निरर्थक हो जाता है वहाँ उनके बलाबलमें विपरीतता हो जाती है, अर्थात् यौगिक अर्थ प्रबल हो जाता है और रूढ अर्थ निर्बल । इसी न्यायसे यहाँ अक्षर शब्दका रूढ अर्थ न लेकर यौगिक अर्थ लेना पड़ेगा ।

३. 'आकाश' शब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि 'सर्वाणि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' (समस्त प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं) इस श्रुतिमें जो भूतोंकी उत्पत्ति बतायी गयी है वह आकाशके ब्रह्मत्वका निरूपक लिंग है, कारण कि उसकी अन्य किसी प्रकार उपपत्ति नहीं हो सकती । अतः इस श्रुतिसे 'आकाश' शब्दको भूताकाशपरक बतानेवाली श्रुतियोंका यहाँ बाध हो जाता है ।

४. यहाँ 'आज्यैः' और 'पृष्टैः' इन पदोंका रूढ अर्थ लिया जाय तो इस वाक्यका अर्थ होगा 'घृतोंसे स्तुति करते हुए पीठोंसे स्तुति करते हुए ।' किन्तु यह अर्थ सर्वथा असंगत है । इसलिये यहाँ श्रुति (रूढि) को त्यागकर लिंगके अनुसार इनका यौगिक अर्थ लिया जाता है । मीमांसा-दर्शनमें इन पदोंके अर्थका विचार किया गया है । वहाँ आज्य शब्दकी 'यत् आजिम् ईयुः तत् आज्यानाम् आज्यत्वम्' और पृष्ठ शब्दकी 'स्पर्शनात् पृष्ठानि' ऐसी निरुक्ति करके दोनोंको कर्मविशेषके अर्थमें माना है । इससे इनका अर्थ सुसंगत हो जाता है ।

शब्देषु । आकाशशब्दस्यापि ब्रह्मणि आ समन्तात्काशत इति योगः संभवतीति चेत्, स एव गृह्यतामिति पञ्चपादीकृतः । तथा च परामर्षं सूत्रं "प्रसिद्धेश्च" (ब्र० सू० १।३।१७) इति । कृतमत्र विस्तरेण ।

(१) तदेवं किं तद्ब्रह्मेति निर्णीतम् । अधुना किमध्यात्ममिति निर्णीयते—यदक्षरं ब्रह्मेत्युक्तं तस्यैव स्वभावः स्वो भावः स्वरूपं प्रत्यक्चैतन्यं न तु स्वस्य भाव इति षष्ठीसमासः, लक्षणाप्रसङ्गात्, षष्ठीतत्पुरुषबाधेन कर्मधारयपरिग्रहस्य श्रुतपदार्थान्वयेन निषादस्थपत्यधिकरणसिद्धत्वात् । तस्माच्च ब्रह्मणः संबन्धि किंतु ब्रह्मस्वरूपमेव । आत्मानं देहमधिकृत्य भोक्तृतया वर्तमानमध्यात्मम्-च्यतेऽध्यात्मशब्देनाभिधीयते न करणग्राम इत्यर्थः ।

(२) यागदानहोमात्मकं वैदिकं कर्मैवात्र कर्मशब्देन विविक्षितमिति तृतीयप्रश्नोत्तरमाह—भूतानां भवनधर्मकाणां सर्वेषां स्थावरजंगमानां भावमुत्पत्तिमुद्भवं वृद्धिं च करोति यो विसर्गस्त्यागस्तच्छास्त्रविहितो यागदानहोमात्मकः स इह कर्मसंज्ञितः । कर्मशब्देनोक्त इति यावत् । तत्र

विषयमें किया गया है । किन्तु जहाँ योग भी होना सम्भव न हो वहाँ गौणीवृत्तिसे तात्पर्य ग्रहण किया जाता है, जैसे आकाश और प्राण आदि शब्दोंमें किया गया है । यदि कहो कि जो 'आ'—सब ओर 'काशते'—प्रकाशित हो उसे 'आकाश' कहते हैं—इस व्युत्पत्तिसे आकाश शब्दमें भी योग होना सम्भव है तो यहाँ भी उसीको ग्रहण कीजिये, [हमें इसमें क्या आपत्ति है ?]—ऐसा पञ्चपदीकार का कथन है । यही बात परमर्षि वेदव्यासका 'प्रसिद्धेश्च'[1] यह सूत्र भी कहता है । यहाँ और विस्तारकी अपेक्षा नहीं है ।

(१) इस प्रकार 'वह ब्रह्म क्या है ?' इस प्रश्नका निर्णय हुआ, अब 'अध्यात्म क्या है' इसका निर्णय किया जाता है । जिस अक्षरको 'ब्रह्म' ऐसा कहा गया है उसीका स्व-भाव—स्वरूप अर्थात् प्रत्यक्चैतन्य ही अध्यात्म है । यहाँ स्वस्य भावः (अपना भाव इस प्रकार षष्ठी समास नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करनेसे लक्षणाका प्रसंग उपस्थित होगा तथा षष्ठी तत्पुरुषको छोड़कर कर्मधारय समासको ग्रहण करना तो श्रुत पदोंका अन्वय हो जानेके कारण निषादस्थपति[2] अधिकरणसे सिद्ध है । अतः ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं किन्तु ब्रह्मस्वरूप ही आत्मा—देहमें अधिष्ठित होकर भोक्तारूपसे वर्तमान हुआ प्रत्यक्चैतन्य अध्यात्म शब्दसे कहा जाता है—इन्द्रियग्राम नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

(२) यहाँ यज्ञ, दान और होमरूप वैदिक कर्म ही 'कर्म' शब्दसे कहना अभीष्ट है—यह तीसरे प्रश्नका उत्तर कहते हैं । जो विसर्ग अर्थात् उस-उस शास्त्रसे प्रतिपादित यज्ञ, दान एवं होमरूप त्याग सम्पूर्ण भूतों—भवन (उत्पत्ति) धर्मा स्थावर-जंगम प्राणियोंके भाव—उत्पत्ति और उद्भव—वृद्धिको करता है वही यहाँ कर्मसंज्ञावाला है अर्थात् 'कर्म' शब्दसे कहा गया है । देवताओंके उद्देश्यसे जो द्रव्यत्याग किया जाता है उसे 'याग'

---

१. आकाश' शब्दकी ब्रह्मके अर्थमें प्रसिद्धि होनेसे भी इसे उस अर्थमें ग्रहण किया गया है ।

२. मीमांसा-दर्शन अध्याय ६ पाद १ सूत्र ५१-५२ का नाम निषादस्थपति अधिकरण है । वहाँ यह विचार किया गया है कि निषाद-मल्लाहको कहते हैं और स्थपति-मेंगरको । अतः यदि निषाद-स्थपति में षष्ठीतत्पुरुष समास माना जाय तो इस पदका कोई सुसंगत अर्थ नहीं होगा । इसलिये यहाँ 'निषादजातीय स्थपति' इस प्रकार कर्मधारय समास समझना चाहिये ।

देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो याग उत्तिष्ठद्धोमो वषट्कारप्रयोगान्तः । स एवोपविष्टहोमः स्वाहाकारप्रयोगान्त आसेचनपर्यन्तो होमः । परस्वत्वापत्तिपर्यन्तः स्वत्वत्यागो दानम् । सर्वत्र च त्यागांशोऽनुगतः । तस्य च भूतभावोद्भवकरत्वम्—

"अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥"

इति स्मृतेः, "ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः" इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ३ ॥

(१) संप्रत्यग्निमप्रश्नत्रयस्योत्तरमाह—

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

(२) क्षरतीति क्षरो विनाशी भावो यत्किंचिज्जनिमद्वस्तु भूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवतीत्यधिभूतमुच्यते । पुरुषो हिरण्यगर्भः समष्टिलिङ्गात्मा व्यष्टिसर्वकरणानुग्राहकः "आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" इत्युपक्रम्य "स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन ओषत्तस्मात्पुरुषः" इत्यादिश्रुत्या प्रतिपादितः । चकारात्—

"स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ॥"

इत्यादिस्मृत्या च प्रतिपादितः । अधिदैवतं दैवतान्यादित्यादीनधिकृत्य चक्षुरादिकरणान्यनुगृह्णातीति । तथोच्यते ।

कहते हैं । इसमें अन्तमें वषट्कारका प्रयोग करते हुए खड़े होकर होम किया जाता है । वही, जब अन्तमें स्वाहाकारका प्रयोग करते हुए बैठकर आहुतियाँ दी जाती हैं तो, आसेचनपर्यन्त होनेपर 'होम' कहा जाता है । दूसरेके अधिकारमें करते हुए अपनी वस्तुका त्याग करना 'दान' है । इन सभीमें त्यागका अंश अनुगत है और वह प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं वृद्धि करनेवाला है । यह बात 'अग्निमें विधिवत् डाली हुई आहुति सूर्यको प्राप्त होती है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है' इस स्मृतिसे तथा 'वे ये हवनकी हुई दोनों आहुतियाँ ऊपर जाती हैं' इस श्रुतिसे भी सिद्ध होती है ॥ ३ ॥

(१) अब आगेके तीन प्रश्नोंका उत्तर देते हैं—

[श्लोकार्थः—देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! विनाशशील प्राणिसमुदाय अधिभूत है, समष्टि लिंग शरीरका अभिमानी हिरण्यगर्भ अधिदैव है और इस देहमें मैं ही अधियज्ञ हूँ ॥ ४ ॥]

(२) जो क्षरित हो वह क्षर—विनाशी भाव—कोई भी उत्पन्न होनेवाला पदार्थ, जो भूत अर्थात् प्राणिसमुदायके लिये हो 'अधिभूत' कहा जाता है । पुरुष समष्टि लिङ्ग देहरूप हिरण्यगर्भको कहते हैं वह समस्त व्यष्टि जीवोंकी इन्द्रियोंका अनुग्राहक है । 'आरम्भमें यह पुरुषाकार आत्मा ही था' यहाँसे आरम्भ करके 'वह क्योंकि इस समस्त प्रपञ्चसे पहले था और उसने समस्त पापोंको दग्ध कर दिया था, इसलिये 'पुरुष' कहलाता था' इस प्रकार श्रुतिने उसका प्रतिपादन किया है । 'च' शब्द होनेका तात्पर्य यह है कि 'वही सबसे पहला देहधारी है, वही 'पुरुष' कहलाता है । वह प्राणियोंका आदिकर्ता ब्रह्मा सबसे पहले विद्यमान था, इत्यादि स्मृतिसे भी उसीका प्रतिपादन किया गया है । अग्नि एवं आदित्यादि देवताओंका अधिष्ठाता होकर वह नेत्रादि इन्द्रियोंपर अनुग्रह करता है, इसलिये 'अधिदैवत' कहा जाता है ।

(१) अधियज्ञः सर्वयज्ञाधिष्ठाता सर्वयज्ञफलदायकश्च । सर्वयज्ञाभिमानिनी विष्ण्वाख्या देवता "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः । स च विष्णुरधियज्ञोऽहं वासुदेव एव न मद्भिन्नः कश्चित् । अत एव परब्रह्मणः सकाशादत्यन्तामेदेनैव प्रतिपत्तव्य इति कथमिति व्याख्यातम् । स चात्रास्मिन्मनुष्यदेहे यज्ञरूपेण वर्तते बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तो विष्णुरूपत्वात् । एतेन स किमस्मिन्देहे ततो बहिर्वा, देहे चेत्कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो वेति संदेहो निरस्तः । मनुष्यदेहे च यज्ञस्यावस्थानं यज्ञस्य मनुष्यदेहनिर्वर्त्यत्वात् । "पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते" इत्यादिश्रुतेः । हे देहभृतां वर सर्वप्राणिनां श्रेष्ठेति संबोधयन्प्रतिक्षणं मत्संभाषणात्कृतकृत्यस्त्वमेतद्बोधयोग्योऽसीति प्रोत्साहयत्यर्जुनं भगवान् । अर्जुनस्य सर्वप्राणिश्रेष्ठत्वं भगवद्नुग्रहातिशयभाजनत्वात्प्रसिद्धमेव ॥ ४ ॥

(२) इदानीं प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसीति सप्तमस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

(३) मामेव भगवन्तं वासुदेवमधियज्ञं सगुणं निर्गुणं वा परममक्षरं ब्रह्म न त्वध्यात्मादिकं स्मरन्सदा चिन्तयंस्तत्संस्कारपाटवात्समस्तकरणग्रामवैयर्थ्यवत्यन्तकालेऽपि स्मरन्कलेवरं मुक्त्वा शरीरेऽहंममाभिमानं त्यक्त्वा प्राणवियोगकाले यः प्रयाति, सगुणध्यानपक्षेऽग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल इत्यादि-

(१) 'यज्ञ ही विष्णु है' इस श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण यज्ञोंका अभिमानी विष्णु नामका देवता अधियज्ञ—समस्त यज्ञोंका अधिष्ठाता अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञफलोंका देनेवाला है और वह अधियज्ञ विष्णु मैं वासुदेव ही हूँ, मुझसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है । इसलिये अधियज्ञको परब्रह्मसे सर्वथा अभेदरूपसे ही जानना चाहिये—इस प्रकार द्वितीय श्लोकके 'कथम्' पदकी व्याख्या हुई । बुद्धि आदिसे व्यतिरिक्त विष्णुरूप होनेके कारण वह इस मनुष्य देहमें यज्ञरूपसे विद्यमान है । इससे 'वह इस देहमें है या इससे बाहर, यदि देहमें है तो कौन है—बुद्धि आदि या उनसे भिन्न ?' इस सन्देहका निराकरण हो जाता है । मनुष्यदेहमें ही यज्ञकी स्थिति है, क्योंकि यज्ञ मनुष्य-देहसे ही निष्पन्न होनेवाला है । यह बात 'पुरुष ही यज्ञ है, इसीसे यज्ञ पुरुष है, क्योंकि पुरुषने ही यज्ञका विस्तार किया है और वही इसका विस्तार करता है' इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होती है । हे देहभृतांवर अर्थात् हे समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठ—इस प्रकार सम्बोधन करके भगवान् अर्जुनको उत्साहित करते हैं कि तुम प्रतिक्षण मेरे सम्भाषणसे कृतकृत्य हो रहे हो और इस ज्ञानके योग्य हो । भगवान्‌के अनुग्रहका अत्यन्त पात्र होनेके कारण अर्जुनका समस्त प्राणियोंसे श्रेष्ठ होना प्रसिद्ध ही है ॥ ४ ॥

(२) अब 'प्राणत्यागके समय तुम्हें किस प्रकार जानना चाहिये' इस सातवें प्रश्नका उत्तर देते हैं—

श्लोकार्थः—अन्तकालमें जो पुरुष मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५ ॥

(३) जो पुरुष सगुण या निर्गुण अधियज्ञ भगवान् वासुदेवरूप मुझ अक्षर पर ब्रह्मका ही, अध्यात्मादिका नहीं, सर्वदा स्मरण—चिन्तन करनेसे उसका संस्कार जम जानेके कारण समस्त इन्द्रियसमुदायकी व्यग्रतासे युक्त अन्तकालमें भी मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर त्यागकर अर्थात् प्राणवियोगके समय शरीरमें अहन्ता-ममताका अभिमान

वक्ष्यमाणेन देवयानमार्गेण पितृयान (ण) मार्गापेक्षयेण याति स उपासको मद्भावं मद्रूपतां निर्गुणब्रह्मभावं हिरण्यगर्भलोकभोगान्ते याति प्राप्नोति । निर्गुणब्रह्मस्मरणपक्षे तु कलेवरं त्यक्त्वा प्रयातीति लोकदृष्ट्यभिप्रायं "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते" इति श्रुतेस्तस्य प्राणोत्क्रमणाभावेन गत्यभावात् । स मद्भावं साक्षादेव याति "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (बृ० उ० ४।४।६) इति श्रुतेः । नास्यत्र देहव्यतिरिक्त आत्मनि मद्भावप्राप्तौ वा संशयः, आत्मा देहाद्यतिरिक्तो न वा, देहव्यतिरेकेऽपि ईश्वराद्भिन्नो न वेति संदेहो न विद्यते "छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" (मु० उ० २।२।८) इति श्रुतेः । अत्र च कलेवरं मुक्त्वा प्रयातीति देहाद्भिन्नत्वं मद्भावं यातीति चेश्वरादभिन्नत्वं जीवस्योक्तमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

(१) अन्तकाले भगवन्तमनुध्यायतो भगवत्प्राप्तिर्नियतेति वदितुमन्यदपि यत्किंचित्तत्काले ध्यायतो देहं त्यजतस्तत्प्राप्तिरवश्यंभाविनीति दर्शयति—

यं यं चापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

(२) न केवलं मां स्मरन्मद्भावं यातीति नियमः किं तर्हि यं यं चापि भावं देवताविशेषं, चकारादन्यदपि यत्किंचिद्वा स्मरंश्चिन्तयन्नन्ते प्राणवियोगकाले कलेवरं त्यजति स तं तमेव स्मर्यमाणं

त्यागकर जाता है—सगुणध्यानपक्षमें 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' इत्यादि श्लोकसे कहे जानेवाले एवं पितृयानमार्गसे श्रेष्ठ देवयानमार्गसे जाता है—वह उपासक हिरण्यगर्भ लोकका भोग करनेके अनन्तर मद्भाव—मद्रूपता अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है । निर्गुणब्रह्मपक्षमें तो 'देह त्यागकर जाता है' यह कथन लोकदृष्टिके अभिप्रायसे है, क्योंकि 'उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता, वे यहीं लीन हो जाते हैं' इस श्रुतिके अनुसार उसके प्राणोंका उत्क्रमण न होनेसे जाना भी नहीं हो सकता; अतः वह 'ब्रह्म हुआ ही ब्रह्ममें लीन हो जाता है' इस श्रुतिके अनुसार साक्षात्‌रूपसे ही मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है । यहाँ आत्माके देहसे व्यतिरिक्त होनेमें तथा उसके मेरे स्वरूपको प्राप्त होनेमें सन्देह नहीं है । 'उसके सब संशय क्षीण हो जाते हैं' इस श्रुतिके अनुसार उसे यह सन्देह नहीं रहता कि आत्मा देहसे भिन्न है या नहीं तथा भिन्न होनेपर भी ईश्वरसे भिन्न है या नहीं । यहाँ यह समझना चाहिये कि 'देह त्यागकर जाता है' इससे जीवकी देहसे भिन्नता और 'मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है' इससे उसकी ईश्वरसे अभिन्नता बतायी गयी है ॥ ५ ॥

(१) 'अन्तकालमें भगवान्‌का ध्यान करनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति होनी निश्चित है' यह बतानेके लिये 'उस समय चाहे जिस वस्तुका ध्यान करते हुए शरीर त्याग करनेवालेको भी उसकी प्राप्ति अवश्यम्भाविनी है' यह दिखाते हैं—

[श्लोकार्थः—कुन्तीनन्दन ! मरनेके समय उपासक जिस-जिस भावको भी स्मरण करते हुए देह त्याग करता है उसी भावसे भावित होकर वह उसे ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥]

(२) मेरा स्मरण करनेसे मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है—केवल यही नियम नहीं है, तो फिर क्या है ? जिस-जिस भाव—देवताविशेषको तथा 'च' शब्दसे और भी चाहे जिसको स्मरण—चिन्तन करते हुए अन्तमें—प्राणवियोगके समय जो देहको त्यागता है वह उस स्मरण किये जानेवाले भावको ही प्राप्त होता है, किसी औरको नहीं । हे

भावमेव नान्यमेति प्राप्नोति । हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रत्वेन स्नेहातिशयं सूचयति । तेन चावश्यानुग्राह्यत्वं तेन च प्रतारणाशङ्काशून्यत्वमिति ।

(१) अन्तकाले स्मरणोद्यमासंभवेऽपि पूर्वाभ्यासजनिता वासनैव स्मृतिहेतुरित्याह—सदा सर्वदा तस्मिन्देवताविशेषादौ भावो भावना वासना तद्भावः स भावितः संपादितो येन स तथा भावितत्तद्भाव इत्यर्थः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः । तद्भावेन तच्चिन्तनेन भावितो वासितचित्त इति वा ॥ ६ ॥

(२) यस्मादेवं पूर्वस्मरणाभ्यासजनिताऽन्त्या भावनैव तदानीं परवशस्य देहान्तरप्राप्तौ कारणम्—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

(१) तस्मान्मद्विषयकान्त्यभावनोत्पत्त्यर्थं सर्वेषु कालेषु पूर्वमेवाऽऽदरेण मां सगुणमीश्वरमनुस्मर चिन्तय । यद्यन्तःकरणाशुद्धिवशान्न शक्नोषि सततमनुस्मर्तुं ततोऽन्तःकरणशुद्धये युध्य च, अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं कुरु । युध्येति युध्यस्वेत्यर्थः । एवं च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाशुद्धिक्षयान्मयि भगवति वासुदेवेऽर्पिते संकल्पाध्यवसायलक्षणे मनोबुद्धी येन त्वया स त्वमीदृशः

कौन्तेय !—इस सम्बोधनसे पिताकी बहिनका पुत्र होनेसे अपना अत्यन्त स्नेह सूचित करते हैं । इससे अर्जुनकी अवश्य अनुग्रहपात्रता और अपने द्वारा ठगे जानेकी शंकाका अभाव भी सूचित करते हैं ।

(१) अन्तकालमें स्मरणका उद्योग होना असम्भव होनेपर भी पूर्वाभ्यासजनित वासना ही स्मृतिका कारण हो जाती है—यह बात 'सदा तद्भावभावितः' इससे कहते हैं । जिसने सदा—सर्वदा उस देवताविशेषादिमें भाव-भावना अर्थात् वासना भावित—सम्पादित की है वह अर्थात् उस देवताविशेषके स्वरूपकी भावनासे युक्त । 'आहिताग्नि' आदि पद आकृतिगणके अन्तर्गत हैं, इसलिये भावित पदको परनिपात हुआ है । अथवा इसका ऐसा तात्पर्य है कि तद्भाव—उस देवताविशेषके चिन्तनसे भावित—वासनायुक्त चित्तवाला ॥ ६ ॥

(२) क्योंकि इस प्रकार पूर्वस्मरणके अभ्याससे उत्पन्न हुई अन्तकालकी भावना ही उस समय परवश हुए जीवकी देहान्तर-प्राप्तिमें कारण है—

[श्लोकार्थः—इसलिये सब समय तुम मेरा निरन्तर स्मरण करो और [यदि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण ऐसा न कर सको तो उसकी शुद्धिके लिये] युद्ध करो । मेरेमें अर्पण कर दिये हैं मन और बुद्धि जिसने ऐसे तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करोगे ॥ ७ ॥]

(३) इसलिये मेरे विषयमें अन्तिम भावनाकी उत्पत्तिके लिये प्रथम तो हर समय आदरपूर्वक मुझ सगुण ईश्वरका अनुस्मरण—चिन्तन करो । यदि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण निरन्तर स्मरण न कर सको तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये युद्ध ही करो । अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये युद्धादि स्वधर्मका पालन करो । युध्य अर्थात् युध्यस्व[1] । इस

---

1. क्योंकि युध् धातु परस्मैपदी नहीं, आत्मनेपदी है ।

सर्वदा मच्चिन्तनपरः सन्मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि । असंशयो नात्र संशयो विद्यते । इदं च सगुणब्रह्मचिन्तनमुपासकानामुक्तं तेषामन्त्यभावनासापेक्षत्वात् । निर्गुणब्रह्मज्ञानिनां तु ज्ञानसमकालमेवाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः सिद्धत्वान्नास्त्यन्त्यभावनापेक्षेति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

(१) तदेवं सप्तानामपि प्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा प्रयाणकाले भगवदनुस्मरणस्य भगवत्प्राप्तिलक्षणं फलं विवरीतुमारभते—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

(२) अभ्यासः सजातीयप्रत्ययप्रवाहो मयि विजातीयप्रत्ययान्तरितः पष्ठे प्राग्व्याख्यातः । स एव योगः समाधिस्तेन युक्तं तत्रैव व्याप्तमात्माकारवृत्तिशून्यं यच्चेतस्तेन चेतसाऽभ्यासपाटवेन नान्यगामिना नान्यत्र विषयान्तरे निरोधप्रयत्नं विनाऽपि गन्तुं शीलमस्येति तेन परमं निरतिशयं पुरुषं पूर्णं दिव्यं दिवि द्योतनात्मन्यादित्ये भवं "यश्चासावादित्ये" इति श्रुतेः । याति गच्छति हे पार्थ । अनुचिन्तयन्, शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन् ॥ ८ ॥

(३) पुनरपि तमेवानुचिन्तयितव्यं गन्तव्यं च पुरुषं विशिनष्टि—

प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिका क्षय होनेपर जिसने मुझ भगवान् वासुदेवमें अपने संकल्प और निश्चयरूप मन एवं बुद्धि समर्पित कर दिये हैं ऐसे तुम सर्वदा मेरे चिन्तनमें तत्पर रहकर मुझे ही प्राप्त कर लोगे । असंशयः—इसमें संशय नहीं है ।

यह सगुण ब्रह्मचिन्तन उपासकोंके लिए कहा गया है, क्योंकि उन्हें अन्तकालिक भावनाकी अपेक्षा होती है । निर्गुण ब्रह्मज्ञानियोंकी अज्ञाननिवृत्तिरूप मुक्ति तो ज्ञान होनेके समय ही हो जाती है, इसलिए उन्हें अन्तकालिक भावनाकी अपेक्षा नहीं है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ७ ॥

(१) इस प्रकार सातों प्रश्नोंका उत्तर कहकर अब मृत्युके समय भगवच्चिन्तनके भगवत्प्राप्तिरूप फलका स्पष्टीकरण करनेके लिए आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! अभ्यासरूप समाधिसे युक्त और किसी अन्य विषयमें न जानेवाले चित्तसे शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार चिन्तन करनेसे जीव सूर्यमण्डलमें स्थित परम पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥]

(२) मेरेमें विजातीय प्रत्ययके व्यवधानसे रहित सजातीय प्रत्ययका प्रवाह करना अभ्यास है । इसकी व्याख्या पहले छठे अध्यायमें की जा चुकी है । वही है योग अर्थात् समाधि, उससे युक्त—अन्य वृत्तिसे शून्य उसीमें लगी हुई है आत्माकार वृत्ति जिसकी ऐसा जो चित्त है, अभ्यासकी दृढतासे अन्यत्र न जानेवाले अर्थात् निरोधका प्रयत्न न करनेपर भी जिसका अन्यत्र—अन्य विषयमें जानेका स्वभाव नहीं है उस चित्तसे हे पार्थ ! अनुचिन्तन करते हुए अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार निरन्तर ध्यान करते हुए मनुष्य दिव्य—द्योतनात्मक आदित्यमण्डलमें रहनेवाले, जैसा कि 'जो यह आदित्यमण्डलमें पुरुष है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, परम—निरतिशयपूर्ण पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

(३) फिर भी उस निरन्तर चिन्तनीय और प्राप्तव्य पुरुषके ही विशेषण कहते हैं—

भावमेव नान्यमेति प्राप्नोति । हे कौन्तेयेति पितृष्वसृपुत्रत्वेन स्नेहातिशयं सूचयति । तेन चावश्यानुग्राह्यत्वं तेन च प्रतारणाशङ्काशून्यत्वमिति ।

(१) अन्तकाले स्मरणोद्यमासंभवेऽपि पूर्वाभ्यासजनिता वासनैव स्मृतिहेतुरित्याह—सदा सर्वदा तस्मिन्देवताविशेषादौ भावो भावना वासना तद्भावः स भावितः संपादितो येन स तथा भाविततद्भाव इत्यर्थः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः । तद्भावेन तच्चिन्तनेन भावितो वासितचित्त इति वा ॥ ६ ॥

(२) यस्मादेवं पूर्वस्मरणाभ्यासजनिताऽन्त्या भावनैव तदानीं परवशस्य देहान्तरप्राप्तौ कारणम्—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

(३) तस्मान्मद्विषयकान्त्यभावनोत्पत्त्यर्थं सर्वेषु कालेषु पूर्वमेवाऽऽदरेण मां सगुणमीश्वरमनुस्मर चिन्तय । यद्यन्तःकरणाशुद्धिवशान्न शक्नोषि सततमनुस्मर्तुं ततोऽन्तःकरणशुद्धये युध्य च, अन्तःकरणशुद्धयर्थं युद्धादिकं स्वधर्मं कुरु । युध्येति युध्यस्वेत्यर्थः । एवं च नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनाशुद्धिक्षयान्मयि भगवति वासुदेवेऽर्पिते संकल्पाध्यवसायलक्षणे मनोबुद्धी येन त्वया स त्वमीदृशः

कौन्तेय !—इस सम्बोधनसे पिताकी बहिनका पुत्र होनेसे अपना अत्यन्त स्नेह सूचित करते हैं । इससे अर्जुनकी अवश्य अनुग्रहपात्रता और अपने द्वारा ठगे जानेकी शंकाका अभाव भी सूचित करते हैं ।

(१) अन्तकालमें स्मरणका उद्योग होना असम्भव होनेपर भी पूर्वाभ्यासजनित वासना ही स्मृतिका कारण हो जाती है—यह बात 'सदा तद्भावभावितः' इससे कहते हैं । जिसने सदा—सर्वदा उस देवताविशेषादिमें भाव-भावना अर्थात् वासना भावित—सम्पादित की है वह अर्थात् उस देवताविशेषके स्वरूपकी भावनासे युक्त । 'आहिताग्नि' आदि पद आकृतिगणके अन्तर्गत हैं, इसलिये भावित पदको परनिपात हुआ है । अथवा इसका ऐसा तात्पर्य है कि तद्भाव—उस देवताविशेषके चिन्तनसे भावित—वासनायुक्त चित्तवाला ॥ ६ ॥

(२) क्योंकि इस प्रकार पूर्वस्मरणके अभ्याससे उत्पन्न हुई अन्तकालकी भावना ही उस समय परवश हुए जीवकी देहान्तर-प्राप्तिमें कारण है—

[श्लोकार्थः—इसलिये सब समय तुम मेरा निरन्तर स्मरण करो और [यदि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण ऐसा न कर सको तो उसकी शुद्धिके लिये] युद्ध करो । मेरेमें अर्पण कर दिये हैं मन और बुद्धि जिसने ऐसे तुम निःसन्देह मुझे ही प्राप्त करोगे ॥ ७ ॥]

(३) इसलिये मेरे विषयमें अन्तिम भावनाकी उत्पत्तिके लिये प्रथम तो हर समय आदरपूर्वक मुझ सगुण ईश्वरका अनुस्मरण—चिन्तन करो । यदि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण निरन्तर स्मरण न कर सको तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये युद्ध ही करो । अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये युद्धादि स्वधर्मका पालन करो । युध्य अर्थात् युध्यस्व[1] । इस

1. क्योंकि युध् धातु परस्मैपदी नहीं, आत्मनेपदी है ।

सर्वदा मच्चिन्तनपरः सन्मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि । असंशयो नात्र संशयो विद्यते । इदं च सगुणब्रह्मचिन्तनमुपासकानामुक्तं तेषामन्त्यभावनासापेक्षत्वात् । निर्गुणब्रह्मज्ञानिनां तु ज्ञानसमकालमेवाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाया मुक्तेः सिद्धत्वान्नास्त्यन्त्यभावनापेक्षेति द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

(१) तदेवं सप्तानामपि प्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा प्रयाणकाले भगवच्चिन्तनस्य भगवत्प्राप्तिलक्षणं फलं विवरीतुमारभते—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

(२) अभ्यासः सजातीयप्रत्ययप्रवाहो मयि विजातीयप्रत्ययायानन्तरितः षष्ठे प्राग्व्याख्यातः । स एव योगः समाधिस्तेन युक्तं तत्रैव व्यापृतमात्माकारवृत्तिशून्यं यच्चेतस्तेन चेतसाऽभ्यासपाटवेन नान्यगामिना नान्यत्र विषयान्तरे निरोधप्रयत्नं विनाऽपि गन्तुं शीलमस्येति तेन परमं निरतिशयं पुरुषं पूर्णं दिव्यं दिवि द्योतनात्मन्यादित्ये भवं "यश्चासावादित्ये" इति श्रुतेः । याति गच्छति हे पार्थ । अनुचिन्तयन्, शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन् ॥ ८ ॥

(३) पुनरपि तमेवानुचिन्तयितव्यं गन्तव्यं च पुरुषं विशिनष्टि—

प्रकार नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिका क्षय होनेपर जिसने मुझ भगवान् वासुदेवमें अपने संकल्प और निश्चयरूप मन एवं बुद्धि समर्पित कर दिये हैं ऐसे तुम सर्वदा मेरे चिन्तनमें तत्पर रहकर मुझे ही प्राप्त कर लोगे । असंशयः—इसमें संशय नहीं है ।

यह सगुण ब्रह्मचिन्तन उपासकोंके लिए कहा गया है, क्योंकि उन्हें अन्तकालिक भावनाकी अपेक्षा होती है । निर्गुण ब्रह्मज्ञानियोंकी अज्ञाननिवृत्तिरूप मुक्ति तो ज्ञान होनेके समय ही हो जाती है, इसलिए उन्हें अन्तकालिक भावनाकी अपेक्षा नहीं है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ७ ॥

(१) इस प्रकार सातों प्रश्नोंका उत्तर कहकर अब मृत्युके समय भगवच्चिन्तनके भगवत्प्राप्तिरूप फलका स्पष्टीकरण करनेके लिए आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! अभ्यासरूप समाधिसे युक्त और किसी अन्य विषयमें न जानेवाले चित्तसे शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार चिन्तन करनेसे जीव सूर्यमण्डलमें स्थित परम पुरुषको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥]

(२) मेरेमें विजातीय प्रत्ययके व्यवधानसे रहित सजातीय प्रत्ययका प्रवाह करना अभ्यास है । इसकी व्याख्या पहले छठे अध्यायमें की जा चुकी है । वही है योग अर्थात् समाधि, उससे युक्त—अन्य वृत्तिसे शून्य उसीमें लगी हुई है आत्माकार वृत्ति जिसकी ऐसा जो चित्त है, अभ्यासकी दृढतासे अन्यत्र न जानेवाले अर्थात् निरोधका प्रयत्न न करनेपर भी जिसका अन्यत्र—अन्य विषयमें जानेका स्वभाव नहीं है उस चित्तसे हे पार्थ ! अनुचिन्तन करते हुए अर्थात् शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार निरन्तर ध्यान करते हुए मनुष्य दिव्य—द्योतनात्मक आदित्यमण्डलमें रहनेवाले, जैसा कि 'जो यह आदित्यमण्डलमें पुरुष है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, परम—निरतिशयपूर्ण पुरुषको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

(३) फिर भी उस निरन्तर चिन्तनीय और प्राप्तव्य पुरुषके ही विशेषण कहते हैं—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥

(१) कविं क्रान्तदर्शिनं तेनातीतानागताद्यशेषवस्तुदर्शित्वेन सर्वज्ञं, पुराणं चिरंतनं सर्वकारणत्वादनादिमिति यावत् । अनुशासितारं सर्वस्य जगतो नियन्तारमणोरणीयांसं सूक्ष्मादप्याकाशादेः सूक्ष्मतरं तदुपादानत्वात् । सर्वस्य कर्मफलजातस्य धातारं विचित्रतया प्राणिभ्यो विभक्तारं 'फलमत उपपत्तेः' इति न्यायात् । न चिन्तयितुं शक्यमपरिमितमहिमत्वेन रूपं यस्य तम् । आदित्यस्येव सकलजगदवभासको वर्णः प्रकाशो यस्य तं सर्वस्य जगतोऽवभासकमिति यावत् । अत एव तमसः परस्तात्तमसो मोहान्धकारादज्ञानलक्षणात्परस्तात्प्रकाशरूपत्वेन तमोविरोधिनमिति यावत् । अनुस्मरेच्चिन्तयेद्यः कश्चिदपि स तं यातीति पूर्वेणैव सम्बन्धः । स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति परेण वा सम्बन्धः ॥ ९ ॥

(२) कदा तदनुस्मरणे प्रयत्नातिरेकोऽभ्यर्थ्यते तदाह—

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

[श्लोकार्थः—जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सम्पूर्ण जगत्के नियामक, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, समस्त कर्मफलोंका विभाग करनेवाले, अचिन्त्य रूपवाले, सूर्यके समान प्रकाशमय और अज्ञानरूप अन्धकारसे अतीत पुरुषका निरन्तर चिन्तन करता है [वह उसीको प्राप्त हो जाता है] ॥ ९ ॥

(१) कवि—क्रान्तदर्शी अतः भूत-भविष्यत् आदि सभी वस्तुओंको देखनेवाला होनेसे सर्वज्ञ, पुराण—बहुत समयके अर्थात् सबका कारण होनेसे अनादि, अनुशासिता—सम्पूर्ण जगत्के नियन्ता, अणुसे भी अणु—आकाशादि सूक्ष्म वस्तुओंसे भी उनका उपादान कारण होनेसे अधिक सूक्ष्म, समस्त कर्मफलसमुदायके धाता—'फलमत उपपत्तेः'[1] इस सूत्रमें कहे हुए न्यायसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे कर्मोंका विभाग करनेवाले, अपरिमित महिमाशील होनेके कारण जिसके रूपका चिन्तन नहीं किया जा सकता उसे तथा सूर्यके समान सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करनेवाला है वर्ण-प्रकाश जिसका उसे अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के प्रकाशकको, इसीसे जो तमस—अज्ञानरूप मोहमय अन्धकारसे परस्तात्—परे है अर्थात् प्रकाशरूप होनेके कारण अन्धकारका विरोधी है उसका जो कोई भी अनुस्मरण—चिन्तन करता है वह उसे प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार इसका पूर्व श्लोकसे ही सम्बन्ध है । अथवा वह उस दिव्य परमपुरुषको प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार अगले श्लोकसे इसका सम्बन्ध है ॥ ९ ॥

(२) उसका अनुस्मरण करनेमें अधिक प्रयत्नकी अपेक्षा कब होती है, सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—मरणके समय जो उपासक भक्तियुक्त होकर योगबलसे भ्रूमध्यमें प्राणको स्थिर कर अविचल चित्तसे उसका स्मरण करता है वह सम्यक् प्रकारसे उस दिव्य परमपुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥]

1. जीवोंको अपने कर्मोंका फल ईश्वरसे ही मिलता है, क्योंकि यही युक्तियुक्त है ।

(१) प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेनैकाग्रेण मनसा तं पुरुषं, योऽनुस्मरेदित्यनुवर्तते । कीदृशः, भक्त्या परमेश्वरविषयेण परमेण प्रेम्णा युक्तः । योगस्य समाधेर्बलेन तज्जनितसंस्कारसमूहेन व्युत्थानसंस्कारविरोधिना च युक्तः । एवं प्रथमं हृदयपुंडरीके वशीकृत्य तत ऊर्ध्वगामिन्या सुषुम्नया नाड्या गुरूपदिष्टमार्गेण भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्य आज्ञाचक्रे प्राणमावेश्य स्थापयित्वा सम्यगप्रमत्तो ब्रह्मरन्ध्रादुत्क्राम्य स एवमुपासकस्तं कविं पुराणमनुशासितारमित्यादिलक्षणं परं पुरुषं दिव्यं द्योतनात्मकमुपैति प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

(२) इदानीं येन केनचिदभिधानेन ध्यानकाले भगवदनुस्मरणे प्राप्ते—

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥" (कठ० १।२।१५)

इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितत्वेन प्रणवेनैवाभिधानेन तदनुस्मरणं कर्तव्यं नान्येन मन्त्रादिनेति नियन्तुमुपक्रमते—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥

(३) यदक्षरमविनाशि ओंकाराख्यं ब्रह्म वेदविदो वदन्ति 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादिवचनैः सर्वविशेषनिवर्तनेन प्रतिपादयन्ति । न केवलं

(१) प्रयाणकालमें—अन्त समयमें अचल—एकाग्र मनसे जो उस परम पुरुषका स्मरण करता है—इसकी पूर्व श्लोकसे अनुवृत्ति होती है । कैसा उपासक ? भक्तिसे—परमेश्वरविषयक परमप्रेमसे युक्त तथा योग—समाधिके बलसे अर्थात् व्युत्थान संस्कारके विरोधी समाधिजनित संस्कारसमूह से युक्त वह इस प्रकारका उपासक पहले हृदयकमलमें प्राणको अपने अधीन कर फिर गुरुके उपदेश किये हुए मार्गसे ऊपरकी ओर जानेवाली सुषुम्ना नाडीद्वारा भूमिकाजयके क्रमसे प्राणोंको भ्रुकुटियोंके बीचमें आज्ञाचक्रमें स्थापित कर तथा उन्हें सम्यक् प्रकारसे—सावधानतापूर्वक ब्रह्मरन्ध्रसे उत्क्रान्त कर 'कविं पुराणमनुशासितारम्' इत्यादि लक्षणोंसे युक्त दिव्य—प्रकाशमय परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥

(२) अब ध्यानके समय चाहे-जिस नामसे भगवान्का चिन्तन प्राप्त होनेपर 'समस्त वेदवाक्य जिस पदका निरूपण करते हैं, सम्पूर्ण तप जिसकी प्राप्ति बतलाते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं उस पदका मैं तुम्हारे प्रति संक्षेपमें वर्णन करता हूँ' इस श्रुतिसे प्रतिपादित होनेके कारण प्रणव द्वारा ही उसका स्मरण करना चाहिए, किसी दूसरे मन्त्रादिसे नहीं—ऐसा नियम करनेके लिए भगवान् आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस अक्षरका वेदवेत्ता निरूपण करते हैं, जिसमें विरक्त यतिजन प्रवेश करते हैं, तथा जिसकी इच्छा करनेवाले नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं उस पदका मैं तुम्हारे प्रति संक्षेपसे वर्णन करता हूँ ॥ ११ ॥

(३) जिस अक्षर—अविनाशी ओंकारसंज्ञक ब्रह्मका वेदवेत्ता 'हे गार्गि ! इस अक्षरको ब्रह्मवेत्ता अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ कहते हैं' इत्यादि वचनोंसे समस्त विशेषणोंकी निवृत्ति करते हुए प्रतिपादन करते हैं । केवल प्रमाणकुशलोंने ही उसका प्रतिपादन किया हो—ऐसी बात नहीं है अपि तु मुक्तपुरुषोंका प्राप्य होनेके कारण उन्होंने भी उसका अनुभव किया है; इसीसे कहते हैं—अपना स्वरूपभूत होनेके कारण जिस]

प्रमाणकुशलैरेव प्रतिपन्नं किं तु मुक्तोपसृप्यतया तैरप्यनुभूतमित्याह—विशन्ति स्वरूपतयो सम्यग्दर्शनेन यदक्षरं यतयो यत्नशीलाः संन्यासिनो वीतरागा निस्पृहाः। न केवलं सिद्धैरनुभूतं साधकानामपि सर्वोऽपि प्रयासस्तदर्थ इत्याह—यदिच्छन्तो ज्ञातुं नैष्ठिका ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासादि तपश्चरन्ति यावज्जीवं तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेणाहं प्रवक्ष्ये प्रकर्षेण कथयिष्यामि यथा तव श्रोधो भवति तथा। अतस्तदक्षरं कथं मया ज्ञेयमित्याकुलो मा भूरित्यभिप्रायः।

(१) अत्र च परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण प्रतिमावत्प्रतीकरूपेण च 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तमधिगच्छति' इत्यादिवचनैर्मन्दमध्यमबुद्धीनां क्रममुक्तिफलकमुपासनमुक्तं तदेवेहापि विवक्षितं भगवता। अतो योगधारणासहितमोंकारोपासनं तत्फलं स्वस्वरूपं ततोऽपुनरावृत्तिस्तन्मार्गश्चेत्यर्थजातमुच्यते यावदध्यायसमाप्ति ॥ ११ ॥

(२) तत्र प्रवक्ष्य इति प्रतिज्ञातमर्थं सोपकरणमाह द्वाभ्याम्—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अक्षरमें सम्यग्ज्ञान द्वारा यति—यत्नशील वीतराग—निःस्पृह संन्यासी प्रवेश करते हैं। वह केवल सिद्धों द्वारा अनुभवमें आनेवाला नहीं है; साधकोंका भी सारा प्रयास उसीके लिये है; इसलिये कहते हैं—जिसे जाननेकी इच्छावाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य गुरुकुलवास आदि तपका आचरण करते हैं उस अक्षरसंज्ञक पद—प्राप्तव्य वस्तुका मैं तुम्हारे प्रति संक्षेपसे प्रकर्षपूर्वक, जिससे कि वह तुम्हारी समझमें आ जाय इस प्रकार वर्णन करूँगा। अतः 'उस अक्षरको मैं किस प्रकार समझ सकूँगा ?' इस तरह तुम व्याकुल मत होओ—ऐसा इसका अभिप्राय है।

(१) यहाँ 'जो इस तीन मात्रावाले ॐ इस अक्षरसे परम पुरुषका ध्यान करता है वह उसे प्राप्त हो जाता है' इत्यादि वचनोंके अनुसार मन्द और मध्यम बुद्धिवाले साधकोंके लिये परब्रह्मके वाचकरूपसे तथा प्रतिमाके समान प्रतीकरूपसे क्रममुक्तिरूप फलवाली ओंकारकी उपासना कही गयी है वही यहाँ भगवान्‌को भी कहनी अभीष्ट है। अतः इस अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त योगधारणासहित ओंकारकी उपासना, उसका फल अपने स्वरूपका ज्ञान, उससे फिर जन्म न लेना और उस अपुनरावृत्तिका मार्ग—इन सब विषयोंका वर्णन किया गया है ॥ ११ ॥

(२) अब 'प्रकर्षसे कहूँगा' इस प्रकार प्रतिज्ञा किये हुए विषयका उसके साधनोंके सहित दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो उपासक समस्त इन्द्रियद्वारोंको रोककर, मनका हृदयदेशमें निरोध कर, अपने प्राणोंको भ्रूमध्यमें स्थिर करके और योगधारणामें स्थित होकर ॐ इस एक अक्षर रूप ब्रह्मका उच्चारण कर मेरा निरन्तर स्मरण करता हुआ देह त्यागकर जाता है वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १२-१३ ॥]

(१) सर्वाणीन्द्रियद्वाराणि संयम्य स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य विषयदोषदर्शनाभ्यासात्तद्विमुखतामापादितैः श्रोत्रादिभिः शब्दादिविषयग्रहणमकुर्वन्। बाह्येन्द्रियनिरोधेऽपि मनसः प्रचारः स्यादित्यत आह—मनो हृदि निरुध्य च, अभ्यासवैराग्याभ्यां पष्ठे व्याख्याताभ्यां हृदयदेशे मनो निरुध्य निर्वृत्तिकतामापाद्य च, अन्तरपि विषयचिन्तामकुर्वन्नित्यर्थः। एवं बहिरन्तरुपलब्धिद्वाराणि सर्वाणि सनिरुध्य क्रियाद्वारं प्राणमपि सर्वतो निगृह्य भ्रूमिजयक्रमेण मूर्ध्न्याधाय भ्रुवोर्मध्ये तदुपरि च गुरूपदिष्टमार्गेणाऽऽवेश्याऽऽत्मनो योगधारणामात्मविषयसमाधिरूपां धारणामास्थितः। आत्मन इति देवतादिव्यावृत्त्यर्थम् ॥ १२ ॥

(२) ओमित्येकमक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्प्रतिमावद्ब्रह्मप्रतीकत्वाद्वा ब्रह्म व्याहरन्नुच्चरन्। ओमिति व्याहरन्नित्येतावतैव निर्वाहे एकाक्षरमित्यनायासकथनेन स्तुत्यर्थम्। ओमिति व्याहरन्नेकाक्षरमेकमद्वितीयमक्षरमविनाशि सर्वव्यापकं ब्रह्म मामोमित्यस्यार्थं स्मरन्निति वा। तेन प्रणवं जपंस्तदभिधेयभूतं च मां चिन्तयन्मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यजन्यः प्रयाति स याति देवयानमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तद्भोगान्ते परमां प्रकृष्टां गतिं मद्रूपाम्।

(३) अत्र पतञ्जलिना "तीव्रसंवेगानामासन्नः" समाधिलाभः, इत्युक्त्वा "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" इत्युक्तम्। प्रणिधानं च व्याख्यातं "तस्य वाचकः प्रणवः", "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इति। "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" इति च। इह तु साक्षादेव ततः परमगतिलाभ इत्युक्तम्। तस्मादविरोधा-

(१) समस्त इन्द्रियरूप द्वारोंका संयम कर—अपने-अपने विषयोंसे उन्हें हटाकर अर्थात् विषयोंमें दोषदर्शनके अभ्याससे उन-उन विषयोंसे विमुख की हुई श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे शब्दादि विषयोंको ग्रहण न करते हुए, बाह्य इन्द्रियोंका निरोध होनेपर भी मन जा सकता है, इसलिये कहते हैं—मनको हृदयदेशमें रोककर अर्थात् भीतर भी विषय-चिन्तन न करते हुए इस प्रकार बाहर और भीतरकी उपलब्धिके समस्त द्वारोंको रोककर क्रियाके द्वारभूत प्राणको भी सब ओरसे रोककर उसे भूमिकाजयके क्रमसे मूर्धामें स्थित कर भ्रुकुटियोंके बीचमें और उसके ऊपर गुरुके उपदेश किये हुए मार्गसे स्थापित कर योगधारणा—आत्मविषयिणी समाधिरूपा धारणामें स्थित हो—यहाँ 'आत्मनः' यह पद देवतादिकी व्यावृत्तिके लिये है ॥ १२ ॥

(२) ॐ इस एक अक्षरको, जो ब्रह्मका वाचक तथा प्रतिमाके समान ब्रह्मका प्रतीक होनेसे ब्रह्म ही है उच्चारण करते हुए। यहाँ 'ओमिति व्याहरन्' (ॐ इस प्रकार उच्चारण करते हुए) इतना कहनेसे ही निर्वाह हो सकता था, अतः 'एकाक्षरम्' यह उसके उच्चारणमें परिश्रमका अभाव दिखाकर उसकी स्तुतिके लिये है। अथवा इसका ऐसा तात्पर्य है कि ॐ ऐसा उच्चारण करते हुए और ॐ इसके अर्थभूत एक अक्षर अर्थात् एक-अद्वितीय अक्षर—अविनाशी सर्वव्यापक ब्रह्मरूप मुझका स्मरण करते हुए। अतः प्रणवका जप और उसके वाच्यरूप मेरा चिन्तन करते हुए जो मूर्धन्य नाडीसे देहको त्यागकर जाता है वह देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर उसका भोग समाप्त होनेपर मुझ भगवद्रूप परम—प्रकृष्ट गतिको प्राप्त होता है।

(३) यहाँ महर्षि पतञ्जलिने 'तीव्र संवेगवालोंको समाधिकी प्राप्ति समीप ही होती है' ऐसा कहकर 'अथवा ईश्वर प्रणिधानसे उसकी प्राप्ति हो सकती है' ऐसा कहा है। तथा प्रणिधानकी व्याख्या इस प्रकार की है 'उस ईश्वरका वाचक प्रणव है उसका जप और उसके अर्थकी भावना ईश्वर-प्रणिधान है।' तथा ऐसा भी कहा है 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।' यहाँ साक्षात् ही उससे परमगतिकी प्राप्ति बतायी गयी है।

योमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्नात्मनो योगधारणामास्थित इति व्याख्येयम्। विचित्रफलत्वोपपत्तेर्वा न विरोधः ॥ १३ ॥

(१) य एवं वायुनिरोधवैधुर्येण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यक्तुं स्वेच्छया न शक्नोति किं तु कर्मक्षयेणैव परवशो देहं त्यजति तस्य किं स्यादिति तदाह—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

(२) न विद्यते मदन्यविषये चेतो यस्य सोऽनन्यचेताः सततं निरन्तरं नित्यशो यावज्जीवं यो मां स्मरति तस्य स्ववशतया परवशतया वा देहं त्यजतोऽपि नित्ययुक्तस्य सततसमाहितचित्तस्य योगिनः सुलभः सुखेन लभ्योऽहं परमेश्वर इतरेषामतिदुर्लभोऽपि हे पार्थ, तवाहमतिसुलभो मा भैषीरित्यभिप्रायः।

(३) अत्र तस्येति षष्ठी शेषे सम्बन्धसामान्ये। कर्तरि न लोकेत्यादिना निषेधात्। अत्र चानन्यचेतस्त्वेन सत्कारोऽत्यादरः सततमिति नैरन्तर्यं नित्यश इति दीर्घकालत्वं स्मरणस्योक्तम्। तेन "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" इति पातञ्जलं मतमनुसृतं भवति। तत्र स इत्यभ्यास उक्तोऽपि स्मरणपर्यवसायी। तेन यावज्जीवं प्रतिक्षणं विक्षेपान्तरशून्यतया भगवदनु-

अतः इस अर्थसे विरोध न आवे इसलिये 'ॐ इस एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण करते हुए तथा मेरा स्मरण करते हुए योगधारणामें स्थित होकर' ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। अथवा विचित्र फलकी उपपत्ति होनेके कारण भी इसका उससे विरोध नहीं है ॥ १३ ॥

(१) जो उपासक इस प्रकार वायुनिरोध न कर सकनेके कारण प्राणोंको भ्रुकुटियों के बीचमें ले जाकर मूर्धदेशतक जानेवाली नाडीसे स्वेच्छापूर्वक देहका त्याग नहीं कर सकता, अपितु कर्मोंका क्षय होनेसे विवश होकर ही देहको त्यागता है उसका क्या होता है—इस विषयमें कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष चित्तको दूसरी ओर न ले जाकर मेरा निरन्तर स्मरण करता है हे पार्थ! उस सर्वदा समाहितचित्त योगीको मैं सुगमतासे मिल सकता हूँ ॥ १४ ॥]

(२) जिसका चित्त मेरे सिवा किसी दूसरे विषयमें नहीं लगता उसे अनन्यचेता कहते हैं। ऐसा जो सतत—निरन्तर अर्थात् यावज्जीवन मेरा स्मरण करता है उस नित्ययुक्त-निरन्तर समाहितचित्त योगीके स्वाधीनतासे अथवा पराधीनतासे देह त्यागनेपर मैं परमेश्वर, दूसरोंके लिये बहुत दुर्लभ होनेपर भी हे पार्थ! उसके लिये सुलभ—सुगमतासे प्राप्त होने योग्य हूँ। अभिप्राय यह है कि तुम्हारे लिये मैं बहुत सुलभ हूँ तुम डरो मत।

(३) यहाँ 'तस्य' यह शेषे षष्ठी सम्बन्धसामान्यमें है, क्योंकि 'न लोका' इत्यादि सूत्रसे उसका कर्ता अर्थमें निषेध किया है। यहाँ अनन्यचेता होनेसे सत्कार और अति आदर, 'सततम्' शब्दसे नैरन्तर्य और 'नित्यशः' शब्दसे स्मरणकी दीर्घकालता बतायी गयी है। इसलिये इस कथन से 'वह अभ्यास दीर्घकाल, नैरन्तर्य और सत्कारपूर्वक सेवन किये जानेपर दृढभूमिवाला होता है' इस पातञ्जल मतका अनुसरण किया गया है। यहाँ 'सततम्' शब्दसे अभ्यास कहा जानेपर भी वह स्मरणमें ही पर्यवसान पानेवाला होना चाहिये। अतः जीवनपर्यन्त अन्य विक्षेपसे शून्य रहकर प्रतिक्षण निरन्तर भगवान्‌का

चिन्तनमेव परमगतिहेतुर्मूर्धन्यया नाड्या तु स्वेच्छया प्राणोत्क्रमणं भवतु न वेति नातीवाऽऽग्रहः ॥ १४ ॥

(१) भगवन्तं प्राप्ताः पुनरावर्तन्ते न वेति संदेहे नाऽऽवर्तन्त इत्याह—

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

(२) मामीश्वरं प्राप्य पुनर्जन्म मनुष्यादिदेहसंबन्धं, कीदृशं दुःखालयं गर्भवासयोनिद्वारनिर्गमनाद्यनेकदुःखस्थानम्। अशाश्वतमस्थिरं दृष्टनष्टप्रायं नाऽऽप्नुवन्ति पुनर्नाऽऽवर्तन्त इत्यर्थः। यतो महात्मानो रजस्तमोमलरहितान्तःकरणाः शुद्धसत्त्वाः समुत्पन्नसम्यग्दर्शनाः मल्लोकभोगान्ते परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मुक्तिं गतास्ते। अत्र मां प्राप्य सिद्धिं गता इति वदतोपासकानां क्रममुक्तिर्दर्शिता ॥

(३) भगवन्तमुपागतानां सम्यग्दर्शिनामपुनरावृत्तौ कथितायां ततो विमुखानामसम्यग्दर्शिनां पुनरावृत्तिरर्थसिद्धेत्याह—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

(४) आब्रह्मभुवनात्, भवन्त्यत्र भूतानीति भुवनं लोकः। अभिविधावाङाः। ब्रह्मलोकेन

चिन्तन ही परमगतिका कारण है—मूर्धन्य नाडीसे स्वेच्छापूर्वक प्राणोंका उत्क्रमण हो अथवा न हो—इसमें विशेष आग्रह नहीं है ॥ १४ ॥

(१) भगवान्‌को प्राप्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म होता है या नहीं—ऐसा सन्देह होनेपर कहते हैं कि 'नहीं होता'—

[श्लोकार्थः—मुझे प्राप्त होकर सर्वोत्कृष्ट मुक्तिपदको प्राप्त हुए महात्मा लोग फिर दुःखका स्थानरूप अनित्य पुनर्जन्म नहीं पाते ॥ १५ ॥]

(२) मुझ ईश्वरको पाकर फिर जन्म अर्थात् मनुष्यादि देहके सम्बन्धको प्राप्त नहीं होते। किस प्रकारके देहसम्बन्धको प्राप्त नहीं होते? दुःखालय—गर्भवास और योनिद्वारसे निकलना आदि अनेकों दुःखके स्थानको तथा अशाश्वत—अस्थिर—प्रायः देखते-देखते नष्ट हो जानेवालेको। तात्पर्य यह है कि वे पुनः जन्म-मरणमें नहीं पड़ते। क्योंकि वे महात्मा—रजोगुण-तमोगुणशून्य अन्तःकरणवाले-शुद्धचित्त अर्थात् जिन्हें तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है ऐसे हैं, वे मेरे लोकका भोग समाप्त होनेपर परम—सबसे श्रेष्ठ संसिद्धि—मुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं' यहाँ 'मुझे प्राप्त होकर मुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं' ऐसा कहते हुए भगवान्‌ने उपासकोंकी क्रममुक्ति दिखायी है ॥ १५ ॥

(३) भगवान्‌को प्राप्त हुए सम्यग्दर्शियोंकी अपुनरावृत्तिका प्रतिपादन करनेपर यह बात स्वतःसिद्ध हो जाती है कि उनसे विमुख जो असम्यग्दर्शी हैं उनकी पुनरावृत्ति होती है—यही बात भगवान् कहते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिकी प्राप्ति करानेवाले हैं, किन्तु हे कुन्तीनन्दन! मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ॥ १६ ॥]

(४) आब्रह्मभुवनात्—जिसमें प्राणी होते हैं उसे भुवन-लोक कहते हैं। यहाँ आङ् उपसर्ग अभिविधि (व्याप्ति) अर्थमें है। ब्रह्मलोकके सहित सारे ही लोक मुझसे

सह सर्वेऽपि लोका मद्विमुखानामसम्यग्दर्शिनां भोगभूमयः पुनरावर्तिनः पुनरावर्तनशीलाः । ब्रह्मभवनादिति पाठे भवनं वासस्थानमिति स एवार्थः । हेऽर्जुन स्वतःप्रसिद्धमहापौरुष ।

(१) किं तद्वदेव त्वां प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्नेत्याह—मामीश्वरमेकमुपेत्य तु । तुलोकान्तरवैलक्षण्योतनार्थोऽवधारणार्थो वा । मामेव प्राप्य निर्वृतानां हे कौन्तेय मातृतोऽपि प्रसिद्धमहात्मभाव पुनर्जन्म न विद्यते पुनरावृत्तिर्नास्तीत्यर्थः । अत्रार्जुन कौन्तेयेति संबोधनद्वयेन स्वरूपतः कारणतश्च शुद्धिर्ज्ञानसंपत्तये सूचिता ।

(२) अत्रेयं व्यवस्था, ये क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिर्ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनानां ब्रह्मणा सह मोक्षः । ये तु पञ्चाग्निविद्यादिभिरतक्रतवोऽपि तत्र गतास्तेषामवश्यंभावि पुनर्जन्म । अत एव क्रममुक्त्यभिप्रायेण "ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते", "अनावृत्तिः शब्दात्" इति श्रुतिसूत्रयोरुपपत्तिः । इतरत्र "तेषामिह न पुनरावृत्तिः", इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते" इतीहेममिति च विशेषणाद्क्रमनाधिकरणकल्पादन्यत्र पुनरावृत्तिः प्रतीयते ॥ १६ ॥

(३) ब्रह्मलोकसहिताः सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः,
(४) कस्मात् ।
(५) कालपरिच्छिन्नत्वादित्याह—

विमुख असम्यग्दर्शियोंके भोगस्थान हैं और पुनरावर्ती—पुनर्जन्मके देनेवाले हैं । जहाँ 'ब्रह्मभवनात्' ऐसा पाठ है वहाँ भवन वासस्थानको कहा है, अतः वही अर्थ है । हे अर्जुन ! स्वतःसिद्ध महान् पौरुषवाले !

(१) क्या इसी प्रकार आपको प्राप्त हुओंकी भी पुनरावृत्ति नहीं होती ? इसपर कहते हैं—मुझ एक अक्षरको प्राप्त होकर तो—यहाँ 'तु' शब्द अन्य लोकोंसे अपनी विलक्षणता दिखानेके लिये अथवा निश्चय अर्थमें है—हे कौन्तेय अर्थात् मातृपक्षसे भी सुप्रसिद्ध महान् प्रभाववाले मुझे प्राप्त होकर शान्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती । यहाँ अर्जुन और कौन्तेय इन दोनों सम्बोधनों द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिके लिये स्वरूपतः और कारणदृष्टिसे शुद्धि सूचित की गयी है ।

(२) यहाँ ऐसी व्यवस्था समझनी चाहिये—जो साधक क्रममुक्ति जिनका फल है ऐसी उपासनाओंसे ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए हैं वहीं सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करनेवाले उन्हीं लोगोंका ब्रह्माके साथ मोक्ष होता है । किन्तु जो ब्रह्मोपासक न होनेपर भी पञ्चाग्निविद्यादिके प्रभावसे वहाँ जाते हैं उनका पुनर्जन्म तो अवश्यम्भावी है । इसीसे क्रममुक्तिके अभिप्रायसे तो 'वे ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाते हैं और फिर जन्म नहीं लेते' 'श्रुतिप्रमाण होनेसे उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती' इत्यादि श्रुति और सूत्रोंकी उत्पत्ति लगती है, तथा दूसरी जगह 'उनकी (इह) इस लोकमें पुनरावृत्ति नहीं होती' 'वे (इमम्) इस मनुष्यलोकमें नहीं आते' इन प्रमाणोंमें जो 'इह' और 'इमम्' विशेषण हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस कालमें उनका ब्रह्मलोकमें गमन होता है उससे भिन्न कल्पोंमें पुनरावृत्ति होती है ॥ १६ ॥

(३) ब्रह्मलोक सहित सारे ही लोक पुनरावर्तनशील हैं ।
(४) क्यों ?
(५) क्योंकि वे कालसे परिच्छिन्न हैं । यही बात अब कहते हैं—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

(१) मनुष्यपरिमाणेन सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि चतुर्युगानि (णि) पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् । "चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते" इति हि पौराणिकं वचनम् । तादृशं ब्रह्मणः प्रजापतेरहर्दिनं यत्ते विदुः, तथा रात्रिं युगसहस्रान्तां चतुर्युगसहस्रपर्यन्तां, ये विदुरित्यनुवर्तते, तेऽहोरात्रविदस्त एवाहोरात्रविदो योगिनो जनाः । ये तु चन्द्रार्कगत्यैव विदुस्ते नाहोरात्रविदः स्वल्पदर्शित्वादित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

(२) यथोक्तैरहोरात्रैः पञ्चमासादिगणनया पूर्णं वर्षशतं प्रजापतेः परमायुरिति कालपरिच्छिन्नत्वेनानित्योऽसौ । तेन तल्लोकात्पुनरावृत्तिर्युक्तैव । ये तु ततोऽर्वाचीनास्तेषां तदहर्मात्रपरिच्छिन्नत्वात्तल्लोकेभ्यः पुनरावृत्तिरिति किमु वक्तव्यमित्याह—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

(३) अत्र दैनंदिनसृष्टिप्रलययोरेव वक्तुमुपक्रान्तत्वात्तत्र चाऽऽकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देनाव्याकृतावस्था नोच्यते । किं तु प्रजापतेः स्वापावस्थैव । स्वापावस्थः प्रजापतिरिति यावत् । अह-

---

[श्लोकार्थः—जो लोग ब्रह्माके दिनको सहस्रयुगपर्यन्त और उसकी रात्रिको सहस्रयुगमें समाप्त होनेवाली जानते हैं वे ही वस्तुतः दिन और रातका परिमाण जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥]

(१) मनुष्योंके परिमाणसे सहस्रयुगपर्यन्त—सहस्रयुग अर्थात् सहस्र चतुर्युग है पर्यन्त—अवसान जिनका ऐसा । 'सहस्र चतुर्युग ही ब्रह्माका एक दिन कहे जाते हैं' ऐसा पुराणका वचन भी है । ऐसा जो ब्रह्मा—प्रजापतिका दिन है उसे जो जानते हैं इसी प्रकार रात्रिको सहस्रयुगमें समाप्त होनेवाली अर्थात् सहस्र चतुर्युगतक रहनेवाली जो जानते हैं—इस प्रकार इसका सम्बन्ध है । वे ही अहोरात्रविदः—दिन और रात्रिका रहस्य जाननेवाले योगी पुरुष हैं । जो केवल सूर्य और चन्द्रमाकी गतिसे ही दिन-रातको जानते हैं वे अल्पदर्शी होनेके कारण दिन-रातको जाननेवाले नहीं हैं—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ १७ ॥

(२) उक्त दिन-रातके क्रमसे पक्ष-मास आदिकी गणना करते हुए पूरे सौ वर्षकी प्रजापतिकी परमायु है । इस प्रकार कालसे परिच्छिन्न होनेके कारण वह अनित्य है । अतः उसके लोकसे पुनरावृत्ति होनी उचित ही है । जो उससे पीछे हुए हैं वे तो उसके एक दिनमात्रमें ही परिच्छिन्न हैं, अतः उनके लोकसे पुनरावृत्ति होती है—इसमें तो कहना ही क्या है ? यही बात अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—प्रजापतिकी जाग्रदवस्थारूप दिनके आनेपर उसकी सुषुप्तिरूप अव्यक्तावस्थासे ही शरीर एवं विषय आदि समस्त भोगभूमियाँ प्रकट होती हैं तथा उसकी सुषुप्तिरूपा रात्रिके आनेपर उस अव्यक्तसंज्ञक प्रजापतिमें ही वे लीन हो जाती हैं ॥ १८ ॥]

(३) यहाँ दैनन्दिन सृष्टि और प्रलयके वर्णनका ही उपक्रम किया गया है, उसमें आकाशादि रहते ही हैं, इसलिये यहाँ 'अव्यक्त' शब्दसे अव्याकृत अवस्था नहीं कही गयी, अपि तु प्रजापतिकी स्वापावस्था ही कही गयी है; अर्थात् स्वापावस्थामें स्थित प्रजापति

रागमे प्रजापतेः प्रबोधसमयेऽव्यक्तात्तत्स्वापावस्थारूपाद् व्यक्तयः शरीरविषयादिरूपा भोगभूमयः प्रभवन्ति व्यवहारक्षमतयाऽभिव्यज्यन्ते । रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले पूर्वोक्ताः सर्वा अपि व्यक्तयः प्रलीयन्ते तिरो भवन्ति यत आविर्भूतास्तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके कारणे प्रागुक्ते स्वापावस्थे प्रजापतौ ॥१८॥

(१) एवमाशु विनाशित्वेऽपि संसारस्य न निवृत्तिः क्लेशकर्मादिभिरवशतया पुनः पुनः प्रादुर्भावात्प्रादुर्भूतस्य च पुनः क्लेशादिवशेनैव तिरोभावात् । संसारे विपरिवर्तमानानां सर्वेषामपि प्राणिनामस्वातन्त्र्यादवशानामेव जन्ममरणादिदुःखप्रबन्धसंबन्धादलमनेन संसारेणेतिवैराग्योत्पत्त्यर्थं समाननामरूपत्वेन च पुनः पुनः प्रादुर्भावात्कृतनाशाकृताभ्यागमपरिहारार्थं चाऽऽह—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

(२) भूतग्रामो भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन्कल्पे स्थितः स एवायमेतस्मिन्कल्पे जायमानोऽपि न तु प्रतिकल्पमन्योऽन्यश्च । असत्कार्यवादानभ्युपगमात् ।

"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इति श्रुतेः ॥

"समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च" इति न्यायाच्च । अवशः इत्यविद्याकामकर्मादिपरतन्त्रः । हे पार्थ स्पष्टमितरत् ॥ १९ ॥

ही कहा गया है । दिन आनेपर—प्रजापतिके जगनेके समय उसकी स्वापावस्थारूप अव्यक्तसे व्यक्तियाँ—शरीर एवं विषयादिरूप भोगभूमियाँ उत्पन्न होतीं—व्यवहारयोग्य होकर अभिव्यक्त होती हैं । तथा रात्रि आनेपर उसकी सुषुप्तिके समय पूर्वोक्त सभी व्यक्तियाँ जहाँसे आविर्भूत हुई थीं उस अव्यक्तसंज्ञक कारणमें अर्थात् पूर्वोक्त सुषुप्तिस्थ प्रजापतिमें ही लीन-तिरोहित हो जाती हैं ॥ १८ ॥

(१) इस प्रकार तुरन्त नष्ट हो जानेवाला होनेपर भी संसारकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अविद्यादि क्लेश और कर्मोंके कारण उसका पुनः पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है और उत्पन्न हुए उस संसारका पुनः क्लेशादिके कारण ही तिरोभाव हो जानेसे संसारमें चक्कर काटते हुए सभी प्राणियोंकी अस्वतन्त्रताके कारण ही जन्म-मरणरूप दुःखपरम्पराका सम्बन्ध बना रहता है । अतः 'इस संसारकी आवश्यकता नहीं है' इस प्रकार वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये अथवा समान नाम और रूपोंसे पुनः पुनः प्रकट हो जानेके कारण किये हुए कर्मके नाश और बिना किये हुए कर्मके फलकी प्राप्तिका परिहार करनेके लिये कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ—प्रजापतिकी रात्रि आनेपर यह वही भूतसमुदाय कर्मवश उत्पन्न हो-होकर लीन हो जाता है तथा उसका दिन आनेपर फिर उत्पन्न हो जाता है ॥१९॥]

(२) हे पार्थ ! भूतग्राम अर्थात् जो स्थावर-जंगमरूप भूतसमुदाय पूर्वकल्पमें विद्यमान था वही इस कल्पमें भी उत्पन्न होता रहता है । प्रत्येक कल्पमें नये-नये भूतोंकी उत्पत्ति होती हो—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि असत्कार्यवाद हम स्वीकार नहीं करते । 'विधाताने पहलेके समान ही सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग इनकी रचना की' इस श्रुतिसे तथा 'प्रत्येक कल्पमें समान नाम और रूपवाले होनेसे सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय स्वीकार करनेमें भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ऐसा ही देखा गया है और ऐसी ही स्मृति भी है' इस न्यायसे भी यही बात सिद्ध होती है । अवश अर्थात् अविद्या, कामना और कर्म आदिके अधीन होकर । शेष सब स्पष्ट है ॥ १९ ॥

(१) एवमवशानामुत्पत्तिविनाशप्रदर्शनेनाऽऽब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन इत्येतद्व्याख्यात-मधुना मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यत इत्येतद्व्याचष्टे द्वाभ्याम्—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

(२) तस्माच्चराचरस्थूलप्रपञ्चकारणभूताद्धिरण्यगर्भाख्यादव्यक्तात्परो व्यतिरिक्तः श्रेष्ठो वा तस्यापि कारणभूतः । व्यतिरेकेऽपि सालक्षण्यं स्यादिति नेत्याह—अन्योऽत्यन्तविलक्षणः "न तस्य प्रतिमा अस्ति" इति श्रुतेः । अव्यक्तो रूपादिहीनतया चक्षुराद्यगोचरो भावः कल्पितेषु सर्वेषु कार्येषु सद्रूपेणानुगतः । अत एव सनातनो नित्यः । तुशब्दो हेयादनित्यादव्यक्तादुपादेयत्वं नित्यस्याव्यक्तस्य वैलक्षण्यं सूचयति । एतादृशो यो भावः स हिरण्यगर्भ इव सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति उत्पद्यमानेष्वपिनोत्पद्यत इत्यर्थः । हिरण्यगर्भस्य तु कार्यस्य भूताभिमानित्वात्तदुत्पत्तिविनाशाभ्यां युक्तावेवोत्पत्तिविनाशौ न तु तदनभिमानिनोऽकार्यस्य परमेश्वरस्येति भावः ॥ २० ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

(३) यो भाव इहाव्यक्त इत्यक्षर इति चोक्तोऽन्यत्रापि श्रुतिषु स्मृतिषु च तं भावमाहुः

---

(१) इस प्रकार अविद्यादिके अधीन पुरुषोंके उत्पत्ति और नाश दिखाकर 'ब्रह्मलोकपर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं' इसकी व्याख्या की गयी । अब दो श्लोकोंसे इसकी व्याख्या करते हैं कि मुझे प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता ।

[श्लोकार्थः—हिरण्यगर्भ नामक उस अव्यक्त से भिन्न जो दूसरा इन्द्रियादिका अविषय सनातन भाव है वह समस्त भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥]

(२) उस चराचर स्थूल प्रपञ्चके कारणभूत हिरण्यगर्भ संज्ञक अव्यक्तसे पर—भिन्न अथवा श्रेष्ठ—उसका भी कारणभूत । व्यतिरिक्त होनेपर भी वह उसीके-से लक्षणोंवाला होगा ? इस पर कहते हैं—अन्य अर्थात उससे अत्यन्त विलक्षण है, जैसा कि 'उसकी कोई प्रतिमा (प्रतिमूर्ति) नहीं है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अव्यक्त—रूपादिरहित होनेके कारण जो नेत्रादिका अविषयभूत भाव है तथा समस्त कल्पित भावोंमें सद्रूपसे अनुगत है । इसलिये जो सनातन—नित्य है । 'तु' शब्द हेय अनित्य अव्यक्तसे इस नित्य अव्यक्तकी उपादेयता और विलक्षणता सूचित करता है । ऐसा जो भाव है वह हिरण्यगर्भके समान समस्त भूतोंके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता तथा उनके उत्पन्न होनेपर उत्पन्न नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है । उसका कार्य जो हिरण्यगर्भ है वह तो भूतोंमें अभिमान रखनेवाला है अतः उनके उत्पत्ति-विनाशके द्वारा उसके उत्पत्ति और विनाश होने उचित ही हैं; किन्तु उनमें अभिमान न रखनेवाले अकार्यभूत परमेश्वरके उत्पत्ति और नाश नहीं हो सकते—ऐसा इसका भाव है ॥ २० ॥

[श्लोकार्थः—जिसे 'अव्यक्त' और 'अक्षर' ऐसा कहा गया है उसीको श्रुति और स्मृतियोंने परम गति कहा है । जिसे पाकर मनुष्य फिर संसार में नहीं लौटता वही मेरा सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है ॥ २१ ॥]

(३) जिस भावको यहाँ तथा अन्यत्र श्रुति और स्मृतियोंमें भी अव्यक्त और अक्षर कहा गया है, उसीको 'पुरुषसे श्रेष्ठ कोई नहीं है वह श्रेष्ठताकी सीमा और परा गति

श्रुतयः स्मृतयश्च "पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" इत्याद्याः। परमासुत्पत्तिविनाश-शून्यस्वप्रकाशपरमानन्दरूपां गतिं पुरुषार्थविश्रान्तिम्। यं भावं प्राप्य न पुनर्निवर्तन्ते संसाराय तद्धाम स्वरूपं मम विष्णोः परमं सर्वोत्कृष्टम्। मम धामेति राहोः शिर इतिवन्नेदकल्पनया षष्ठी। अतोऽहमेव परमा गतिरित्यर्थः ॥ २१ ॥

(१) इदानीम्—"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः"
इति प्रागुक्तं भक्तियोगमेव तत्प्राप्त्युपायमाह—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

(२) स परो निरतिशयः पुरुषः परमात्माऽहमेवानन्यया न विद्यतेऽन्यो विषयो यस्यां तया प्रेमलक्षणया भक्त्यैव लभ्यो नान्यथा। स क इत्यपेक्षायामाह—यस्य पुरुषस्यान्तःस्थान्यन्तर्वर्तीनि भूतानि सर्वाणि कार्याणि कारणान्तर्वर्तित्वात्कार्यस्य। अत एव येन पुरुषेण सर्वमिदं कार्यजातं ततं व्याप्तं—

"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्"
"वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"
"यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"
"स पर्यगाच्छुक्रम्" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ॥ २२ ॥

है' इत्यादि श्रुति स्मृतियोंने परम—उत्पत्ति-विनाश शून्य स्वप्रकाशपरमानन्दरूपा गति अर्थात् पुरुषार्थकी समाप्ति कहा है। तथा जिस भावको प्राप्त होनेपर फिर संसारके लिये नहीं लौटते वही मेरा विष्णुका परम—सबसे श्रेष्ठ धाम-स्वरूप है। 'ममधाम' (मेरा धाम) इसमें 'राहोःशिरः' (राहुका शिर) इस प्रयोगके समान भेदकी कल्पना करके षष्ठी की गयी है। अतः तात्पर्य यह है कि मैं ही परमगति हूँ ॥ २१ ॥

(१) अब यह बताते हैं कि 'जो पुरुष अनन्यचित्तसे मेरा सर्वदा निरन्तर स्मरण करता है उसे मैं सुगमतासे प्राप्त हो सकता हूँ' इस प्रकार पहले बतलाया कहा हुआ भक्तियोग ही उसकी प्राप्तिका उपाय है—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! वह परम पुरुष अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसके भीतर सम्पूर्ण भूत विद्यमान हैं और जिसने इस सकल प्रपञ्चको व्याप्त किया हुआ है ॥ २२ ॥]

(२) वह पर—निरतिशय पुरुष परमात्मा मैं ही हूँ और अनन्य—जिसका कोई अन्य विषय नहीं है ऐसी प्रेमलक्षणा भक्तिसे ही मिल सकता हूँ, किसी और प्रकार नहीं। वह कौन है—ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—जिस पुरुषके अन्तःस्थ अर्थात् भीतर रहनेवाले सब भूत—कार्य हैं, क्योंकि कार्य कारणके भीतर रहा करता है। अतः जिस पुरुषने इस सम्पूर्ण कार्यजातको तत—व्याप्त किया हुआ है। यह बात 'जिससे कोई पर और अपर नहीं है तथा जिससे कोई सूक्ष्म या स्थूल नहीं है' 'जो वृक्षके समान द्युलोकमें एकमात्र निश्चल भावसे स्थित है उस पुरुषसे ही यह सब व्याप्त है' 'जो कुछ यह सारा जगत् दिखायी या सुनायी देता है इस सबको भीतर बाहरसे व्याप्त करके नारायण स्थित है' वह चारों ओर व्याप्त और शुद्ध है' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

(१) सगुणब्रह्मोपासकास्तत्पदं प्राप्य न निवर्तन्ते किं तु क्रमेण मुच्यन्ते। तत्र तल्लोक-भोगात्प्रागुत्पन्नसम्यग्दर्शनानां तेषां मार्गापेक्षा विद्यते न तु सम्यग्दर्शिनामिव तदनपेक्षेत्युपासकानां तल्लोकप्राप्तये देवयानमार्ग उपदिश्यते। पितृयान(ण)मार्गोपन्यासस्तु तस्य स्तुतये—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

(२) प्राणोत्क्रमणानन्तरं यत्र यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते मार्गे प्रयाता योगिनो ध्यायिनः कर्मिणश्चानावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति। देवयाने पथि प्रयाता ध्यायिनोऽनावृत्तिं यान्ति पितृयाने(णे) पथि प्रयाताश्च कर्मिण आवृत्तिं यान्ति। यद्यपि देवयानेऽपि पथि प्रयाताः पुनरावर्तन्त इत्युक्तम् 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इत्यत्र, तथाऽपि पितृयाणे पथि गता आवर्तन्त एव न केऽपि तत्र क्रममुक्तिभाजः। देवयाने पथि गतास्तु यद्यपि केचिदावर्तन्ते प्रतीकोपासकास्तडिल्लोक-पर्यन्तं गता हिरण्यगर्भपर्यन्तममानवपुरुषनीता अपि पञ्चाग्निविद्याद्युपासका अतत्क्रतवो भोगान्ते निवर्तन्त एव तथाऽपि दहराद्युपासकाः क्रमेण मुच्यन्ते भोगान्त इति न सर्व एवाऽऽवर्तन्ते। अत एव पितृयानः(णः) पन्था नियमेनाऽऽवृत्तिफलत्वाच्निकृष्टः। अयं तु देवयानः पन्था अनावृत्तिफलत्वा-दतिप्रशस्त इति स्तुतिरुपपद्यते केषांचिदावृत्त्यावृत्तिफलत्वस्यानपायात्।

(१) सगुण ब्रह्मके उपासक उस पद (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, किन्तु क्रमशः मुक्त हो जाते हैं। सो उस लोकको भोगनेसे पूर्व सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति न होनेतक उन्हें मार्गकी अपेक्षा होती है, तत्त्वज्ञानियोंके समान उपासकोंको उसकी अनपेक्षा नहीं होती, अतः उन्हींके लिये उस लोककी प्राप्तिके उद्देश्यसे देवयान मार्गका उपदेश किया जाता है। यहाँ पितृयानमार्गका उल्लेख तो उसकी स्तुतिके लिये है—

[श्लोकार्थः—हे भरतश्रेष्ठ ! जिस कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गमें जाने वाले योगी अपुनरावृत्तिको और जिसमें जानेवाले पुनरावृत्तिको प्राप्त होते हैं उस-उस कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गका मैं वर्णन करता हूँ ॥ २३ ॥]

(२) प्राणोत्क्रमणके पश्चात् जहाँ—जिस कालमें कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गमें जानेवाले योगी—ध्यानी और कर्मी पुरुष अनावृत्ति और आवृत्तिको प्राप्त होते हैं। इनमें देवयान मार्गमें जानेवाले ध्यानीलोग अनावृत्तिको और पितृयान मार्गमें जानेवाले कर्मी आवृत्तिको प्राप्त होते हैं। यद्यपि 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इस स्थानमें यह कहा है कि देवयानमार्गमें भी जानेवाले फिर लौट आते हैं तथापि पितृयान मार्गमें जानेवाले तो लौट ही आते हैं, वहाँ कोई भी क्रममुक्तिको नहीं भोग सकते। यद्यपि देवयान-मार्गमें जानेवाले कोई प्रतीकोपासक तो विद्युल्लोकपर्यन्त जाकर लौट आते हैं और कोई पञ्चाग्निविद्यादिकी उपासना करनेवाले, जो सगुण ब्रह्मके उपासक नहीं होते, अमानव पुरुष द्वारा हिरण्यगर्भलोक पर्यन्त ले जाये जानेपर भी वहाँका भोग समाप्त होनेपर फिर लौट आते हैं; किन्तु दहरादिकी उपासना करनेवाले तो वहाँका भोग समाप्त होनेपर क्रमसे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार वहाँसे सभीका पुनरावर्तन नहीं होता। अतः नियमतः आवृत्तिरूप फलवाला होनेसे पितृयान मार्ग निम्न कोटिका है। किन्तु यह देवयानमार्ग अनावृत्तिरूप फलवाला होनेसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, अतः इसकी स्तुति उचित ही है, क्योंकि किन्हीं-किन्हींकी आवृत्ति होनेपर भी इसके अनावृत्तिरूप फलमें कोई बाधा नहीं आती।

(१) तं देवयानं पितृयाणं च कालं कालाभिमानिदेवतोपलक्षितं मार्गं वक्ष्यामि हे भरतर्षभ ! अत्र कालशब्दस्य मुख्यार्थत्वेऽग्निज्योतिर्धूमशब्दानामनुपपत्तिर्गतिस्मृतिशब्दयोश्चेति तदनुरोधेनैकस्मिन्कालपद एव लक्षणाऽऽश्रिता कालाभिमानिदेवतानां मार्गद्वयेऽपि बाहुल्यात् । अग्निधूमयोस्तदितरयोः सतोरपि अग्निहोत्रशब्दवदेकदेशेनाप्युपलक्षणं कालशब्देन । अन्यथा प्रातरग्निदेवताया अभावात् 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' (मी० द० १।४।४) इत्यनेन तस्य नामधेयता न स्यात् । आश्रवणमिति च लौकिको दृष्टान्तः ॥ २३ ॥

(२) तत्रोपासकानां देवयानं पन्थानमाह—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

(३) अग्निर्ज्योतिरित्यर्चिरभिमानिनी देवता लक्ष्यते, अहरित्यहरभिमानिनी, शुक्लपक्ष इति शुक्लपक्षाभिमानिनी, षण्मासा उत्तरायणमिति उत्तरायणरूपषण्मासाभिमानिनी देवतैव लक्ष्यते 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (मी० द० ४।३।१४) इति न्यायात् । एतच्चान्यासामपि श्रुत्युक्तानां देवतानामुपलक्षणार्थम् । तथा च श्रुतिः—'तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमा-

(१) हे भरतश्रेष्ठ ! उस देवयान और पितृयान काल—कालाभिमानी देवतासे उपलक्षित मार्गका मैं वर्णन करूँगा । यहाँ 'काल' शब्दका मुख्य अर्थ लिया जाय तो अग्नि, ज्योति और धूम शब्दोंकी कोई उपपत्ति नहीं होगी तथा गति और स्मृति शब्दोंकी भी कोई संगति नहीं होगी । अतः उनके अनुरोधसे एक 'काल' पदमें ही लक्षणाका आश्रय लिया गया है, क्योंकि दोनों ही मार्गोंमें कालाभिमानी देवताओंकी बहुलता है । अतः अग्नि-धूम आदि अन्य शब्दोंके रहनेपर भी 'अग्निहोत्र' शब्दके समान एक देशसे भी काल शब्दसे उनका उपलक्षण हो जाता है । नहीं तो प्रातःकालमें अग्निदेवताके न रहने पर 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्'[1] (मी० द० १।४।४) इस न्यायसे उसका अग्निहोत्र यह नाम नहीं हो सकता था । इस विषयमें 'आश्रवन' यह लौकिक दृष्टान्त है[2] ॥ २३ ॥

(२) अब उपासकोंके देवयानमार्गका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले पुरुष उस देवयानमार्गमें जाते हुए क्रमशः अर्चिरभिमानी देवता, दिवसाभिमानी देवता, शुक्लपक्षाभिमानी देवता और उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताके लोकोंमें जाकर ब्रह्मलोकमें जाते हैं ॥२४॥]

(३) 'अग्निः' और 'ज्योतिः' इन शब्दोंसे अर्चिरभिमानी देवता उपलक्षित होता है । 'अहः' से दिवसाभिमानी देवता, 'शुक्लपक्षः'से शुक्लपक्षाभिमानी देवता और 'षण्मासा उत्तरायणम्' इससे उत्तरायणरूप छः महीनोंका अभिमानी देवता ही लक्षित होता है ।

१. जिस गुणका अग्निहोत्र शब्दसे ज्ञान होता है उसके अन्य शास्त्रद्वारा विधान किया जानेसे 'अग्निहोत्र' कर्मका वाचक है । अर्थात् 'अग्निहोत्र' शब्दका यौगिक अर्थ यद्यपि अग्निदेवताके लिए आहुति दान होता है तथापि अन्य शास्त्रविधिके बलसे यहाँ 'अग्नि' शब्द प्रजापति आदि अन्य देवताओंका भी उपलक्षण है । अतः कर्ममात्रका वाचक है ।

२. जिस प्रकार किसी वनमें दूसरे वृक्ष होनेपर भी उसमें आमके वृक्षोंकी अधिकता होनेपर उसे आमका वन ही कहा जाता है उसी प्रकार देवयान और पितृयान मार्गोंमें अग्नि, धूम आदि अन्य शब्द होनेपर भी कालवाची अहः, शुक्लः इत्यादि शब्दोंकी अधिकता होनेसे इन्हें 'काल' शब्दसे कहा है ।

णपक्षाद्यान्षड्दक्षेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' इति । अत्र श्रुत्यन्तरानुसारात्संवत्सरानन्तरं देवलोकदेवता ततो वायुदेवता तत आदित्य इत्याकरे निर्णीतम् । पूर्वं विद्युतोऽनन्तरं वरुणेन्द्रप्रजापतयस्तावता मार्गपर्वपूर्तिः । तत्रार्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणदेवता इहोक्ताः । संवत्सरो देवलोको वायुरादित्यश्चन्द्रमा विद्युद्वरुण इन्द्रः प्रजापतिश्चेत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः । तत्र देवयानमार्गे प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म कार्योपाधिकं 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः' इति न्यायात् । निरुपाधिकं तु ब्रह्म तद्द्वारैव क्रममुक्तिफलत्वात् । ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मोपासका जनाः । अत्र 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते' इति श्रुताविममिति विशेषणात्कल्पान्तरे केचिदावर्तन्त इति प्रतीयते । अत एवात्र भगवतोदासितं श्रौतमार्गकथनेनैव व्याख्यानात् ॥ २४ ॥

इस विषयमें 'आतिवाहिकास्तल्लिंगात्'[1] (मी० द० ४।३।१४) यह सूत्रोक्त न्याय प्रमाण है । यह बात श्रुतिद्वारा बताये हुए दूसरे देवताओंका उपलक्षण करानेके लिए भी है । ऐसा ही यह श्रुति कहती है—'वे अर्चिरभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं, अर्चिरभिमानीसे दिवसाभिमानी देवताको, दिवसाभिमानी देवतासे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको, शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरायण रहते हैं उनके अभिमानी देवताको, उन मासाभिमानी देवताओंसे संवत्सराभिमानी देवताको, संवत्सराभिमानी देवतासे, आदित्यलोकके अभिमानी देवताको, आदित्यलोकाभिमानी देवतासे चन्द्रलोकाभिमानी देवताको और चन्द्रलोकाभिमानी देवतासे विद्युल्लोकाभिमानी देवताके लोकको प्राप्त होते हैं । वहाँसे एक अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्मलोकमें ले जाता है । यह देवयान मार्ग है, यह ब्रह्ममार्ग है, इस मार्गसे जानेवाले जीव इस मनुष्यलोकमें नहीं लौटते ।' यहाँ दूसरी श्रुतियोंके अनुसार आकर ग्रन्थोंमें यह निर्णय किया है कि संवत्सरके अनन्तर देवलोक देवता, फिर वायुदेवता और फिर सूर्यदेवता हैं । इसी प्रकार विद्युत्के पश्चात् वरुण, इन्द्र और प्रजापति बताये गये हैं । इनसे ही यह मार्ग पूर्ण होता है । सो अर्चिर अहः शुक्लपक्ष और उत्तरायणके देवता तो यहाँ कहे ही गये हैं । संवत्सर, देवलोक, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, वरुण, इन्द्र और प्रजापति नहीं कहे गये, सो उन्हें भी समझ लेना चाहिए । उस देवयानमार्गमें जानेवाले कार्योपाधिक सगुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, जैसा कि 'बादरि का मत है कि अमानव पुरुष इन्हें कार्य ब्रह्मके पास ले जाता है, क्योंकि वहीं जाना सम्भव भी है' इस न्यायसे सिद्ध होता है । तथा निरुपाधिक ब्रह्म तो उसीके द्वारा क्रममुक्तिका फलरूप है । ब्रह्मवित्—सगुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले पुरुष । 'अत्रैतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते'[2] इस श्रुतिमें 'इमम्' ऐसा विशेषण होनेसे यह प्रतीत होता है कि कोई-कोई कल्पान्तरमें लौट आते हैं । इसीसे भगवान् यहाँ उदासीन रहे हैं, क्योंकि श्रौतमार्गका तो उल्लेख करनेसे ही उसकी व्याख्या हो जाती है ॥ २४ ॥

१. अर्चिरादि शब्दोंसे आतिवाहिक चेतन देवता ग्रहण करने चाहिए क्योंकि श्रुतिमें ऐसा प्रमाण है ।

२. यहाँ (ब्रह्मलोकमें) इस देवयानमार्गसे पहुँचनेवाले फिर इस मनुष्यलोकमें नहीं लौटते ।

(१) देवयानमार्गस्तुत्यर्थं पितृयाणमार्गमाह—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

(२) अत्रापि धूम इति धूमाभिमानिनी देवता, रात्रिरिति रात्र्यभिमानिनी, कृष्ण इति कृष्णपक्षाभिमानिनी, षण्मासा दक्षिणायनमिति दक्षिणायनाभिमानिनी लक्ष्यते एतदप्यन्यासां श्रुत्युक्तानामुपलक्षणम् । तथाहि श्रुतिः—'ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्याण्मा-ड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' इति । तत्र धूमरात्रिकृष्णपक्षदक्षिणायनदेवता इहोक्ताः । पितृलोक आकाशश्चन्द्रमा इत्यनुक्ता अपि द्रष्टव्याः । तत्र तस्मिन्पथि प्रयाताश्चान्द्रमसं ज्योतिः फलं योगी कर्मयोगीष्टापूर्तदत्तकारी प्राप्य यावत्संपातमुषित्वा निवर्तते । संपतत्यनेनेति संपातः कर्म । तस्मादेतस्मादावृत्तिमार्गादनावृत्ति-मार्गः श्रेयानित्यर्थः ॥ २५ ॥

---

(१) देवयानमार्गकी स्तुतिके लिए पितृयानमार्गका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—कर्मयोगी [पितृयान मार्गमें जाते हुए] क्रमशः धूमाभिमानी देवता, रात्र्यभिमानी देवता, कृष्णपक्षाभिमानी देवता, दक्षिणायनके छः महीनोंके अभिमानी देवता और चन्द्रमाकी ज्योतिके अभिमानी देवताओंके लोकमें जाकर फिर लौट आते हैं ॥ २५ ॥]

(२) यहाँ भी 'धूम' इससे धूमाभिमानी देवता, रात्रिः' इससे रात्र्यभिमानी देवता, 'कृष्णः' से कृष्णपक्षाभिमानी देवता और 'षण्मासा दक्षिणायनम्' से दक्षिणायनाभिमानी देवता लक्षित होते हैं। यह भी दूसरी श्रुतियोंका उपलक्षण है। जैसे कि यह श्रुति है—'वे धूमाभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं, धूमाभिमानी देवतासे रात्र्यभिमानी देवताको, रात्र्यभिमानी देवतासे कृष्णपक्षाभिमानी देवताको, कृष्णपक्षाभिमानी देवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण दिशाकी ओर रहता है उन महीनोंके अभिमानी देवताओंको मासाभिमानी देवताओंसे वे संवत्सराभिमानी देवताके लोकको प्राप्त नहीं होते अपि तु पितृलोकको जाते हैं। पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा है। यह देवताओंका अन्न है। इसे देवता भक्षण करते हैं। उसमें प्रारब्धक्षयपर्यन्त रहकर वे फिर इसी मार्गमें लौट आते हैं। इनमेंसे धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके अभिमानी देवताओंका तो यहाँ उल्लेख हुआ ही है, पितृलोक, आकाश और चन्द्रमा इनका उल्लेख न होनेपर भी इन्हें समझ लेना चाहिए। सो इस मार्गमें जानेवाले इष्ट पूर्त्त और दत्त कर्म करनेवाले कर्मयोगी चान्द्रमस ज्योतिरूप फल पाकर उस कर्मका क्षय होने तक उसीमें रहकर फिर लौट आते हैं। जिसके द्वारा संपतित (प्राप्त) हो वह संपात अर्थात् कर्म है। अतः तात्पर्य यह है कि इस आवृत्तिके मार्गसे अनावृत्ति-मार्ग श्रेष्ठ है ॥ २५ ॥

(१) उक्तौ मार्गावुपसंहरति—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

(२) शुक्लाऽर्चिरादिगतिर्ज्ञानप्रकाशमयत्वात् । कृष्णा धूमादिगतिर्ज्ञानहीनत्वेन तमोमयत्वात् । ते एते शुक्लकृष्णे गती मार्गौ हि प्रसिद्धे सगुणविद्याकर्माधिकारिणोः, जगतः सर्वस्यापि शास्त्रज्ञस्य शाश्वते अनादी मते संसारस्यानादित्वात् । तयोरेकया शुक्लया यात्यनावृत्तिं कश्चित्, अन्यया कृष्णया पुनरावर्तते सर्वोऽपि ॥ २६ ॥

(३) गतेरुपास्यत्वाय तद्विज्ञानं स्तौति—

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

(४) एते सृती मार्गौ हे पार्थ जनन्क्रममोक्षायैका पुनः संसारायापरेति निश्चिन्वन्योगी ध्याननिष्ठो न मुह्यति केवलं कर्म धूमादिमार्गप्रापकं कर्तव्यत्वेन न प्रत्येति कश्चन कश्चिदपि । तस्माद्योगस्यापुनरावृत्तिफलत्वात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः समाहितचित्तो भवापुनरावृत्तये हेऽर्जुन ॥२७॥

(५) पुनः श्रद्धावृद्धयर्थं योगं स्तौति—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

---

(१) उक्त दोनों मार्गोंका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—संसारकी ये शुक्ल और कृष्णमार्गकी गतियाँ अनादि मानी गयी हैं। इनमेंसे एकसे अपुनरावृत्तिको प्राप्त होता है और दूसरीसे जानेवाला फिर लौट आता है ॥]

(२) अर्चिरादि गति ज्ञान और प्रकाशमयी होनेके कारण शुक्ला है तथा ज्ञानहीन होनेसे तमोमयी होनेके कारण धूमादि गति कृष्णा है। सगुणोपासना और कर्मियोंकी ये सुप्रसिद्ध शुक्ल और कृष्ण गतियाँ—मार्ग संसारके सभी शास्त्रज्ञोंने शाश्वत—अनादि मानी हैं क्योंकि संसार अनादि है। इनसे एकसे अर्थात् शुक्लागतिसे कोई-कोई पुरुष अनावृत्तिको प्राप्त होता है और दूसरी कृष्णा गतिसे तो सब लोग फिर लौट आते हैं ॥ २६ ॥

(३) गतिकी उपास्यताके लिए उसके विज्ञानकी स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला कोई योगी मोहमें नहीं पड़ता, इसलिए अर्जुन! तुम सर्वदा योगयुक्त होओ ॥ २७ ॥]

(४) हे पार्थ! इन सृतियों—मार्गोंको जाननेवाला—'इनमेंसे एक क्रममुक्तिके लिए है और दूसरा पुनः संसारकी प्राप्ति करानेके लिए' ऐसा निश्चय करनेवाला योगी—ध्याननिष्ठ पुरुष मोहमें नहीं पड़ता—ऐसा कोई पुरुष धूमादि मार्गकी प्राप्ति करानेवाले केवल कर्मको अपने कर्त्तव्यरूपसे स्वीकार नहीं करता। अतः हे अर्जुन! योगका फल अपुनरावृत्ति होनेके कारण तुम अपुनरावृत्तिकी प्राप्तिके लिए सब समय योगयुक्त—समाहितचित्त रहो ॥ २७ ॥

(५) अब श्रद्धाकी वृद्धिके लिए योगकी पुनः स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—योगी पुरुष इस उपासना क्रमको जानकर वेद यज्ञ तप और दानमें

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽद्यम् ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽक्षरपरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

(१) वेदेषु दर्भपवित्रपाणित्वप्राङ्मुखत्वगुर्वधीनत्वादिभिः सम्यगधीतेषु, यज्ञेष्वङ्गोपाङ्गसाहित्येन श्रद्धया सम्यगनुष्ठितेषु, तपःसु शास्त्रोक्तेषु मनोबुद्ध्याद्येकाग्र्येण श्रद्धया सुतप्तेषु, दानेषु तुलापुरुषादिषु देशे काले पात्रे च श्रद्धया सम्यगदत्तेषु यत्पुण्यफलं पुण्यस्य धर्मस्य फलं स्वर्गस्वाराज्यादि प्रदिष्टं शास्त्रेण, अत्येत्यतिक्रामति तत्सर्वमिदं पूर्वोक्तसप्तप्रश्ननिरूपणद्वारेणोक्तं विदित्वा सम्यगनुष्ठानपर्यन्तमवधार्यानुष्ठाय च योगी ध्याननिष्ठः । न केवलं तदतिक्रामति परं सर्वोत्कृष्टमैश्वरं स्थानमाद्यं सर्वकारणमुपैति च प्रतिपद्यते च सर्वकारणं ब्रह्मैव प्राप्नोतीत्यर्थः । तदनेनाध्यायेन ध्येयत्वेन तत्पदार्थो व्याख्यातः ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेनाक्षरपरब्रह्मविवरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

जो कुछ पुण्य फल बताया गया है उस सभीसे आगे बढ़ जाता है तथा सबके कारणरूप सर्वश्रेष्ठ पदको प्राप्त कर लेता है ॥ २८ ॥]

(१) हाथमें दाभके पवित्रक बाँधकर, पूर्वमुख होना तथा गुरुकी अधीनता स्वीकार करना इत्यादि नियमोंसे अच्छी तरह अध्ययन किये हुए वेद, अंग और उपांगोंके सहित श्रद्धापूर्वक सम्यक् रीतिसे किए हुए यज्ञ, मन-बुद्धि आदिकी एकाग्रता और श्रद्धापूर्वक अच्छी तरह तपे हुए शास्त्रोक्त तप तथा देश काल और पात्रको श्रद्धापूर्वक दिये हुए तुलापुरुष इत्यादि दानोंसे शास्त्रने जो पुण्यके-धर्मके स्वर्ग एवं स्वाराज्यादि फल बताये हैं उन सबसे, योगी—ध्याननिष्ठ पुरुष इस पूर्वोक्त सात प्रश्नोंके निरूपणद्वारा कहे हुए विषयको जानकर—उसके ठीक-ठीक अनुष्ठानपर्यन्त निश्चय करके, आगे बढ़ जाता है । वह केवल उसीसे आगे नहीं बढ़ जाता बल्कि पर—सबसे श्रेष्ठ ईश्वरीय स्थानको, जो आद्य—सबका कारण है, प्राप्त कर लेता है । अर्थात् सबके कारणभूत ब्रह्मको ही प्राप्त हो जाता है । इस प्रकार इस अध्यायद्वारा ध्येयरूपसे तत् पदके अर्थकी व्याख्या की गयी है ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दी भाषान्तरका अक्षरपरब्रह्मयोगनामका आठवाँ अध्याय ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्याये मूर्धन्यनाडीद्वारकेण हृदयकण्ठभ्रूमध्यादिधारणासहितेन सर्वेन्द्रियद्वारसंयमगुणकेन योगेन स्वेच्छयोत्क्रान्तप्राणस्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्रयातस्य तत्र सम्यग्ज्ञानोदयेन कल्पान्ते परब्रह्मप्राप्तिलक्षणा क्रममुक्तिर्व्याख्याता । तत्र चानेनैव प्रकारेण मुक्तिर्लभ्यते नान्यथेत्याशङ्क्य—

'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः'

इत्यादिना भगवत्तत्त्वविज्ञानात्साक्षान्मोक्षप्राप्तिरभिहिता । तत्र चानन्या भक्तिरसाधारणो हेतुरित्युक्तं 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इति । तत्र पूर्वोक्तयोगधारणापूर्वकप्राणोत्क्रमणार्चिरादिमार्गगमनकालविलम्बादिक्लेशमन्तरेणैव साक्षान्मोक्षप्राप्तये भगवत्तत्त्वस्य तद्भक्तेश्च विस्तरेण ज्ञापनाय नवमोऽध्याय आरभ्यते । अष्टमे ध्येयब्रह्मनिरूपणेन तद्ध्याननिष्ठस्य गतिरुक्ता । नवमे तु ज्ञेयब्रह्मनिरूपणेन ज्ञाननिष्ठस्य गतिरुच्यत इति संक्षेपः । तत्र वक्ष्यमाणज्ञानस्तुत्यर्थांस्त्रीन्श्लोकान्—

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

(राजविद्याराजगुह्ययोग)

(१) पिछले अध्यायमें मस्तकतक जानेवाली नाडी जिसका द्वार है ऐसे हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य आदिमें धारणावाले तथा सम्पूर्ण इन्द्रियद्वारोंके संयमरूप गुणवाले योगद्वारा जिसने स्वेच्छासे प्राणोंका परित्याग किया है ऐसे अर्चिरादिमार्गद्वारा ब्रह्मलोकको गये हुए योगीकी सम्यग्ज्ञानका उदय होनेपर कल्पके अन्तमें होनेवाली परब्रह्मप्राप्तिरूपा क्रममुक्तिकी व्याख्या की गयी है । वहीं ऐसी आशंका करके कि मुक्ति इसी प्रकारसे मिलती है, दूसरी तरह नहीं श्रीभगवान्ने 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः' इत्यादि श्लोकसे भगवत्तत्त्वके ज्ञानद्वारा मोक्षकी साक्षात् प्राप्ति बतायी है । और वहीं 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' इस श्लोकसे अनन्या भक्तिको भगवत्प्राप्तिका असाधारण कारण कहा है । सो पूर्वोक्त योगधारणापूर्वक प्राणत्याग एवं अर्चिरादि मार्गसे गमनरूप कालविलम्बादि क्लेशके विना ही साक्षात् मोक्षकी प्राप्तिके लिये भगवान्के तत्त्व और उनकी भक्तिका विस्तारसे ज्ञान करानेके लिये नवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है । संक्षेपमें ऐसा समझना चाहिये कि आठवें अध्यायमें तो ध्येय ब्रह्मके निरूपणद्वारा उसके ध्यानमें लगे हुए पुरुषकी गति कही है और नवें अध्यायमें ज्ञेय ब्रह्मका निरूपण करके उसके ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले पुरुषकी गति कही जाती है । अब आगे कहे जानेवाले ज्ञानकी स्तुतिके लिये तीन श्लोकोंको—

[श्लोकार्थ :—श्री भगवान्ने कहा—मैं गुणोंमें दोषदृष्टि न करनेवाले तुमसे यह ब्रह्मानुभवपर्यन्त अत्यन्त गुह्य ज्ञान कहता हूँ, जिसे जानकर तुम संसाररूप अशुभसे मुक्त हो जाओगे ॥ १ ॥]

(१) इदं प्राग्बहुधोक्तमग्रे च वक्ष्यमाणमधुनोच्यमानं ज्ञानं शब्दप्रमाणकं ब्रह्मतत्त्वविषयकं ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि । तुशब्दः पूर्वाध्यायोक्तादृध्यानाज्ज्ञानस्य वैलक्षण्यमाह । इदमेव सम्यग्ज्ञानं साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं न तु ध्यानं तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । तत्त्वन्तःकरणशुद्धिद्वारेदमेव ज्ञानं संपाद्य क्रमेण मोक्षं जनयतीत्युक्तम् ।

(२) कीदृशं ज्ञानं गुह्यतमं गोपनीयतममतिरहस्यत्वात् । यतो विज्ञानसहितं ब्रह्मानुभवपर्यन्तम् । ईदृशमतिरहस्यमप्यहं शिष्यगुणाधिक्याद्वक्ष्यामि तुभ्यमनसूयवे । असूया गुणेषु दोषदृष्टिस्तदाविष्करणादिफला । सर्वदाऽयमात्मैश्वर्यख्यापनेनाऽऽत्मानं प्रशंसति मत्पुरस्तादित्येवंरूपा तद्रहिताय । अनेनाऽऽर्जवसंयमावपि शिष्यगुणौ व्याख्यातौ । पुनः कीदृशं ज्ञानं यज्ज्ञात्वा प्राप्य मोक्ष्यसे सद्य एव संसारबन्धनादशुभात्सर्वदुःखहेतोः ॥ १ ॥

(३) पुनस्तदाभिमुख्याय तज्ज्ञानं स्तौति—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

(४) राजविद्या सर्वासां विद्यानां राजा सर्वाविद्यानाशकत्वात्, विद्यान्तरस्याविद्यैकदेशविरोधित्वात् । तथा राजगुह्यं सर्वेषां गुह्यानां राजा, अनेकजन्मकृतसुकृतसाध्यत्वेन बहुभिरज्ञातत्वात् । राजदन्तादिवादुपसर्जनस्य परनिपातः । पवित्रमिदमुत्तमं, प्रायश्चित्तैर्हि किंचिदेकमेव पापं निवर्त्यते ।

(१) [श्रीभगवान्ने कहा] यह पहले अनेकप्रकारसे कहा हुआ, आगे कहा जानेवाला और इस समय जिसे कह रहा हूँ वह शब्दरूप प्रमाणवाला ब्रह्मतत्त्वविषयक ज्ञान मैं तुमसे कहता हूँ। यहाँ 'तु' शब्द पिछले अध्यायमें कहे हुए ध्यानसे ज्ञानकी विलक्षणता बता रहा है। अर्थात् यह सम्यग्ज्ञान ही साक्षात् मोक्षप्राप्तिका साधन है, ध्यान नहीं, क्योंकि यह अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला है। वह (ध्यान) तो अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा इस ज्ञानको ही उत्पन्न कर क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति कराता है—ऐसा कहा है।

(२) कैसा ज्ञान ? गुह्यतम—अत्यन्त रहस्यमय होनेके कारण जो बहुत ही गुप्त रखने योग्य है। क्योंकि यह विज्ञानसहित अर्थात् ब्रह्मके अनुभवमें समाप्त होनेवाला है। ऐसा अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान भी मैं शिष्यके गुणोंकी अधिकतासे युक्त एवं असूयाहीन तुमसे कहता हूँ। गुणोंमें दोषदृष्टि करना असूया है; 'यह सर्वदा अपने ऐश्वर्यको प्रकट करके अपनी प्रशंसा ही करते रहते हैं' इस प्रकार दोषदर्शन ही जिसका परिणाम है उस असूयासे रहित तुमसे यह ज्ञान कहता हूँ। इससे आर्जव और संयमरूप शिष्यके गुणोंकी भी व्याख्या हो जाती है। फिर वह ज्ञान कैसा है ? जिसे जानकर—प्राप्त करके तुम तुरन्त ही संसारबन्धनरूप अशुभसे, जो सब प्रकारके दुःखोंका कारण है, छूट जाओगे ॥१॥

(३) फिर भी अर्जुनको आकर्षित करनेके लिये उस ज्ञानकी स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—यह ज्ञान विद्याओंका राजा, गोपनीयोंका राजा, पवित्र करनेवालोंमें उत्तम, प्रमाण और फलरूपसे प्रत्यक्ष, अनेक जन्मोंमें सञ्चित हुए धर्मका फल, करनेमें अत्यन्त सुगम और अविनाशी फल प्रदान करनेवाला है ॥ २ ॥]

(४) राजविद्या—समस्त विद्याओंका राजा, क्योंकि यह सब प्रकारकी अविद्याका नाश करनेवाला है, इससे भिन्न जो दूसरी विद्याएँ हैं वे तो अविद्याके किसी एक देशकी ही विरोधिनी हैं। तथा राजगुह्य—समस्त गुप्त विषयोंका राजा, क्योंकि अनेकों जन्मोंके पुण्योंसे प्राप्त होनेवाला होनेके कारण बहुतोंको इसका पता ही नहीं लगता। राजदन्तादि-

निवृत्तं च तत्स्वकारणे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठत्येव । यतः पुनस्तत्पापमुपचिनोति पुरुषः । इदं तु अनेकजन्मसहस्रसंचितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारणस्य चाज्ञानस्य सद्य एवोच्छेदकम् । अतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेव । न चातीन्द्रिये धर्म इवात्र कस्यचित्संदेहः स्वरूपतः फलतश्च प्रत्यक्षत्वादित्याह—प्रत्यक्षावगममवगम्यतेऽनेनेत्यवगमो मानमवगम्यते प्राप्यत इत्यवगमः फलं, प्रत्यक्षमवगमो मानमस्मिन्निति स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षत्वं, प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति फलतः साक्षिप्रत्यक्षत्वम् । मयेदं विदितमतो नष्टमिदानीमत्र ममाज्ञानमिति हि सार्वलौकिकः साक्ष्यनुभवः ।

(१) एवं लोकानुभवसिद्धत्वेऽपि तज्ज्ञानं धर्म्यं धर्मादनपेतमनेकजन्मसंचितनिष्कामधर्मफलम् । तर्हि दुःसंपादं स्यात्रेत्याह—सुसुखं कर्तुं गुरूपदर्शितविचारसहकृतेन वेदान्तवाक्येन सुखेन कर्तुं शक्यं न देशकालादिव्यवधानमपेक्षते प्रमाणवस्तुपरतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य । एवमनायाससाध्यत्वे स्वल्पफलत्वं स्यादित्यायाससाध्यानामेव कर्मणां महाफलत्वदर्शनादिति नेत्याह—अव्ययम्, एवमनायाससाध्यस्याप्यस्य फलतो व्ययो नास्तीत्यव्ययमक्षयफलमित्यर्थः । कर्मणा त्वतिमहतामपि क्षयि-

गणमें होनेके कारण यहाँ 'राजविद्या, राजगुह्य' इन तत्पुरुष समासोंके उपसर्जनीभूत (गौण) पूर्वपदको पर निपात हुआ है।[1] यह पवित्र करनेवालोंमें उत्तम है। प्रायश्चित्तोंसे भी किसी एक ही पापकी निवृत्ति होती है तथा निवृत्त हो जानेपर भी वह सूक्ष्मरूपसे अपने कारणमें बना ही रहता है, क्योंकि पुरुष फिर भी उस पापको कर बैठता है। किन्तु यह अनेकों सहस्र जन्मोंमें सञ्चित स्थूल एवं सूक्ष्म अवस्थावाले सभी पापोंका और उनके कारण अज्ञानका भी तत्काल ही उच्छेद करनेवाला है, इसलिये यही सबसे श्रेष्ठ पवित्र करनेवाला भी है। अतीन्द्रिय धर्मके समान इसमें किसीको सन्देह भी नहीं है, क्योंकि यह स्वरूपसे और फलसे भी प्रत्यक्ष है। इसीसे कहा है—'प्रत्यक्षावगमम्'। जिससे अवगमन हो इस व्युत्पत्तिसे अवगमका अर्थ 'प्रमाण' है तथा जो अवगमित—प्राप्त किया जाय इस व्युत्पत्तिसे अवगम फलको कहते हैं। इसमें प्रत्यक्ष अवगम अर्थात् प्रमाण है इसलिये इसकी स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्षता है तथा इसका अवगम (फल) प्रत्यक्ष है, इसलिये इसकी फलतः साक्षिप्रत्यक्षता है। 'मैंने इसे जाना है, इसलिये अब इसमें मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है' यह साक्षीका अनुभव सभी लोकमें प्रसिद्ध है।

(१) इस प्रकार सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध होनेपर भी यह ज्ञान धर्म्य—धर्मसे भिन्न नहीं है अर्थात् अनेक जन्मोंमें सञ्चित निष्काम धर्मका फल है। तब तो इसका प्राप्त करना बड़ा कठिन होगा ? इसपर कहते हैं—नहीं, यह गुरुके दिखाये हुए विचारके साथ वेदान्तवाक्यद्वारा सुगमतासे ही हो सकता है। ज्ञान प्रमाण और वस्तुके अधीन है, अतः इसे देश या कालादिके व्यवधानकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार अनायास सिद्ध होनेवाला होनेपर तो इसका बहुत थोड़ा फल होता होगा, क्योंकि महान् फल तो अत्यन्त परिश्रमसे सिद्ध होनेवाले कर्मोंका ही देखा गया है। इसपर कहते हैं—नहीं, यह अव्यय है। इस प्रकार अनायाससाध्य होनेपर भी फलतः इसका व्यय नहीं होता, इसलिये यह अव्यय अर्थात् अक्षय फलवाला है। कर्म तो जो बहुत बड़े-बड़े हैं वे भी नाशवान् फलवाले ही होते हैं; जैसा कि 'हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षरको न जानकर

1. अर्थात् जिस प्रकार 'दन्तराज' न होकर 'राजदन्त' होता है उसी प्रकार 'विद्याराज' और 'गुह्यराज' न होकर 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' हुआ है।

फलत्वमेव 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्त-वदेवास्य तद्भवति' इति श्रुतेः। तस्मात्सर्वोत्कृष्टत्वाच्छ्रद्धेयमेवाऽऽत्मज्ञानम् ॥ २ ॥

(१) एवमस्य सुकरत्वे सर्वोत्कृष्टत्वे च सर्वेऽपि कृतोऽत्र न प्रवर्तन्ते, तथा च न कोऽपि संसारी स्यादित्यत आह—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

(२) अस्याऽऽत्मज्ञानाख्यस्य धर्मस्य स्वरूपे साधने फले च शास्त्रप्रतिपादितेऽपि अश्रद्दधाना वेदविरोधिकुहेतुदर्शनदूषितान्तःकरणतया प्रामाण्यमनन्यमानाः पापकारिणोऽसुरसंपदमारूढाः स्वमति-कल्पितेनोपायेन कथंचिद्यतमाना अपि शास्त्रविहितोपायाभावादप्राप्य मां मत्प्राप्तिसाधनमप्यलब्ध्वा निवर्तन्ते निश्चयेन वर्तन्ते । क्व मृत्युयुक्ते संसारवर्त्मनि, सर्वदा जननमरणप्रबन्धेन नारकितिर्यगादि-योनिष्वेव भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

(३) तदेवं वक्तव्यतया प्रतिज्ञातस्य ज्ञानस्य विधिमुखेनेतरनिषेधमुखेन च स्तुत्याऽभिमु-खीकृतमर्जुनं प्रति तदेवाऽऽह द्वाभ्याम्—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

इस लोकमें अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त हवन यज्ञ और तप करता रहता है उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण आत्मज्ञान श्रद्धाके योग्य ही है ॥ २ ॥

(१) 'इस प्रकार इसकी सुकरता और सर्वश्रेष्ठता होनेपर भी सभी इसमें प्रवृत्त क्यों नहीं होते। ऐसा होनेपर तो कोई भी संसारी नहीं रहेगा'—इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे शत्रुदमन ! इस आत्मज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझे प्राप्त न होकर मृत्युयुक्त संसारमार्गमें पड़े रहते हैं ॥ ३ ॥]

(२) शास्त्रसे प्रतिपादित होनेपर भी इस आत्मज्ञानसंज्ञक धर्मके स्वरूप साधन और फलमें श्रद्धा न रखनेवाले, वेदविरोधी दूषित हेतुओंको देखनेसे अशुद्धचित्त होनेके कारण वेदोंके प्रामाण्यको न माननेवाले, आसुरी सम्पत्तिमें बढ़े-चढ़े अपनी बुद्धिसे कल्पना किये हुए उपायद्वारा किसी भी तरह प्रयत्न करनेवाले होनेपर भी पापकर्मा पुरुष शास्त्रविहित उपायका आश्रय न लेनेके कारण मुझे प्राप्त न करके मेरी प्राप्तिके साधनको भी न पाकर निवर्तित रहते अर्थात् निश्चितरूपसे बने रहते हैं; कहाँ ? मृत्युयुक्त संसारमार्ग में। तात्पर्य यह है कि सर्वदा जन्म-मरणकी परम्परामें पड़े रहकर नारकी और तिर्यगादि योनियोंमें ही चक्कर लगाते रहते हैं ॥ ३ ॥

(३) इस प्रकार जिसके विषयमें कथनीयरूपसे प्रतिज्ञा की है उस ज्ञानकी विधि-मुखसे और दूसरोंकी निषेधमुखसे स्तुति करके ज्ञानके अभिमुख किये हुए अर्जुनसे दो श्लोकोंद्वारा भगवान् उस ज्ञानका ही वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—यह सारा जगत् अव्यक्तरूप मेरे द्वारा व्याप्त है। सब भूत मेरेमें स्थित हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥]

(१) इदं जगत्सर्वं भूतभौतिकतत्कारणरूपं दृश्यजातं मदज्ञानकल्पितं मायाऽधिष्ठानेन परमार्थसता सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च तत्तं व्याप्तं रज्जुखण्डेनेव तदज्ञानकल्पितं सर्पधारादि। त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं जगत्कथं व्याप्तं प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह—अव्यक्ता सर्वकरणागोचरीभूता स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदं सर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः। अत एव सन्तीव स्फुरन्तीव मद्रूपेण स्थितानि मत्स्थानि सर्वभूतानि स्थावराणि जङ्गमानि च। परमार्थतस्तु न च नैवाहं तेषु कल्पितेषु भूतेष्ववस्थितः कल्पिताकल्पितयोः संबन्धायोगात्। अत एवोक्तं यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाऽणुमात्रेणापि न स संबध्यत इति ॥ ४ ॥

(२) अत एव—

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

(३) दिविष्ठ इवाऽऽदित्ये कल्पितानि जलचलनादीनि मयि कल्पितानि भूतानि परमार्थतो मयि न सन्ति। त्वमर्जुनः प्राकृतीं मनुष्यबुद्धिं हित्वा पश्य पर्यालोचय मे योगं प्रभावमैश्वरमघटन-घटनाचातुर्यं मायाविन इव ममावलोकयेत्यर्थः। नाहं कस्यचिदाधेयो नापि कस्यचिदाधारस्तथाऽप्यहं सर्वेषु भूतेषु मयि च सर्वाणि भूतानीति महतीयं माया। यतो भूतानि सर्वाणि कार्याण्युपादानतया

(१) जिस प्रकार रस्सीके टुकड़ेके अज्ञानसे कल्पित सर्प और धारा आदि उससे व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार मेरे अज्ञानसे कल्पित यह भूत भौतिक और उसका कारणरूप सारा दृश्य जगत् परमार्थ सत्ता एवं सद्रूप और स्फुरणरूप अपने अधिष्ठान मेरे द्वारा व्याप्त है। 'तुम वासुदेव तो परिच्छिन्न हो, तुम्हारे द्वारा यह सारा जगत् किस प्रकार व्याप्त है, क्योंकि यह तो प्रत्यक्षसे विरुद्ध है' इस पर कहते हैं—नहीं, जिसका स्वरूप अव्यक्त—समस्त इन्द्रियोंका अविषयभूत एवं स्वप्रकाश अद्वय चैतन्य सत् और आनन्दरूप है उस मेरे द्वारा यह सब व्याप्त है, इस देहसे नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है। अतः सत् और स्फुरणरूपसे प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण स्थावर और जंगम भूत मेरेमें स्थित अर्थात् मद्रूपसे स्थित हैं। किन्तु परमार्थतः उन कल्पित भूतोंमें मैं स्थित नहीं हूँ, क्योंकि कल्पित और अकल्पित वस्तुओंका सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसीसे कहा है कि जो वस्तु जिसमें अध्यस्त होती है उसके गुण या दोषसे अधिष्ठानभूत वस्तुका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता ॥ ४ ॥

(२) इसीसे—

[श्लोकार्थः—किन्तु मेरेमें कल्पित भूत वास्तवमें मेरेमें स्थित नहीं हैं। तुम मेरा ईश्वरीय प्रभाव देखो। उपादान कारणरूपसे सम्पूर्ण भूतोंका भरण और उनकी उत्पत्ति करनेवाला मेरा आत्मा वस्तुतः उनसे सम्बद्ध नहीं है ॥ ५ ॥]

(३) आकाशस्थ सूर्यमें कल्पित मरुमरीचिकाकी तरंगोंके समान मेरेमें कल्पित समस्त भूत परमार्थतः मुझमें नहीं हैं। तुम अर्जुन अपनी प्राकृतिक मानुषी बुद्धिको छोड़कर देखो—विचार करो। तात्पर्य यह है कि मायावीके समान मेरा जो ईश्वरीय योग—प्रभाव अर्थात् न होनेवाली बातको कर दिखानेका चातुर्य है उसे देखो। मैं न तो किसीका आधेय हूँ और न किसीका आधार हूँ, तथापि मेरी यह बड़ी भारी माया है कि मैं समस्त भूतोंमें हूँ और सब भूत मेरेमें हैं। क्योंकि उपादानरूपसे मेरा आत्मा ही

बिभर्ति धारयति पोषयतीति च भूतभृत्। भूतानि सर्वाणि कर्तृतयोत्पादयतीति भूतभावनः। एवमभिन्ननिमित्तोपादानभूतोऽपि ममाऽऽत्मा मम परमार्थस्वरूपभूतः सच्चिदानन्दघनोऽसङ्गाद्वितीय-स्वरूपत्वान्न भूतस्थः परमार्थतो न भूतसंबन्धी स्वप्नदृगिव न परमार्थतः स्वकल्पितसंबन्धीत्यर्थः। ममाऽऽत्मेति राहोः शिर इतिवत्कल्पनया षष्ठी ॥ ५ ॥

(१) असंश्लिष्टयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाऽऽह—

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

(२) यथैवासङ्गस्वभाव आकाशे स्थितो नित्यं सर्वदोत्पत्तिस्थितिसंहारकालेषु वातीति वायुः सर्वदा चलनस्वभावः। अत एव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः, महान्परिमाणतः। एतादृशोऽपि न कदाऽप्याकाशेन सह संसृज्यते। तथैवासङ्गस्वभावे मयि संश्लेषमन्तरेणैव सर्वाणि भूतान्याकाशादीनि महान्ति सर्वत्रगानि च स्थितानीत्युपधारय विसृश्यावधारय ॥ ६ ॥

(३) एवमुत्पत्तिकाले स्थितिकाले च कल्पितेन प्रपञ्चेनासङ्गस्याऽऽत्मनोऽसंश्लेषमुक्त्वा प्रलयेऽपि तमाह—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

समस्त भूतोंका—कार्योंका धारण और पोषण करता है इसलिये यह 'भूतभृत्' है तथा कर्तारूपसे समस्त भूतोंको उत्पन्न करता है इसलिये 'भूतभावन' है। इस प्रकार प्रपञ्चका अभिन्न निमित्तोपादान कारण होनेपर भी मेरा परमार्थस्वरूपभूत तथा सच्चिदानन्दघन आत्मा असंग और अद्वितीयस्वरूप होनेके कारण भूतस्थ अर्थात् परमार्थतः भूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्वप्नके साक्षीके समान वह परमार्थतः अपनेमें कल्पित पदार्थोंसे सम्बन्ध नहीं रखता। 'मम आत्मा' इसमें 'राहोः शिरः' इस प्रयोगके समान कल्पनासे षष्ठी समास है ॥ ५ ॥

(१) असम्बद्ध वस्तुओंका भी दृष्टान्तद्वारा आधार-आधेय भाव बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार सर्वदा चलनशील, सर्वगत और महान् वायु आकाशमें रहता है उसी प्रकार सब भूतोंको तुम मेरेमें स्थित समझो ॥ ६ ॥]

(२) जिस प्रकार असंगस्वभाव आकाशमें स्थित जो नित्य—सर्वदा—उत्पत्ति, स्थिति और संहार कालमें चलता है ऐसा सर्वदा चलनस्वभाववाला, अतः जो सर्वत्र जाता है ऐसा सर्वत्रगामी तथा परिमाणतः महान् वायु, ऐसा होनेपर भी, कभी आकाशसे संसर्गयुक्त नहीं होता उसी प्रकार असंगस्वभाव मेरेमें मुझसे संश्लिष्ट हुए बिना ही आकाशादि सम्पूर्ण महान् और सर्वगत भूत स्थित हैं—ऐसा तुम जानो—विचारकर निश्चय करो ॥ ६ ॥

(३) इस प्रकार कल्पित प्रपञ्चके साथ असंग आत्माका उत्पत्ति और स्थितिके समय भी असंसर्ग दिखाकर अब प्रलयकालमें भी उसका असंश्लेष बताते हैं—

[श्लोकार्थः—कुन्तीनन्दन! कल्पका अन्त होनेपर समस्त भूत मेरी त्रिगुणात्मिका मायामें लीन हो जाते हैं। तथा कल्पका आरम्भ होनेपर मैं उन्हें फिर रच देता हूँ ॥ ७ ॥]

(१) सर्वाणि भूतानि कल्पक्षये प्रलयकाले मामिकां मच्छक्तित्वेन कल्पितां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकां मायां स्वकारणभूतां यान्ति तत्रैव सूक्ष्मरूपेण लीयन्त इत्यर्थः। हे कौन्तेयेत्युक्तार्थम्। पुनस्तानि कल्पादौ सर्गकाले विसृजामि प्रकृताविविभागापन्नानि विभागेन व्यनक्मि अहं सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरः ॥ ७ ॥

(२) किंनिमित्ता परमेश्वरस्येयं सृष्टिर्न तावत्स्वभोगार्था तस्य सर्वसाक्षिभूतचैतन्यमात्रस्य भोक्तृत्वाभावात्तथात्वे वा संसारित्वेनेश्वरत्वव्याघातात्। नाप्यन्यो भोक्ता यदर्थेयं सृष्टिः, चेतनान्तराभावात्, ईश्वरस्यैव सर्वत्र जीवरूपेण स्थितत्वात्, अचेतनस्य चाभोक्तृत्वात्। अत एव नापवर्गार्थाऽपि सृष्टिः, बन्धाभावादपवर्गविरोधित्वाद्येत्याद्यनुपपत्तिः सृष्टेर्मायामयत्वं साधयन्ती नास्माकं प्रतिकूलेति न परिहर्तव्येत्यभिप्रेत्य मायामयत्वान्मिथ्यात्वं प्रपञ्चस्य वक्तुमारभते त्रिभिः—

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

(३) प्रकृतिं मायाख्यामनिर्वचनीयां स्वां स्वस्मिन्कल्पितामवष्टभ्य स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां दृढीकृत्य तस्याः प्रकृतेर्मायाया वशादविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशकारणावरणविक्षेपात्मकशक्तिप्रभावाज्जायमान-मिमं सर्वप्रमाणसंनिधापितं भूतग्राममाकाशादिभूतसमुदायमहं मायावीव पुनः पुनर्विसृजामि विविधं सृजामि कल्पनामात्रेण स्वप्नदृगिव च स्वप्नप्रपञ्चम् ॥ ८ ॥

(१) कल्पका क्षय अर्थात् प्रलयकाल होनेपर समस्त भूत मेरी शक्तिरूपसे मानी हुई प्रकृति—अपनी कारणभूता त्रिगुणात्मिका मायामें चले जाते हैं अर्थात् सूक्ष्मरूपसे उसीमें लीन हो जाते हैं। 'हे कौन्तेय' इसका अर्थ पहले कहा जा चुका है। कल्पके आरम्भमें सृष्टिकाल आनेपर मैं—सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, ईश्वर उन्हें पुनः रचता हूँ—प्रकृतिमें अविभक्त रूपसे स्थित उन भूतोंका विभाग करके उन्हें व्यक्त करता हूँ ॥ ७ ॥

(२) परमेश्वरकी यह सृष्टि है किस निमित्तसे? यह अपने भोगके लिए तो है नहीं, क्योंकि सबका साक्षीभूत चैतन्यमात्र होनेसे उसमें भोक्तृत्व नहीं हो सकता; अथवा यदि भोक्तृत्व रहेगा तो संसारिता आ जानेके कारण उसके ईश्वरत्वका ही व्याघात हो जायगा। ईश्वरके सिवा कोई दूसरा भोक्ता भी है नहीं, जिसके लिए यह सृष्टि मानी जाय, क्योंकि कोई दूसरा चैतन्य नहीं है, कारण कि ईश्वर ही सर्वत्र जीवरूपसे स्थित है तथा अचेतनमें भोक्तृत्व रह नहीं सकता। इसीसे यह सृष्टि मोक्षके लिए भी नहीं है, क्योंकि बन्धका अभाव है और सृष्टिका अपवर्गसे अविरोधी होना इत्यादि अनुपपत्ति, जो सृष्टि-का मिथ्यात्व सिद्ध करनेवाली है वह हमारे लिए प्रतिकूल नहीं है; अतः उसका परिहार करना अभीष्ट नहीं है—इसी अभिप्रायसे, प्रपञ्च मायामय होनेके कारण, तीन श्लोकों द्वारा भगवान् उसका मिथ्यात्व कहना आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं अपनेमें कल्पित मायाको अपनी सत्ता और स्फूर्तिसे दृढकर मायाके प्रभावसे ही परतन्त्रके समान इस सम्पूर्ण भूतसमुदायकी रचना करता हूँ ॥ ८ ॥]

(३) अपनेमें कल्पित अपनी मायानाम्नी अनिर्वचनीया प्रकृतिका आश्रय ले—अपनी सत्ता और स्फूर्तिसे उसे दृढकर उस प्रकृति—मायाके वशसे अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशकी कारणभूता आवरण और विक्षेपरूपा शक्तियोंके प्रभावसे उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण प्रमाणोंसे निश्चित भूतग्रामको—आकाशादि भूतसमुदायको मैं मायावीके समान बार-बार कल्पनामात्रसे विविधरूपसे रच लेता हूँ, जिस प्रकार स्वप्न का साक्षी स्वप्नप्रपञ्चको बना लेता है ॥ ८ ॥

(१) अतः—

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

(२) न च नैव सृष्टिस्थितिप्रलयाख्यानि तानि मायाविनेव स्वप्नदृशेव च मया क्रियमाणानि मां निबध्नन्ति अनुग्रहनिग्रहाभ्यां न सुकृतदुष्कृतभागिनं कुर्वन्ति मिथ्याभूतत्वात् , हे धनंजय युधिष्ठिरराजसूयार्थं सर्वान्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति महान्प्रभावः सूचितः प्रोत्साहनार्थम् ।

(३) तानि कर्माणि कुतो न बध्नन्ति तत्राऽऽह—उदासीनवदासीनं, यथा कश्चिदुपेक्षको द्वयोर्विवदमानयोर्जयपराजयासंसर्गी तत्कृतहर्षविषादाभ्यामसंसृष्टो निर्विकार आस्ते तद्वन्निर्विकारतयाऽऽसीनम् । द्वयोर्विवदमानयोरिहाभावादुपेक्षकत्वमात्रसाधर्म्येण वतिप्रत्ययः । अत एव निर्विकारत्वात्तेषु सृष्ट्यादिकर्मस्वसक्तमहं करोमीत्यभिमानलक्षणेन सङ्गेन रहितं मां न निबध्नन्ति कर्माणीति युक्तमेव । अन्यस्यापि हि कर्तृत्वाभावे फलसङ्गाभावे च कर्माणि न बन्धकारणानीत्युक्तमनेन, तदुभयसत्त्वे तु कोशकार इव कर्मभिर्बध्यते मूढ इत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

(४) भूतग्राममिमं विसृजाम्युदासीनवदासीनमिति च परस्परविरुद्धमितिशङ्कापरिहारार्थं पुनर्मायामयत्वमेव प्रकटयति—

---

(१) अतः—

[श्लोकार्थः—धनञ्जय ! उदासीनके समान स्थित और उन कर्मोंमें आसक्तिशून्य मुझको वे कर्म बाँधते नहीं हैं ॥ ९ ॥]

(२) मायावी और स्वप्नद्रष्टाके समान मेरे द्वारा किये जानेवाले ये सृष्टि स्थिति और प्रलयसंज्ञक कर्म मुझे नहीं बाँधते—मिथ्याभूत होनेके कारण अनुग्रह और निग्रह करनेसे मुझे पुण्य और पापका भागी नहीं करते । हे धनञ्जय !—'तुम युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके लिए सब राजाओंको जीतकर धन लाये थे' इस प्रकार अर्जुनको प्रोत्साहित करनेके लिए इस सम्बोधनद्वारा उसका महान् प्रभाव सूचित किया गया है ।

(३) वे कर्म क्यों नहीं बाँधते सो बतलाते हैं—'उदासीनवदासीनम्'—जिस प्रकार कोई उपेक्षा करनेवाला पुरुष दो विवाद करनेवालोंके जय और पराजयसे कोई सम्बन्ध रखनेवाला न होनेपर उनके कारण होनेवाले हर्ष और विषादसे असंश्लिष्ट एवं निर्विकार रहता है उसी प्रकार निर्विकाररूपसे स्थित । यहाँ दो विवाद करनेवालोंका अभाव है अतः केवल उपेक्षकत्वमात्रमें समानता होनेके कारण 'वत्' प्रत्ययका प्रयोग हुआ है । इसीसे निर्विकार होनेके कारण उन सृष्टि आदि कर्मोंमें अनासक्त तथा 'मैं करता हूँ' इस अभिमानरूप संगसे रहित मुझको कर्म नहीं बाँधते—यह उचित ही है । कर्तृत्व और फलकी आसक्तिका अभाव होनेपर कर्म दूसरे किसी पुरुषके बन्धनके भी कारण नहीं हो सकते—यह बात इससे कही गयी है । तात्पर्य यह है कि इन दोनों दोषोंके रहनेपर ही मूढ पुरुष रेशमके कीड़ेके समान कर्मोंसे बँध जाता है ॥ ९ ॥

(४) 'मैं इस भूतसमुदायकी रचना करता हूँ' और 'उदासीनके समान स्थित हूँ' यह कथन परस्पर विरुद्ध हैं; अतः इस शंकाकी निवृत्तिके लिए भगवान् पुनः इस जगत्का मायामयत्व ही प्रकट करते हैं—

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

(१) मया सर्वतोदृशिमात्रस्वरूपेणाविक्रियेणाध्यक्षेण नियन्त्रा भासकेनावभासिता प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका सत्त्वासत्त्वादिभिरनिर्वाच्या माया सूयत उत्पादयति सचराचरं जगन्मायाविनाऽधिष्ठितेव माया कल्पितगजतुरगादिकम् । न त्वहं स्वकार्यमायाभासनमन्तरेण करोमि व्यापारान्तरम् । हेतुना निमित्तेनानेनाध्यक्षत्वेन हे कौन्तेय, जगत्सचराचरं विपरिवर्तते विविधं परिवर्तते जन्मादिविनाशान्तं विकारजातमनवरतमासादयतीत्यर्थः । अतो भासकत्वमात्रेण व्यापारेण विसृजामीत्युक्तं तावता चाऽऽदित्यादेरिव कर्तृत्वाभावादुदासीनवदासीनमित्युक्तमिति न विरोधः । तदुक्तम्—

'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् ।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥' इति ।

श्रुतिस्मृतिवादाश्चात्रार्थे सहस्रश उदाहार्याः ॥ १० ॥

(२) एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनामात्मानमानन्दघनमनन्तमपि सन्तम्—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

(३) अवजानन्ति मां साक्षादीश्वरोऽयमिति नाऽऽद्रियन्ते निन्दन्ति वा मूढा अविवेकिनो

[श्लोकार्थः—मैं जो साक्षीमात्र हूँ उससे प्रकाशित प्रकृति इस चराचर जगत्को उत्पन्न करती है । हे कुन्तीनन्दन ! इसी कारण यह जगत् अनेक प्रकारसे परिवर्तित होता रहता है ॥ १० ॥]

(१) सर्वथा चिन्मात्रस्वरूप अविक्रिय अध्यक्ष—नियन्ता—प्रकाशक मेरे द्वारा प्रकाशित यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति—सत् और असत्‌रूपसे न कही जाने योग्य माया इस चराचर जगत्को इसी प्रकार उत्पन्न करती है जैसे मायावी द्वारा अधिष्ठित माया कल्पित हाथी-घोड़े आदिकी रचना कर देती है । मैं तो कार्यसहित मायाको प्रकाशित करनेके सिवा कोई और कार्य नहीं करता । हे कौन्तेय ! इस प्रकाशकत्वरूप हेतुसे ही यह चराचर जगत् विविधरूपसे परिवर्तित होता है; अर्थात् जन्मसे लेकर विनाशपर्यन्त निरन्तर विकार-समूहको प्राप्त होता रहता है । अतः केवल भासकत्वरूप व्यापारसे ही 'मैं रचता हूँ' ऐसा कहा है । और इतने हीसे सूर्यादिके समान कर्तृत्वका अभाव होनेके कारण 'उदासीनके समान स्थित हूँ' यह कहा है । इसलिए इन दोनों उक्तियोंमें विरोध नहीं है । कहा भी है—'इस द्वैतरूप इन्द्रजालका जो उपादानभूत है उस अज्ञानका आश्रय लेकर ही ब्रह्म कारण कहा जाता है ।' इस प्रकार यहाँ इस अर्थमें सहस्रों श्रुति और स्मृतिके वचन उद्धृत किये जा सकते हैं ॥ १० ॥

(२) इस प्रकार नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, सम्पूर्ण जीवोंका आत्मा, आनन्दघन और अनन्त होनेपर भी—

[श्लोकार्थः—मेरे पारमार्थिक स्वरूपको न जाननेवाले अविवेकी पुरुष मानुषी शरीरको धारण करनेवाला सम्पूर्ण भूतोंका महेश्वर जो मैं हूँ उसका अनादर करते हैं ॥ ११ ॥]

(३) मेरा अनादर करते हैं—'यह साक्षात् ईश्वर है' इस प्रकार मेरा आदर नहीं करते अथवा निन्दा करते हैं मूढ—अविवेकी पुरुष । उनकी अवज्ञाका हेतुभूत भ्रम बताते

जनाः । तेषामवज्ञाहेतुं भ्रमं सूचयति मानुषीं तनुमाश्रितं, मनुष्यतया प्रतीयमानां मूर्तिमात्मेच्छया भक्तानुग्रहार्थं गृहीतवन्तं मनुष्यतया प्रतीयमानेन देहेन व्यवहरन्तमिति यावत् । ततश्च मनुष्योऽयमिति भ्रान्त्याऽऽच्छादितान्तःकरणा मम परं भावं प्रकृष्टं पारमार्थिकं तत्त्वं सर्वभूतानां महान्तमीश्वरमजानन्तो यच्चाऽऽद्रियन्ते निन्दन्ति वा तदनुरूपमेव मूढत्वस्य ॥ ११ ॥

(१) ते च भगवदवज्ञाननिन्दनजनितमहादुरितप्रतिबद्धबुद्धयो निरन्तरं निरयनिवासार्हा एव—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

(२) ईश्वरमन्तरेण कर्माण्येव नः फलं दास्यन्तीत्येवंरूपा मोघा निष्फलैवाऽऽशा फलप्रार्थना येषां ते । अत एवेश्वरविमुखत्वान्मोघानि श्रममात्ररूपाण्यग्निहोत्रादीनि कर्माणि येषां ते । तथा मोघमीश्वराप्रतिपादककुतर्कशास्त्रजनितं ज्ञानं येषां ते । कुत एवं यतो विचेतसो भगवदवज्ञानजनितदुरितप्रतिबद्धविवेकविज्ञानाः । किं च ते भगवदवज्ञानवशाद्राक्षसीं तामसीमविहितहिंसाहेतुद्वेषप्रधानामासुरीं च राजसीं शास्त्रानभ्यनुज्ञातविषयभोगहेतुरागप्रधानां च मोहिनीं शास्त्रीयज्ञानभ्रंशहेतुं प्रकृतिं स्वभावमाश्रिता एव भवन्ति । ततश्च—

'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभः ॥'

हैं—मानुषी शरीरका आश्रय लेनेवाले—मनुष्यरूपसे प्रतीत होनेवाली मूर्तिको भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए अपनी इच्छासे ग्रहण करनेवाले अर्थात् मनुष्यरूपसे प्रतीत होनेवाले शरीरसे व्यवहार करनेवाले । उससे 'यह मनुष्य है' इस प्रकारकी भ्रान्तिसे अन्तःकरणके आच्छादित हो जानेसे मेरे परम भाव—प्रकृष्ट यानी पारमार्थिक तत्त्वको अर्थात् मुझे सम्पूर्ण भूतोंका महेश्वर न जानकर वे मेरा आदर नहीं करते, अथवा निन्दा करते हैं । सो यह उनकी मूढताके अनुरूप ही है ॥ ११ ॥

(१) भगवान्‌की अवज्ञा एवं निन्दासे होनेवाले महापापसे प्रतिबद्ध हुई बुद्धिवाले वे लोग निरन्तर नरकोंमें पड़े रहने-योग्य ही हैं—

[श्लोकार्थः—वे लोग व्यर्थ आशावाले, निष्फल कर्मोंवाले, दूषित ज्ञानवाले, विवेक और विज्ञानसे रहित तथा मोहमें डालनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिका आश्रय लिये होते हैं ॥ १२ ॥]

(२) ईश्वरके बिना केवल कर्म ही हमें फल दे देंगे—इस प्रकारकी जिनकी मोघ—निष्फल आशा—फलेच्छा है, इसीसे ईश्वर-विमुख होनेके कारण जिनके मोघ—केवल श्रममात्ररूप अग्निहोत्रादि कर्म हैं, तथा जिनका मोघ—ईश्वरका प्रतिपादन न करनेवाले कुतर्कयुक्त शास्त्रोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान है वे ऐसे क्यों हैं ? क्योंकि वे विचेता हैं अर्थात् भगवान्‌की अवज्ञासे होनेवाले पापसे उनके विवेक और विज्ञान प्रतिबद्ध हो गये हैं । तथा वे भगवान्‌की अवज्ञाके कारण राक्षसी—तामसी अर्थात् अशास्त्रीय हिंसाके हेतुभूत द्वेषकी प्रधानतावाली तथा आसुरी—राजसी अर्थात् शास्त्रसे अननुमोदित विषयभोगके हेतुभूत रागकी प्रधानतावाली मोहिनी—शास्त्रीय ज्ञानसे भ्रष्ट करनेकी हेतुभूता प्रकृति—स्वभावको आश्रित किये ही रहते हैं । इसीसे 'काम, क्रोध और लोभ यह आत्माको नष्ट

इत्युक्तनरकद्वारभागितया नरकयातनामेव ते सततमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

(१) भगवद्विमुखानां फलकामनायास्तत्प्रयुक्तस्य नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मानुष्ठानस्य तत्प्रयुक्तस्य शास्त्रीयज्ञानस्य च वैयर्थ्यात्पारलौकिकफलतत्साधनशून्यास्ते । नाप्यैहलौकिकं किंचित्फलमस्ति तेषां विवेकविज्ञानशून्यतया विचेतसो हि ते । अतः सर्वपुरुषार्थबाह्याः शोच्या एव सर्वेषां ते वराका इत्युक्तम् । अधुना के सर्वपुरुषार्थभाजोऽशोच्या ये भगवदेकशरणा इत्युच्यते—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

(२) महाननेकजन्मकृतसुकृतैः संस्कृतः क्षुद्रकामाद्यनभिभूत आत्माऽन्तःकरणं येषां तेऽत एव 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिवक्ष्यमाणां दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिमाश्रिताः । अत एवान्यस्मिन्मद्व्यतिरिक्ते नास्ति मनो येषां ते भूतादिं सर्वजगत्कारणमव्ययमविनाशिनं च मामीश्वरं ज्ञात्वा भजन्ति सेवन्ते ॥ १३ ॥

(३) ते केन प्रकारेण भजन्तीत्युच्यते द्वाभ्याम्—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

करनेवाला तीन प्रकारका नरकका द्वार है' इस प्रकार कहे हुए नरकके द्वारके भागी होनेसे वे निरन्तर नरककी यातनाओंको ही अनुभव करते रहते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥१२॥

(१) जो भगवान्‌से विमुख हैं उनकी फलकामना और उससे होनेवाला नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मोंका अनुष्ठान तथा उससे प्राप्त हुआ शास्त्रीय ज्ञान ये सभी व्यर्थ होते हैं । इसलिये वे पारलौकिक फल और उसके साधनोंसे शून्य रहते हैं । तथा विवेक और विज्ञान से शून्य रहनेके कारण उन्हें कोई लौकिक फल भी नहीं मिलता; क्योंकि वे विचारहीन होते हैं । इसलिये वे बेचारे सब प्रकारके पुरुषार्थसे बाह्य और सबके शोचनीय ही कहे गये हैं । अब 'समस्त पुरुषार्थोंके पात्र और अशोचनीय कौन हैं ?' यह प्रश्न होने पर 'जो एकमात्र भगवान्‌की ही शरणमें हैं' ऐसा कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! जिनका चित्त मेरे सिवा दूसरी ओर नहीं जाता वे महात्मा लोग तो मुझे भूतोंका कारण और अविनाशी जानकर दैवी प्रकृतिका आश्रय लेकर मेरा ही भजन करते हैं ॥ १३ ॥]

(२) महान् अर्थात् अनेकों जन्मोंमें किये हुए पुण्योंसे संस्कृत—क्षुद्रकामनाओंसे दबा हुआ नहीं है आत्मा—अन्तःकरण जिनका वे, इसलिये जो 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादि श्लोकोंसे कही जानेवाली दैवी—सात्त्विकी प्रकृतिका आश्रय लिये हुए हैं और इसीसे मेरे सिवा किसी अन्यमें जिनका मन नहीं है वे मुझ ईश्वरको सम्पूर्ण जगत्‌का कारण और अव्यय—अविनाशी जानकर भजते—सेवन करते हैं ॥ १३ ॥

(३) वे किस प्रकार भजते हैं ?—यह बात दो श्लोकोंसे कही जाती है—

[श्लोकार्थः—मेरेमें सर्वदा परम प्रेमसे युक्त वे महात्मा लोग निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ नियमोंको धारण करके मेरे स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करते हुए और भक्तिपूर्वक मुझे नमस्कार करते हुए मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥]

(१) सततं सर्वदा ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण गुरूपसदनेतरकाले च प्रणवजपोपनिषदावर्तनादिभिर्मां सर्वोपनिषत्प्रतिपाद्यं ब्रह्मस्वरूपं कीर्तयन्तो वेदान्तशास्त्राध्ययन-रूपश्रवणव्यापारविषयीकुर्वन्त इति यावत् । तथा यतन्तश्च गुरुसंनिधावन्यत्र वा वेदान्ताविरोधि-तर्कानुसंधानेनाप्रामाण्यशङ्कानास्कन्दितगुरूपदिष्टमत्स्वरूपावधारणाय यतमानाः श्रवणनिर्धारितार्थ-बाधशङ्कापनोदकतर्कानुसंधानरूपमननपरायणा इति यावत् । तथा दृढव्रता दृढानि प्रतिपक्षैश्चालयितु-मशक्यानि अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादीनि व्रतानि येषां ते शमदमादिसाधनसंपन्ना इति यावत् । तथा चोक्तं पतञ्जलिना 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' ते तु 'जातिदेशकालसमया-नवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति । जात्या ब्राह्मणत्वादिकया देशेन तीर्थादिना कालेन चतुर्दश्या-दिना समयेन यज्ञाद्यन्यत्वेनानवच्छिन्ना अहिंसादयः सार्वभौमाः क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमिष्वपि भाव्यमानाः कस्यामपि जातौ कस्मिन्नपि देशे कस्मिन्नपि काले यज्ञादिप्रयोजनेऽपि हिंसां न करिष्यामीत्येवंरूपेण किंचिदप्यपर्युदस्य सामान्येन प्रवृत्ता एते महाव्रतमित्युच्यन्त इत्यर्थः । तथा नमस्यन्तश्च मां कायवा-ङ्मनोभिर्नमस्कुर्वन्तश्च मां भगवन्तं वासुदेवं सकलकल्याणगुणनिधानमिष्टदेवतारूपेण गुरुरूपेण च स्थितम् । चकारात्—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

इति वन्दनसहचरितं श्रवणाद्यपि बोद्धव्यम् । अर्चनं पादसेवनमित्यपि गुरुरूपे तस्मिन्सुकरमेव ।

---

(१) सतत–सर्वदा ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप जा वेदान्तवाक्योंके विचारद्वारा तथा गुरूपसत्तिसे भिन्न कालमें प्रणवजप और उपनिषत्पाठादिसे सम्पूर्ण उपनिषदोंके प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप मेरा कीर्तन करते हुए; अर्थात् वेदान्तशास्त्रके अध्ययनरूप श्रवणव्यापारका विषय करते हुए । तथा यत्न करते हुए—गुरुकी सन्निधिमें अथवा अन्यत्र वेदान्तविरोधी युक्तियोंको ढूँढ़कर अप्रामाण्यकी शंकासे अस्पृष्ट गुरुके उपदेश किये हुए मेरे स्वरूपका निश्चय करनेके लिये यत्न करते हुए; अर्थात् श्रवणद्वारा निश्चित किये हुए अर्थके बाधकी शंकाको निवृत्त करनेवाले तर्कके अनुसन्धानरूप मननमें लगे हुए । इसी प्रकार जो दृढव्रती हैं—जिनके दृढ़—विपक्षियों द्वारा चलायमान न किये जा सकनेवाले अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह आदि व्रत हैं वे; अर्थात् जो शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हैं । ऐसा ही महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं । ये जाति, देश, काल और समय (यज्ञादि विशेष अवसरों) की सीमासे अमर्यादित और सार्वभौम होनेपर महाव्रत होते हैं ।' जातिसे—ब्राह्मणत्वादिसे, देशसे—तीर्थादिसे, कालसे—चतुर्दशी आदिसे और समय—यज्ञादिकी अतिरिक्तितासे अनवच्छिन्न अहिंसा आदि सार्वभौम—क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त भूमियोंमें भी होनेवाले अर्थात् किसी भी जातिमें, किसी भी देशमें, किसी भी कालमें और यज्ञादिके प्रयोजनसे भी मैं हिंसा नहीं करूँगा—इस प्रकार किसी भी निमित्तको अपवादरूपसे न छोड़कर सामान्यरूपसे प्रवृत्त हुए ये यम महाव्रत कहे जाते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है । तथा मुझको नमस्कार करते हुए—इष्टदेवता और गुरुरूपसे स्थित मुझ सकलकल्याणगुणनिधान भगवान् वासुदेवको शरीर, वाणी और मनसे नमस्कार करते हुए । चकारसे 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' इस प्रमाणके अनुसार वन्दनके साथ रहनेवाले श्रवणादि भी समझ लेने चाहिये । उस गुरुरूप भगवान्‌के प्रति अर्चन और पादसेवन भी सुगमतासे किये ही जा सकते हैं ।

(१) अत्र मामिति पुनर्वचनं सगुणरूपपरामर्शार्थम् । अन्यथा वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तथा भक्त्या मद्विषयेण परेण प्रेम्णा नित्ययुक्ताः सर्वदा संयुक्ताः एतेन सर्वसाधनपौष्कल्यं प्रतिबन्धकाभा-वश्च दर्शितः ।

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥' इति श्रुतेः ।

पतञ्जलिना चोक्तं 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति । तत ईश्वरप्रणिधाना-त्प्रत्यक्चेतनस्य त्वंपदलक्ष्यस्याधिगमः साक्षात्कारो भवति, अन्तरायाणां विघ्नानां चाभावो भवतीति सूत्रस्यार्थः ।

(२) तदेवं शमदमादिसाधनसंपन्ना वेदान्तश्रवणमननपरायणाः परमेश्वरे परमगुरौ प्रेम्णा नमस्कारादिना च विगतविघ्नाः परिपूर्णसर्वसाधनाः सन्तो मामुपासते विजातीयप्रत्ययानन्तरितेन सजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननोत्तरभाविना सततं चिन्तयन्ति महात्मानः । अनेन निदिध्यासनं चरमसाधनं दर्शितम् । एतादृशसाधनपौष्कल्ये सति यद्वेदान्तवाक्यजमखण्डगोचरं साक्षात्काररूपमहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानं तत्सर्वशङ्काकलङ्कास्पृष्टं सर्वसाधनफलभूतं स्वोत्पत्तिमात्रेण दीप इव तमः सकलम-ज्ञानं तत्कार्यं च नाशयतीति निरपेक्षमेव साक्षान्मोक्षहेतुर्न तु भूमिजयक्रमेण भ्रूमध्ये प्राणप्रवेशनं मूर्धन्यया नाड्या प्राणोत्क्रमणमर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकगमनं तद्भोगान्तकालविलम्बं वा प्रतीक्षते । अतो यत्प्राक्प्रतिज्ञातम् 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे । ज्ञानम्' इति तदेतदुक्तम् । फलं

---

(१) यहाँ 'माम्' यह पुनरुक्ति अपने सगुणरूपका परामर्श करानेके लिये है; नहीं तो इसकी व्यर्थताका प्रसंग होगा । तथा जो भक्तिसे—मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले परम प्रेमसे नित्य युक्त—सर्वदा संयुक्त हैं । इससे समस्त साधनोंकी पुष्कलता और प्रतिबन्धका अभाव दिखाया गया है; जैसा कि 'जिसकी इष्टदेवमें अत्यन्त भक्ति है । और जैसी इष्टदेवमें है वैसी ही गुरुमें है उसीको उपदेश किये जानेपर इन अर्थोंका प्रकाश होगा' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है । महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—'ततः प्रत्यक्चेत-नाधिगमोऽन्तरायाभावश्च—'उससे'—ईश्वरप्रणिधानसे प्रत्यक्चेतनका—त्वंपदके लक्ष्यका अधिगम—साक्षात्कार होता है तथा अन्तरायोंका—विघ्नोंका अभाव होता है'—यह इस सूत्रका अर्थ है ।

(२) इस प्रकार शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न वेदान्तके श्रवण और मननमें तत्पर वे महात्मा परमगुरु परमेश्वरमें प्रेम रखकर नमस्कारादिसे विघ्नहीन तथा सर्वसाधन-सम्पन्न होकर मेरी उपासना करते हैं । अर्थात् विजातीय वृत्तियोंके व्यवधानसे रहित सजातीय वृत्तियोंके प्रवाहसे, जो श्रवण और मननके पीछे होनेवाला है, मेरा निरन्तर चिन्तन करते हैं । इससे अन्तिम साधन निदिध्यासन दिखाया गया है । इस प्रकारकी साधनकी पुष्कलता होनेपर जो वेदान्तवाक्यसे उत्पन्न होनेवाला अखण्डवृत्तिका विषय साक्षात्काररूप 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होता है वह सब प्रकारकी शंकारूप कीचड़से अछूता, सम्पूर्ण साधनोंका फलस्वरूप तथा अपनी उत्पत्तिमात्रसे दीपकके समान अन्ध-काररूप सम्पूर्ण अज्ञान और उसके कार्यका नाश कर देता है; अतः वह मोक्षका, किसी अन्य साधनकी अपेक्षासे रहित साक्षात् कारण है । इसे भूमिकाजयके क्रमसे भ्रूमध्यमें प्राणोंका प्रवेश करनेकी, मूर्धन्य नाडीसे प्राणोंके उत्क्रमणकी, अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेकी और उसका भोग समाप्त होनेके कालरूप विलम्बकी अपेक्षा नहीं होती । अतः पहले 'इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ज्ञानम्' इस वाक्यसे जिसकी प्रतिज्ञा की है

चास्याशुभान्मोक्षणं प्रागुक्तमेवेतीह पुनर्नोक्तम् । एवमत्रार्थे गम्भीरो भगवतोऽभिप्रायः । उत्तरार्थस्तु प्रकट एव ॥ १४ ॥

(१) इदानीं य एवमुक्तश्रवणमननिदिध्यासनासमर्थास्तेऽपि त्रिविधा उत्तमा मध्यमा मन्दाश्चेति सर्वेऽपि स्वानुरूप्येण मामुपासत इत्याह—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

(२) अन्ये पूर्वोक्तसाधनानुष्ठानासमर्था ज्ञानयज्ञेन 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि' इत्यादिश्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वाद्यज्ञस्तेन । चकार पूर्वार्थे । अपिशब्दः साधनान्तरत्यागार्थः । केचित्साधनान्तरनिस्पृहाः सन्त उपास्योपासकाभेदचिन्तारूपेण ज्ञानयज्ञेनैकत्वेन भेदव्यावृत्त्या मामेवोपासते चिन्तयन्त्युत्तमाः । अन्ये तु केचिन्मध्यमाः पृथक्त्वेनोपास्योपासकयोर्भेदेन 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' इत्यादिश्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनरूपेण ज्ञानयज्ञेन मामेवोपासते । अन्ये त्वहंग्रहोपासने प्रतीकोपासने वाऽसमर्थाः केचिन्मन्दाः कांचिदन्यां देवतां चोपासीनाः कानिचित्कर्माणि वा कुर्वाणा बहुधा तैस्तैर्बहुभिः प्रकारैर्विश्वरूपं सर्वात्मानं मामेवोपासते । तेन तेन ज्ञानयज्ञेनेति उत्तरोत्तराणां क्रमेण पूर्वपूर्वभूमिलाभः ॥ १५ ॥

उसका वर्णन कर दिया । इसका अशुभसे मुक्त होनारूप फल तो पहले ही कह दिया गया है, इसलिये यहाँ पुनः नहीं कहा गया । अतः भगवान्‌का यहाँ यह गम्भीर अभिप्राय है । ऊपरसे प्रतीत होनेवाला अर्थ तो स्पष्ट ही है ॥ १४ ॥

(१) अब यह कहते हैं कि जो इस प्रकार उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनमें असमर्थ हैं वे भी उत्तम, मध्यम और मन्द तीन प्रकारके हैं, इस तरह अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सभी मेरी उपासना करते हैं—

[श्लोकार्थः—कोई दूसरे पुरुष ज्ञानयज्ञके द्वारा भी पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं । उनमें [उत्तम अधिकारी] अभेदरूपसे [मध्यम अधिकारी] भेदरूपसे और [मन्द अधिकारी] अनेक प्रकारके देवतारूपसे सर्वरूप मेरी ही उपासना करते हैं ॥ १५ ॥]

(२) पूर्वोक्त साधनोंका अनुष्ठान करनेमें असमर्थ दूसरे लोग ज्ञानयज्ञके द्वारा—'हे भगवन् देव ! तुम ही मैं हो और मैं ही तुम हूँ' इत्यादि श्रुतिसे कही हुई अहंग्रह-उपासना ज्ञान है, परमेश्वरका यजनरूप होनेसे वही यज्ञ है उसके द्वारा, अन्य साधनकी अपेक्षा न रखते हुए उपास्य और उपासकके अभेदचिन्तनरूप ज्ञानयज्ञके द्वारा एकत्वसे अर्थात् भेदकी निवृत्ति करते हुए कोई उत्तम अधिकारी मेरी ही उपासना—मेरा ही चिन्तन करते हैं । यहाँ 'च' शब्द 'एव'—अर्थमें है तथा 'अपि' शब्द दूसरे साधनोंका त्याग सूचित करनेके लिये है । दूसरे कोई मध्यम अधिकारी पृथक्त्वसे अर्थात् उपास्य और उपासकके भेदद्वारा 'आदित्य ब्रह्म है—ऐसा आदेश है' इत्यादि श्रुति के बताये हुए प्रतीकोपासनारूप ज्ञानयज्ञसे मेरी ही उपासना करते हैं । कोई दूसरे मन्द साधक जो अहंग्रह या प्रतीकोपासना करनेमें समर्थ नहीं हैं वे किसी दूसरे देवताकी उपासना और किन्हीं-किन्हीं कर्मोंको करते हुए अनेक प्रकारसे विश्वरूप—सर्वात्मा मेरी ही उपासना करते हैं । उस-उस ज्ञानयज्ञ से मेरी उपासना करते हैं—इसका तात्पर्य यह है कि आगे-आगेकी उपासनाके क्रमसे पूर्व-पूर्व भूमिका लाभ होता है ॥ १५ ॥

(१) यदि बहुधोपासते तर्हि कथं त्वामेवेत्याशङ्क्याऽऽत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

(२) सर्वस्वरूपोऽहमिति वक्तव्ये तत्तदेकदेशकथनमवयुत्यानुवादेन वैश्वानरे द्वादशकपालेऽष्टाकपालत्वादिकथनवत् । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः । यज्ञः स्मार्तो वैश्वदेवादिर्महायज्ञत्वेन श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धः । स्वधाऽन्नं पितृभ्यो दीयमानम् । औषधमोषधिप्रभवमन्नं सर्वैः प्राणिभिर्भुज्यमानं भेषजं वा । मन्त्रो याज्यापुरोनुवाक्यादिर्येनोद्दिश्य हविर्दीयते देवेभ्यः । आज्यं घृतं, सर्वहविरुपलक्षणमिदम् । अग्निराहवनीयादिर्हविष्प्रक्षेपाधिकरणम् । हुतं हवनं हविष्प्रक्षेपः एतत्सर्वमहं परमेश्वर एव । एतदेकैकज्ञानमपि भगवदुपासनमिति कथयितुं प्रत्येकमहंशब्दः । क्रियाकारकफलजातं किमपि भगवदतिरिक्तं नास्तीति समुदायार्थः ॥ १६ ॥

---

(१) यदि वे अनेक प्रकारसे उपासना करते हैं तो आपहीकी कैसे करते हैं—ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके चार श्लोकोंसे अपनी विश्वरूपताका प्रतिपादन करते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं ऋतु हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं स्वधा हूँ और मैं औषध हूँ तथा मैं ही मन्त्र हूँ, मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और मैं ही हवनक्रिया भी हूँ ॥ १६ ॥]

(२) 'मैं सर्वस्वरूप हूँ' ऐसा कहना अभीष्ट होनेपर उस-उस एक देशका उल्लेख करना वैश्वानर यज्ञमें द्वादशकपालके प्रसंगमें अष्टाकपालत्वादिके कथनके समान अवयवशः अनुवाद करनेकी दृष्टिसे है ।[1] ऋतु श्रुतिमें कहे हुए अग्निष्टोम आदि हैं, यज्ञ स्मृत्युक्त वैश्वदेवादि हैं जो श्रुति और स्मृतियोंमें महायज्ञरूपसे प्रसिद्ध हैं, स्वधा पितृगणको दिया जानेवाला अन्न है और औषध ओषधियोंसे होनेवाले अन्नको कहते हैं अथवा समस्त प्राणियों द्वारा खायी जानेवाली भेषज (दवा) ही औषध है । मन्त्र याज्य और पुरोनुवाक्य आदि हैं, जिनके द्वारा देवताओंके उद्देश्यसे हवि दी जाती है । आज्य घृतको कहते हैं, यह सभी हवियोंका उपलक्षण है । अग्नि सब प्रकारके हवि डालनेका अधिकरणरूप आहवनीयादि है । हुत हवन या हवि डालनेको कहते हैं । ये सब मैं परमेश्वर ही हूँ । इनमेंसे एक-एककी उपासना भी भगवान्‌की ही उपासना है—यह कहनेके लिये प्रत्येकके साथ 'अहम्' शब्द दिया है । सबका सम्मिलित अर्थ यह है कि क्रिया कारक और फल कोई भी वस्तु भगवान्‌से भिन्न नहीं है ॥ १६ ॥

---

१. यह प्रसंग मीमांसादर्शनके प्रथम अध्याय चतुर्थपादके बारहवें अधिकरणमें वैश्वानरेष्टिका विवेचन करते हुए आया है । वहाँ पहले बताया है कि 'पुत्र होनेपर वैश्वानर देवताके उद्देश्यसे द्वादशकपाल अर्थात् बारह कपालों (शकोरों) में संस्कार किये हुए पुरोडाशके द्वारा यज्ञ करे । इसके बाद भिन्न फलोंका उल्लेख करते हुए अष्टाकपाल, नवकपाल और दशकपाल इष्टियोंका भी वर्णन किया है । यहाँ यह सन्देह होता है कि अष्टाकपालादि इष्टियाँ स्वतन्त्र कर्म हैं या पूर्वोक्त द्वादशकपाल इष्टिके ही अंगरूप अर्थवाद हैं । इस शंकाका समाधान करते हुए आचार्यने पिछले पक्षको ही स्थापित किया है ।

(१) किं च—

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

(२) अस्य जगतः सर्वस्य प्राणिजातस्य पिता जनयिता, माता जनयित्री, धाता पोषयिता तत्तत्कर्मफलविधाता वा । पितामहः पितुः पिता, वेद्यं वेदितव्यं वस्तु, पूयतेऽनेनेति पवित्रं पावनं शुद्धिहेतुर्गङ्गास्नानगायत्रीजपादि । वेदितव्ये ब्रह्मणि वेदनसाधनमोंकारः । नियताक्षरपादा, ऋक् । गीतिविशिष्टा सैव साम । सामपदं तु गीतिमात्रस्यैवाभिधायकमित्यन्यत् । गीतिरहितमनियताक्षरं यजुः । एतत्त्रिविधं मन्त्रजातं कर्मोपयोगि । चकारादथर्वाङ्गिरसोऽपि गृह्यन्ते । एवकारोऽहमेवेत्यवधारणार्थः ॥ १७ ॥

(३) किं च—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

(४) गम्यत इति गतिः कर्मफलं,

'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥' इत्येवं मन्वाद्युक्तम् ।

---

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—इस जगत्का पिता मैं हूँ, माता मैं हूँ, पोषण करनेवाला मैं हूँ और पितामह मैं हूँ, तथा मैं ही जानने योग्य, पवित्र, ओंकार एवं ऋक्, साम और यजु भी हूँ ॥ १७ ॥]

(१) तथा इस जगत्का अर्थात् समस्त जीवसमुदायका पिता—उत्पन्न करनेवाला, माता—जन्मदात्री, धाता—पोषण करनेवाला अथवा उस-उस कर्मफलका विधान करनेवाला, पितामह—पिताका पिता, वेद्य—जाननेयोग्य वस्तु, जिससे पवित्र किया जाय वह पवित्र—पावन वस्तु अर्थात् शुद्धिके हेतुभूत गंगास्नान एवं गायत्रीजप आदि, ज्ञातव्य ब्रह्मको जाननेका साधन ओंकार, जिसके अक्षर और पद नियत हैं वह ऋक्, जो गानयुक्त हो वह साम, किन्हीं-किन्हींका मत है कि 'साम' पद गानमात्रका ही कथन करनेवाला है, गानसे रहित तथा जिसके पद और अक्षर नियत नहीं होते वह यजु—ये तीनों ही प्रकारके मन्त्र कर्ममें उपयोगी होते हैं, 'च' शब्दसे अथर्ववेदके मन्त्र भी ग्रहण कर लिये जाते हैं । एवकार 'मैं ही हूँ' ऐसा निश्चय करनेके लिये है ॥ १७ ॥

(२) तथा—

[श्लोकार्थः—मैं ही कर्मका फल, पोषण करनेवाला, प्रभु, साक्षी, भोगस्थान, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति प्रलय और स्थितिका स्थान, लयस्थान, और अविनाशी बीज हूँ ॥ १८ ॥]

(४) जो प्राप्त किया जाय उसे गति—कर्मफल कहते हैं—जिसके विषयमें मनु आदिने कहा है 'ब्रह्मा, विश्वकर्मा, धर्म, महान् और अव्यक्त—इन्हें मतिमान् पुरुष उत्तम सात्त्विकी गति बताते हैं; भर्ता—पोषण करनेवाला अर्थात् सबके साधनोंको ही देनेवाला, प्रभु—स्वामी—'यह मेरा है' इस प्रकार स्वीकार करनेवाला, साक्षी—समस्त प्राणियोंके

भर्ता पोष्टा सुखसाधनस्यैव दाता । प्रभुः स्वामी मदीयोऽयमिति स्वीकर्ता । साक्षी सर्वप्राणिनां शुभाशुभद्रष्टा । निवसन्त्यस्मिन्निति निवासो भोगस्थानम् । शीर्यते दुःखमस्मिन्निति शरणं प्रपन्नानामार्तिहृत् । सुहृत्प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी । प्रभव उत्पत्तिः । प्रलयो विनाशः । स्थानं स्थितिः । यद्वा प्रकर्षेण भवन्त्यनेनेति प्रभवः स्रष्टा । प्रकर्षेण लीयन्तेऽनेनेति प्रलयः संहर्ता । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानमाधारः । निधीयते निक्षिप्यते तत्कालभोगायोग्यतया कालान्तरोपभोग्यं वस्त्वस्मिन्निति निधानं सूक्ष्मरूपसर्ववस्त्वधिकरणं प्रलयस्थानमिति यावत् । शङ्खपद्मादिनिधिर्वा । बीजमुत्पत्तिकारणम् । अव्ययमविनाशि न तु व्रीह्यादिवद्विनश्वरम् । तेनानाद्यनन्तं यत्कारणं तदप्यहमेवेति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ १८ ॥

(१) किं च—

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

(२) तपाम्यहमादित्यः सन् । ततश्च तापवशादहं वर्षं पूर्ववृष्टिरूपं रसं पृथिव्या निगृह्णाम्याकर्षामि कैश्चिद्रश्मिभिरिष्टसु मासेषु । पुनस्तमेव निगृहीतं रसं चतुर्षु मासेषु कैश्चिद्रश्मिभिरुत्सृजामि च वृष्टिरूपेण प्रक्षिपामि च भूमौ । अमृतं च देवानां सर्वप्राणिनां जीवनं वा । एवकारस्याहमित्यनेन संबन्धः । मृत्युश्च मर्त्यानां सर्वप्राणिनां विनाशो वा । सत्, यत्संबन्धितया यद्विद्यते तत्तत्र सत् ।

शुभ और अशुभको देखनेवाला, जिसमें निवास करते हैं वह निवास—भोगस्थान, जिसमें दुःख शीर्ण होते हैं वह शरण, शरणागतोंका दुःख हरनेवाला सुहृद्—प्रत्युपकारकी अपेक्षा न रखकर उपकार करनेवाला, प्रभव—उत्पत्ति प्रलय—विनाश और स्थान—स्थिति अथवा 'इसमें प्रकर्षसे होते हैं' इसलिये प्रभव रचनेवाला, 'इसमें प्रकर्षसे लीन होते हैं' इसलिये प्रलय—संहार करनेवाला तथा 'इसमें स्थित रहते हैं' इसलिये स्थान आधारको कहते हैं, जिसमें तात्कालिक भोगके अयोग्य होनेके कारण कालान्तरमें भोगने योग्य वस्तु निहित की जाय—डाली जाय वह निधान अर्थात् समस्त सूक्ष्मरूप वस्तुओंका अधिकरण यानी प्रलयस्थान अथवा शंख-पद्मादि निधि (खजाना), बीज—उत्पत्तिका कारण; अव्यय—अविनाशी, व्रीहि-यवादिके समान नाशवान् नहीं, अतः जो अनादि और अनन्त कारण है वह भी मैं ही हूँ—इस प्रकार इसका भी पूर्व श्लोकोंसे ही सम्बन्ध है ॥ १८ ॥

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! मैं [सूर्यरूपसे] तपता हूँ, मैं ही पूर्ववृष्टिरूपसे बरसे हुए जलका [पृथिवीसे] आकर्षण करता हूँ और मैं ही उसे बरसाता हूँ । तथा अमृत मृत्यु और सत्-असत् भी मैं ही हूँ ॥ १९ ॥]

(२) आदित्य होकर मैं तपता हूँ । फिर तापके द्वारा वर्षाको—पहले बरसे हुए जलको मैं ही पृथिवीसे ग्रहण करता अर्थात् खींच लेता हूँ, तथा अपनी किन्हीं किरणोंसे पहले आठ महीनेतक खींचे हुए उसी जलको फिर चार महीनोंमें किन्हीं दूसरी किरणोंसे बरसा देता हूँ अर्थात् वर्षारूपमें पृथ्वीपर छोड़ देता हूँ तथा अमृत—देवता या समस्त जीवोंका जीवन, मृत्यु मर्त्य अथवा समस्त प्राणियोंका विनाश, सत्—जिसके सम्बन्धी रूपसे जो वस्तु विद्यमान् है वह वहाँ 'सत्' कही जाती है और असत्—जिसके सम्बन्धी-

असच्च यत्सम्बन्धितया यत्र विद्यते तत्तत्रासत्। एतत्सर्वमहमेव हेऽर्जुन। तस्मात्सर्वात्मानं मां विदित्वा स्वस्वाधिकारानुसारेण बहुभिः प्रकारैर्मामेवोपासत इत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

(१) एवमेकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा चेति त्रिविधा अपि निष्कामाः सन्तो भगवन्तमुपासीनाः सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण क्रमेण मुच्यन्ते। ये तु सकामाः सन्तो न केनापि प्रकारेण भगवन्तमुपासते किं तु स्वस्वकामसाधनानि काम्यान्येव कर्माण्यनुतिष्ठन्ति ते सत्त्वशोधकाभावेन ज्ञानसाधनमनधिरूढाः पुनः पुनर्जन्ममरणप्रबन्धेन सर्वदा संसारदुःखमेवानुभवन्तीत्याह द्वाभ्याम्—

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥

(२) ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदलक्षणा त्रयाणामध्वर्यवौद्गात्रप्रतिपत्तिहेतवस्तिस्रो विद्या येषां ते त्रिविद्यास्त्रिविद्या एव स्वार्थिकतद्धितेन त्रैविद्यास्तिस्रो विद्या विदन्तीति वा वेदत्रयविदो याज्ञिका यज्ञैरग्निष्टोमादिभिः क्रमेण सवनत्रये वसुरुद्रादित्यरूपिणं मामीश्वरमिष्ट्वा तद्रूपेण मामजानन्तोऽपि वस्तुवृत्तेन पूजयित्वाऽभिष्टुत्य हुत्वा च सोमं पिबन्तीति सोमपाः सन्तस्तेनैव सोमपानेन पूतपापा निरस्तस्वर्गभोगप्रतिबन्धकपापाः सकामतया स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते न तु सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्त्यादि। ते

रूपसे जो वस्तु नहीं है वह वहाँ 'असत्' कही जाती है—ये सब हे अर्जुन, मैं ही हूँ। इस प्रकार 'एव' का सम्बन्ध 'अहम्' से है। अतः सर्वात्मा मुझको जानकर अपने-अपने अधिकारके अनुसार अनेकों प्रकारसे मेरी ही उपासना करो—यही उचित है ॥ १९ ॥

(१) इस प्रकार अभेदसे, भेदसे और अनेक प्रकारसे—इस तरह तीनों प्रकारसे निष्काम होकर भगवान्‌की उपासना करनेवाले पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानकी उत्पत्तिके द्वारा क्रमसे मुक्त हो जाते हैं किन्तु जो सकाम होनेके कारण किसी भी प्रकारसे भगवान्‌की उपासना नहीं करते बल्कि अपनी-अपनी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले काम्य कर्म ही करते हैं वे अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाला कोई साधन न होनेसे ज्ञानके साधनपर आरूढ न होकर बार-बार जन्म-मरणकी परम्परामें पड़कर सर्वदा संसारके दुःखोंका ही अनुभव करते रहते हैं—यह बात दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—वेदत्रयीका अनुसरण करनेवाले, सोमपान करनेवाले और सोमपानके द्वारा जिनके पाप धुल गये हैं वे याज्ञिकलोग यज्ञोंद्वारा यजन करके स्वर्गलोककी गतिके लिये प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यकर्मके फलस्वरूप स्वर्गलोकमें पहुँचकर वहाँ देवताओंके योग्य दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥]

(२) होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्मोंके ज्ञानके हेतुभूत ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेदरूपा तीन विद्याएँ जिन्हें प्राप्त हैं वे 'त्रिविद्याः' कहलाते हैं, वे ही स्वार्थमें 'अण्' तद्धितप्रत्यय करनेसे 'त्रैविद्याः' कहे गये हैं। अथवा जो तीन विद्याओंका वर्णन करते हैं वे वेदत्रयके ज्ञाता याज्ञिक क्रमसे तीन सवनोंमें अग्निष्टोमादि यज्ञों द्वारा वसु, रुद्र और आदित्यरूपसे मेरा ईश्वरका यजन करके, उस रूपमें मुझे स्थित न जानकर भी, वास्तविक दृष्टिसे पूजन, स्तुति और हवन करके, जो सोमपान करते हैं वे सोमपायी, उस सोमपानसे ही पूतपाप—जिनका स्वर्गभोगका प्रतिबन्धरूप पाप निवृत्त हो गया है ऐसे होकर सकाम होनेके कारण स्वर्गप्राप्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानकी प्राप्ति इत्यादि नहीं चाहते। वे स्वर्गलोकमें पुण्य—पुण्यके फलस्वरूप सबसे श्रेष्ठ सुरेन्द्रलोक—

दिवि स्वर्गे लोके पुण्यं पुण्यफलं सर्वोत्कृष्टं सुरेन्द्रलोकं शतक्रतोः स्थानमासाद्य दिव्यान्मनुष्यैरलभ्यान्देवभोगान्देवदेहोपभोग्यान्कामानश्नन्ति भुञ्जते ॥ २० ॥

(१) ततः किमनिष्टमिति तदाह—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

(२) ते सकामास्तं काम्येन पुण्येन प्राप्तं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं भुक्त्वा तद्भोगजनके पुण्ये क्षीणे सति तद्देहनाशात्पुनर्देहग्रहणाय मर्त्यलोकं विशन्ति पुनर्गर्भवासादियातना अनुभवन्तीत्यर्थः। पुनः पुनरेवमुक्तप्रकारेण। हिः प्रसिद्ध्यर्थः। त्रैधर्म्यं हौत्राध्वर्यवौद्गात्रधर्मत्रयाहं ज्योतिष्टोमादिकं काम्यं कर्म। त्रयीधर्ममिति पाठेऽपि त्रय्या वेदत्रयेण प्रतिपादितं धर्ममिति स एवार्थः। अनुप्रपन्ना अनादौ संसारे पूर्वप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽनुशब्दः, पूर्वप्रतिपत्त्यनन्तरं मनुष्यलोकमागत्य पुनः प्रतिपन्नाः, कामकामा दिव्यान्भोगान्कामयमाना एवं गतागतं लभन्ते कर्म कृत्वा स्वर्गं यान्ति तत आगत्य पुनः कर्म कुर्वन्तीत्येवं गर्भवासादियातनाप्रवाहस्तेषामनिशमनुवर्तत इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

(३) निष्कामाः सम्यग्दर्शिनस्तु—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

इन्द्रके स्थानको प्राप्त करके दिव्य—मनुष्योंके लिये अलभ्य देवभोग—देवताओंके शरीरसे भोगने योग्य भोगोंको—विषयोंको भोगते हैं ॥ २० ॥

(१) उससे क्या अनिष्ट होता है—सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—वे उस विस्तृत स्वर्गलोकका भोग करके पुण्य क्षीण होनेपर फिर मनुष्यलोकमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्मका आश्रय लेनेवाले एवं दिव्य भोगोंकी इच्छा रखनेवाले वे लोग आवागमनको प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥]

(२) वे सकाम पुरुष काम्य पुण्यकर्म द्वारा प्राप्त विशाल—विस्तीर्ण स्वर्ग लोकको भोगकर उस भोगकी उत्पत्ति करनेवाले पुण्यका क्षय होनेपर उस देहका नाश होनेपर पुनः देह ग्रहण करनेके लिये मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। अर्थात् वे पुनः गर्भवास आदि दुःखोंका अनुभव करते हैं। पुनः पुनः एवं—इसी प्रकार होता है। 'हि' यह अव्यय प्रसिद्धिके अर्थमें है। त्रैधर्म्य—होता अध्वर्यु और उद्गाता—इन तीनोंके धर्मोंके योग्य ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म अथवा 'त्रयीधर्म' ऐसा पाठ होनेपर भी त्रयी—वेदत्रयीसे प्रतिपादित धर्म—इस प्रकार वही अर्थ होगा। अनुप्रपन्न—अनादि संसारमें पूर्व प्राप्तिकी अपेक्षा यहाँ 'अनु' शब्द है अर्थात् पूर्व प्राप्तिके पश्चात् इस मनुष्यलोकमें आकर—पुनः प्राप्त होकर 'कामकामाः'—दिव्य भोगोंकी कामनासे युक्त होकर इस प्रकार आवागमनको प्राप्त होते हैं। कर्म करके स्वर्गमें जाते हैं और वहाँसे लौटकर पुनः कर्म करते हैं—इस प्रकार उनका गर्भवास आदि यातनाओंका प्रवाह अहर्निश चलता रहता है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २१ ॥

(३) किन्तु निष्काम सम्यग्दर्शी पुरुष—

[श्लोकार्थः—जो लोग अभेद दृष्टिसे मेरा चिन्तन करते हुए सब ओर मेरी उपासना करते हैं, निरन्तर आदरपूर्वक मेरे ध्यानमें लगे हुए उन पुरुषोंके योग-क्षेमका मैं निर्वाह करता हूँ ॥ २२ ॥]

(१) अन्यो भेददृष्टिविषयो न विद्यते येषां तेऽनन्याः सर्वाद्वैतदर्शिनः सर्वभोगविःस्पृहाः । अहमेव भगवान्वासुदेवः सर्वात्मा न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्तीति ज्ञात्वा तमेव प्रत्यञ्चं सदा चिन्तयन्तो मां नारायणमात्मत्वेन ये जनाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः संन्यासिनः परि सर्वतोऽनवच्छिन्नतया पश्यन्ति ते मदनन्यतया कृतकृत्या एवेति शेषः ।

(२) अद्वैतदर्शननिष्ठानामत्यन्तनिष्कामानां तेषां स्वयमप्रयतमानानां कथं योगक्षेमौ वहामीत्यत आह—तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण ध्याने व्यापृतानां देहयात्रामात्रार्थमप्यप्रयतमानानां योगं च क्षेमं च, अलब्धस्य लाभं लब्धस्य परिरक्षणं च शरीरस्थित्यर्थं योगक्षेममकामयमानानामपि वहामि प्रापयाम्यहं सर्वेश्वरः ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

इति युक्तम् । यद्यपि सर्वेषामपि योगक्षेमं वहति भागवांस्तथाऽप्यन्येषां प्रयत्नमुत्पाद्य तद्द्वारा वहति ज्ञानिनां तु तदर्थं प्रयत्नमनुत्पाद्य वहतीति विशेषः ॥ २२ ॥

(३) नन्वन्या अपि देवतास्त्वमेव स्वव्यतिरिक्तस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् । तथा च देवतान्तरभक्ता अपि त्वामेव भजन्त इति न कोऽपि विशेषः स्यात्, तेन गतागतं कामकामा वसुरुद्रादित्यादिभक्ता लभन्ते । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां तु कृतकृत्या इति कथमुक्तं तत्राऽऽह—

---

(१) जिनके लिये कोई अन्य अर्थात् भेद दृष्टिका विषय नहीं है वे अनन्य, सबको अद्वैतरूपसे देखनेवाले और सब प्रकारके भोगोंकी इच्छासे रहित पुरुष 'मैं भगवान् वासुदेव ही सबका आत्मा हूँ, मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है' ऐसा जानकर सर्वदा उस प्रत्यगात्माका ही चिन्तन करते हुए जो साधनचतुष्टयसम्पन्न संन्यासीलोग सर्वदा उस अपने प्रत्यगात्माका ही चिन्तन करते हुए मुझ नारायणको ही सर्वतः—सब ओर निरवच्छिन्नरूपसे आत्मस्वरूपसे देखते हैं वे मुझसे अभिन्न होनेके कारण कृतकृत्य ही हैं—इतना यहाँ अध्याहार करना चाहिये ।

(२) अद्वैत ज्ञानमें निष्ठा रखनेवाले और स्वयं प्रयत्न न करनेवाले उन अत्यन्त निष्काम पुरुषोंके योग—क्षेमका निर्वाह कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—उन नित्य अभियुक्त—निरन्तर आदरपूर्वक ध्यानमें लगे हुए, देहयात्रामात्रके लिये भी प्रयत्न न करनेवाले तथा योग-क्षेमकी भी कामना न करनेवाले पुरुषोंके योग-क्षेमका—शरीरकी स्थितिके लिये अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षाका वहन—प्राप्ति मैं सर्वेश्वर ही कराता हूँ । 'मैं ज्ञानीका अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मेरा प्यारा है' 'ये सभी उदार हैं किन्तु ज्ञानीको तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ' ऐसा कहा भी है । यद्यपि भगवान् सभीके योग-क्षेमका वहन करते हैं तथापि दूसरेके योग-क्षेमका वहन तो वे प्रयत्न उत्पन्न करके उसके द्वारा करते हैं किन्तु ज्ञानियोंके योग-क्षेमका वह उसके लिये प्रयत्न उत्पन्न किये बिना ही करते हैं—इतनी विशेषता है ॥ २२ ॥

(३) किन्तु दूसरे देवता भी तो आप ही हैं, क्योंकि आपके सिवा कोई दूसरी वस्तु तो है ही नहीं । इस प्रकार जो दूसरे देवताओंके भक्त हैं वे भी आपका ही भजन करते हैं, इसलिये उनकी अपेक्षा आपके भक्तोंमें कोई विशेषता नहीं है । ऐसी स्थितिमें आपने यह कैसे कहा कि भोगोंकी कामना रखनेवाले वसु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओंके भक्त आवागमनको प्राप्त होते हैं तथा अनन्यभावसे मेरा चिन्तन करनेवाले कृतकृत्य हैं । इसपर कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

(१) यथा मद्भक्ता मामेव यजन्ति तथा येऽन्यदेवतानां वस्वादीनां भक्ता यजन्ते ज्योतिष्टोमादिभिः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः, तेऽपि मद्भक्ता इव हे कौन्तेय तत्तद्देवतारूपेण स्थितं मामेव यजन्ति पूजयन्ति अविधिपूर्वकमविधिरज्ञानं तत्पूर्वकं सर्वात्मत्वेन मामजानत्वा मद्भिन्नत्वेन वस्वादीन्कल्पयित्वा यजन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

(२) अविधिपूर्वकत्वं विवृण्वन्फलप्रच्युतिमसीषामाह—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

(३) अहं भगवान्वासुदेव एव सर्वेषां यज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां च तत्तद्देवतारूपेण भोक्ता च स्वेनान्तर्यामिरूपेणाधियज्ञत्वात्प्रभुश्च फलदाता चेति प्रसिद्धमेतत् । देवतान्तरयाजिनस्तु मामीदृशं तत्त्वेन भोक्तृत्वेन प्रभुत्वेन च भगवान्वासुदेव एव वस्वादिरूपेण यज्ञानां भोक्ता स्वेन रूपेण च फलदाता न तदन्योऽस्ति कश्चिदाराध्य इत्येवंरूपेण न जानन्ति । अतो मत्स्वरूपापरिज्ञानान्महताऽऽयासेनेष्ट्वाऽपि मय्यनर्पितकर्माणस्तत्तद्देवलोकं धूमादिमार्गेण गत्वा तद्भोगान्ते च्यवन्ति

[श्लोकार्थ :—जो दूसरे देवताओंके भक्त भी श्रद्धापूर्वक उनका यजन करते हैं हे कुन्तिनन्दन ! वे भी अविधिपूर्वक मेरा ही यजन करते हैं ॥ २३ ॥]

(१) जिस प्रकार मेरे भक्त मेरा ही पूजन करते हैं उसी प्रकार जो वसु आदि दूसरे देवताओंके भक्त श्रद्धा—आस्तिकबुद्धिसे युक्त होकर ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंसे उनका यजन करते हैं, हे कुन्तिनन्दन ! मेरे भक्तोंके समान वे भी उस-उस देवतारूपसे स्थित मेरा ही यजन—पूजन करते हैं । अविधिपूर्वक—अविधि अज्ञानको कहते हैं उसके सहित मुझे सर्वात्मभावसे न जानकर वसु आदिको मुझसे भिन्न समझकर उनका यजन करते हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २३ ॥

(२) अविधिपूर्वकत्वका स्पष्टीकरण करनेके लिये उनका फलसे च्युत होना बताते हैं—

[श्लोकार्थ :—मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु भी हूँ । वे अन्यदेवोपासक मुझे यथार्तरूपसे नहीं जानते; इसीसे वे [फलभोगका अन्त होनेपर उन दिव्य लोकोंसे] च्युत हो जाते हैं ॥ २४ ॥]

(३) मैं भगवान् वासुदेव ही सम्पूर्ण श्रौत और स्मार्त यज्ञोंका उस-उस देवतारूपसे भोक्ता हूँ तथा अधियज्ञ होनेके कारण अपने अन्तर्यामिरूपसे प्रभु—उन यज्ञोंका फल देनेवाला भी हूँ—यह प्रसिद्ध ही है । ऐसे मुझको अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले तत्त्वतः—भोक्ता और प्रभुरूपसे अर्थात् भगवान् वासुदेव ही वसु आदि रूपसे यज्ञोंके भोक्ता और अपने निजरूपसे फल देनेवाले हैं, उनसे भिन्न कोई और आराध्यदेव नहीं है—इस प्रकार नहीं जानते । अतः मेरे स्वरूपका ज्ञान न होनेसे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक मेरा यजन करके भी मुझे कर्मोंको अर्पण न करते हुए धूमादि मार्गसे देवलोकमें जाकर उसका भोग समाप्त होनेपर च्युत हो जाते हैं । उस लोकके भोग प्रदान करनेवाले कर्मका क्षय होनेपर उन देहादिसे बिछुड़कर पुनः देह ग्रहण करनेके लिये मनुष्यलोकमें लौट

प्रच्यवन्ते तत्रोपभोगजनककर्मक्षयात्तद्देहादिवियुक्ताः पुनर्देहग्रहणाय मनुष्यलोकं प्रत्यावर्तन्ते । ये तु तत्तद्देवतासु भगवन्तमेव सर्वान्तर्यामिणं पश्यन्तो यजन्ते ते भगवद्दर्पितकर्माणस्तद्विद्यासहितकर्मवशाद्-र्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गत्वा तत्रोत्पन्नसम्यग्दर्शनास्तद्भोगान्ते मुच्यन्त इति विवेकः ॥ २४ ॥

(१) देवतान्तरयाजिनामनावृत्तिफलाभावेऽपि तत्तद्देवतायागानुरूपक्षुद्रफलावाप्तिर्भवेति वद्-न्भगवद्याजिनां तेभ्यो वैलक्षण्यमाह—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥

(२) अविधिपूर्वकयाजिनो हि त्रिविधा अन्तःकरणोपाधिगुणत्रयभेदात् । तत्र सात्त्विका देवव्रताः, देवा वसुरुद्रादित्यादयस्तत्सम्बन्धि व्रतं बल्युपहारप्रदक्षिणप्रह्वीभावादिरूपं पूजनं येषां ते तानेव देवान्यान्ति 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः । राजसास्तु पितृव्रताः श्राद्धादिक्रि-याभिरग्निष्वात्तादीनां पितॄणामाराधकास्तानेव पितॄन्यान्ति । तथा तामसा भूतेज्या यक्षरक्षोविनायक-मातृगणादीनां भूतानां पूजकास्तान्येव भूतानि यान्ति । अत्र देवपितृभूतशब्दानां तत्सम्बन्धिलक्षणयो-

आते हैं । किन्तु जो उस-उस देवतामें सर्वान्तर्यामी भगवान्‌को देखते हुए ही उनका यजन करते हैं वे भगवान्‌को कर्म समर्पण करनेवाले होनेसे भगवत्स्वरूपके ज्ञानसहित कर्म करनेसे अर्चिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जानेसे उसका भोग समाप्त होनेपर मुक्त हो जाते हैं—इतना इनका उनसे भेद है ॥ २४ ॥

(१) अन्य देवताओंकी उपासना करनेवालोंको अपुनरावृत्तिरूप फल न मिलनेपर भी उस-उस देवताके यजनके अनुरूप क्षुद्र फलोंकी प्राप्ति तो अवश्य होती है—यह बताते हुए भगवान्‌की उपासना करनेवालोंकी उनसे विलक्षणता बताते हैं—

[श्लोकार्थः—देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंकी उपासना करनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंकी पूजा करनेवाले भूतोंके पास जाते हैं और मेरी उपासना करनेवाले मुझे प्राप्त हो जाते हैं ॥ २५ ॥]

(२) अन्तःकरणके उपाधिभूत तीन गुणोंके भेदसे अविधिपूर्वक पूजन करनेवाले तीन प्रकारके हैं उनमें जो सात्त्विक हैं वे देवव्रत होते हैं । जिनका व्रत अर्थात् बलि, उपहार, प्रदक्षिण और प्रणामादि पूजन वसु, रुद्र और आदित्यादि देवताओंसे सम्बन्ध रखने-वाला होता है वे देवव्रत उन देवताओंको ही प्राप्त होते हैं, जैसा कि 'उसकी जो जिस प्रकार आराधना करता है उसके लिये वह वैसा ही हो जाता है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । रजोगुणी पितृव्रत—श्राद्धादि क्रियाओंसे अग्निष्वात्तादि पितरोंकी उपासना करनेवाले उन पितृगणको ही प्राप्त होते हैं । तथा तमोगुणी भूतेज्य—यक्ष, राक्षस, विनायक और मातृकागण आदि भूतोंका पूजन करनेवाले होते हैं । वे उन भूतोंको ही प्राप्त होते हैं । यहाँ देव, पितृ और भूत शब्दोंका उष्ट्रमुख न्यायसे[1] उनसे सम्बन्ध रखनेवाली लक्षणाके

१. यदि किसी मनुष्यको 'उष्ट्रमुख' कहा जाय तो इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि वह 'ऊँट है मुख जिसका' ऐसा है । बल्कि इसका अर्थ यही होता है कि 'ऊँटके मुखके समान है मुख जिसका ।' अतः यहाँ जो बहुव्रीहि समास हुआ है उसमें 'उष्ट्र' शब्दकी 'उष्ट्रमुख' में लक्षणाकी गयी है । इसी प्रकार 'देवव्रताः' आदि पदोंका अर्थ भी 'देवता है' व्रत जिनके ऐसा नहीं, अपितु 'देवतासम्बन्धी है व्रत जिनका' ऐसा होगा ।

ष्ट्रमुखन्यायेन समासः । मध्यमपदलोपिसमासानङ्गीकारात्प्रकृतिविकृतिभावाभावेन च तावर्थ्यचतुर्थी-समासायोगात् । अन्ते च पूजावाचीज्याशब्दप्रयोगात्पूर्वपर्यायद्वयेऽपि व्रतशब्दः पूजापर एव ।

(१) एवं देवतान्तराराधनस्य तत्तद्देवतारूपत्वमन्तवत्फलमुक्त्वा भगवदाराधनस्य भगवद्भू-यत्वमनन्तं फलमाह—मां भगवन्तं यष्टुं पूजयितुं शीलं येषां ते मद्याजिनः सर्वासु देवतासु भगवद्भा-वदर्शिनो भगवदाराधनपरायणा मां भगवन्तमेव यान्ति । समानेऽभ्यासे भगवन्तमन्तर्यामिणमन-न्तफलदमनाराध्य देवतान्तरमाराध्यान्तवत्फलं यान्तीत्यहो दुर्दैववैभवमज्ञानामित्यभिप्रायः ॥ २५ ॥

(२) तदेवं देवतान्तराणि परित्यज्यानन्तफलत्वाद्भगवत एवाऽऽराधनं कर्तव्यमतिसुकरत्वा-च्चेत्याह—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

(३) पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्यद्वाऽनायासलभ्यं यत्किंचिद्वस्तु यः कश्चिदपि नरो मे मह्यम-नन्तमहाविभूतिपतये परमेश्वराय भक्त्या 'न वासुदेवात्परमस्ति किंचित्' इतिबुद्धिपूर्विकया प्रीत्या प्रयच्छतीश्वराय भृत्यवदुपकल्पयति मत्स्वत्वानास्पदद्रव्याभावात्सर्वस्यापि जगतो मय्येवार्जितत्वात् । अतो मदीयमेव सर्वं मह्यमर्पयति जनः । तस्य प्रीत्या प्रयच्छतः प्रयतात्मनः शुद्धबुद्धेस्तत्पत्रपुष्पादि

द्वारा समास हुआ है; क्योंकि यदि इनमें मध्यमपदलोपी समास नहीं माना जायगा तो प्रकृति-विकृतिभाव न होनेके कारण इनमें तादर्थ्य-चतुर्थीसमास नहीं हो सकेगा । अन्तमें पूजावाचक 'इज्य' शब्दका प्रयोग किया जानेसे पहले दो पर्यायोंमें भी 'व्रत' शब्द पूजापरक ही है ।

(१) इस प्रकार अन्य देवताओंकी आराधनाका उस-उस देवरूपकी प्राप्तिरूप अनित्य फल बतलाकर अब भगवान्‌की आराधनाका भगवद्भूपतारूप अनन्त फल बताते हैं—जिनका शील—स्वभाव मेरा-भगवान्‌का यजन-पूजन करनेका है वे मेरा यजन करने-वाले समस्त देवताओंमें भगवद्भावका साक्षात्कार करनेवाले भगवान्‌की आराधनामें लगे हुए पुरुष भगवान्‌को ही प्राप्त होते हैं । इस प्रकार अभ्यासमें समानता होनेपर भी वे अनन्त फल देनेवाले अन्तर्यामी भगवान्‌की आराधना न करके अन्य देवताओंकी आराधना द्वारा अनित्य फल ही प्राप्त करते हैं; अहो ! उन अज्ञानियोंके दुर्भाग्यकी कैसी महिमा है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २५ ॥

(२) सो इस प्रकार अन्य देवताओंको छोड़कर अनन्त फलवाली होनेसे भगवान्‌की ही आराधना करनी चाहिये, क्योंकि वह बहुत सुकर भी है—ऐसा अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष मुझे भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल या जल समर्पण करता है उस शुद्धचित्त पुरुषके भक्तिपूर्वक समर्पण किये हुए उन पदार्थोंको मैं स्वीकार कर लेता हूँ ॥ २६ ॥]

(३) पत्र, पुष्प, फल, जल अथवा बिना किसी प्रकारके परिश्रमके प्राप्त होनेवाली कोई दूसरी वस्तु जो कोई भी मनुष्य मुझ महाविभूतिपति परमेश्वरको भक्तिपूर्वक—'वासुदेवसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है', इस प्रकारकी बुद्धिपूर्वक प्रीतिसे समर्पण करता है—स्वामीको सेवकके समान भेट करता है, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसपर मेरा अधिकार न हो, कारण कि सारा जगत् मेरे ही अधीन है, अतः मनुष्य सारी मेरी ही वस्तुएँ मुझे समर्पण करते हैं; प्रीतिपूर्वक समर्पण करनेवाले उस प्रयतात्मा—शुद्धचित्त

तुच्छमपि वस्तु अहं सर्वेश्वरोऽस्मि अशनवत्प्रीत्या स्वीकृत्य तृप्यामि । अत्र वाच्यस्यात्यन्ततिरस्कारादशनलक्षितेन स्वीकारविशेषेण प्रीत्यतिशयहेतुत्वं सूच्यते । 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' इति श्रुतेः । कस्मात्तुच्छमपि तदश्नासि यस्माद्भक्त्युपहृतं भक्त्या प्रीत्या समर्पितं, तेन प्रीत्या समर्पणं मत्स्वीकारनिमित्तमित्यर्थः ।

(१) अत्र भक्त्या प्रयच्छतीत्युक्त्वा पुनर्भक्त्युपहृतमिति वदद्यभक्तस्य ब्राह्मणत्वतपस्वित्वादि मत्स्वीकारनिमित्तं न भवतीति परिसंख्यां सूचयति । श्रीदामब्राह्मणानीततण्डुलकणभक्षणवत्प्रीतिविशेषप्रतिबद्धमभक्ष्याभक्ष्यविज्ञानो बाल इव मात्राद्यर्पितं पत्रपुष्पादि भक्तार्पितं साक्षादेव भक्षयामीति वा । तेन भक्तिरेव मत्परितोषनिमित्तं न तु देवतान्तरवद्बह्वल्पोपहारादि बहुवित्तव्ययायाससाध्यं किंचिदिति देवतान्तरमपहाय मामेव भजेत्येत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

(२) कीदृशं ते भजनं तदाह—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

(३) यत्करोषि शास्त्राद्यनपेक्षमपि रागतः प्राप्तं गमनादि यदश्नासि स्वयं तृप्त्यर्थं कर्मसिद्ध्यर्थं वा । तथा यज्जुहोषि शास्त्रबलान्नित्यमग्निहोत्रादिहोमं निर्वर्तयसि । श्रौतस्मार्तसर्वहोमोपलक्षणमेतत् ।

पुरुषके उन पत्र-पुष्पादि तुच्छ पदार्थोंका मैं सर्वेश्वर भोग लगाता हूँ—भोजनके समान उन्हें प्रीतिपूर्वक स्वीकार करके तृप्त होता हूँ । यहाँ वाच्यार्थका अत्यन्त तिरस्कार होनेसे अशनपदलक्षित स्वीकार विशेषसे उसकी अतिशय प्रीतिमें कारणता अभिव्यक्त होती है; जैसा कि 'देवतालोग न तो खाते हैं न पीते हैं, वे केवल इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाते हैं' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । तुच्छ होनेपर भी मैं उसे क्यों स्वीकार कर लेता हूँ ? क्योंकि वह भक्त्युपहृत—भक्ति यानी प्रीतिसे समर्पित होता है । अतः तात्पर्य यह है कि प्रीतिसे समर्पण करना ही मेरे स्वीकारका कारण है ।

(१) यहाँ 'भक्त्या प्रयच्छति' (भक्तिपूर्वक समर्पण करता है) ऐसा कहकर फिर 'भक्त्युपहृतम्' (भक्तिपूर्वक समर्पण किये हुए) ऐसा कहते हुए इस परिसंख्या विधिकी सूचना देते हैं कि अभक्तके ब्राह्मणत्व, तपस्वित्व आदि मेरे स्वीकारके कारण नहीं होते । अथवा सुदामा ब्राह्मणके समर्पण किये हुए चावलके कण खा जानेके समान, जिसका भक्ष्याभक्ष्यविवेक प्रीतिविशेषसे प्रतिबद्ध हो गया है उस बालककी तरह माता आदिके अर्पण किये हुए पदार्थोंकी तरह मैं भक्तके अर्पण किये हुए पत्र-पुष्पादिको साक्षात् ही भक्षण कर जाता हूँ । अतः मेरे सन्तोषका कारण तो भक्ति ही है, दूसरे देवताओंके समान बहुतसे धन व्यय और परिश्रमसे दिये जा सकनेवाले कोई बलि या उपहार आदि नहीं हैं । अतः अभिप्राय यह है कि दूसरे देवताओंको छोड़कर मेरा ही भजन करो ॥ २६ ॥

(२) आपका भजन कैसा है, सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुन्तिपुत्र ! तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दो और जो कुछ तप करो वह सब मुझे अर्पण कर दो ॥ २७ ॥]

(३) तुम शास्त्राज्ञाके बिना भी रागतः प्राप्त जो कुछ गमनादि करो, स्वयं अपनी तृप्ति अथवा कर्मकी सिद्धिके लिये जो कुछ खाओ, शास्त्रके बलसे अग्निहोत्रादि जो कुछ हवन करो—यह श्रौत स्मार्त्त सभी प्रकारके होमका उपलक्षण है, तथा अतिथि और ब्राह्मणादिको अन्न एवं सुवर्णादि जो कुछ दो, एवं प्रत्येक संवत्सरमें बिना जाने हुए और

तथा यद्ददासि अतिथिब्राह्मणादिभ्योऽन्नहिरण्यादि । तथा यत्तपस्यसि प्रतिसंवत्सरमज्ञातप्रामादिकपापनिवृत्तये चान्द्रायणादि चरसि उच्छृङ्खलप्रवृत्तिनिरासाय शरीरेन्द्रियसंघातं संयमयसीति वा । एतच्च सर्वेषां नित्यनैमित्तिककर्मणामुपलक्षणम् । तेन यत्तव प्राणिस्वभाववशाद्विनाऽपि शास्त्रमवश्यंभावि गमनाशनादि, यच्च शास्त्रवशादवश्यंभावि होमदानादि हे कौन्तेय तत्सर्वं लौकिकं वैदिकं च कर्मान्येनैव निमित्तेन क्रियमाणं मदर्पणं मय्यर्पितं यथा स्यात्तथा कुरुष्व । आत्मनेपदेन समर्पकनिष्ठमेव समर्पणफलं न तु मयि किंचिदिति दर्शयति । अवश्यंभाविनां कर्मणां मयि परमगुरौ समर्पणमेव मद्भजनं न तु तदर्थं पृथग्व्यापारः कश्चित्कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ २७ ॥

(१) एतादृशस्य भजनस्य फलमाह—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

(२) एवमनायाससिद्धेऽपि सर्वकर्मसमर्पणरूपे मद्भजने सति शुभाशुभे इष्टानिष्टे फले येषां तैः कर्मबन्धनैर्बन्धरूपैः कर्मभिर्मोक्ष्यसे मयि समर्पितत्वात्तव तत्संबन्धानुपपत्तेः कर्मभिस्तत्फलैश्च न संस्चक्ष्यसे । ततश्च संन्यासयोगयुक्तात्मा संन्यासः सर्वकर्मणां भगवति समर्पणं स एव योग इव चित्तशोधकत्वाद्योगस्तेन युक्तः शोधित आत्माऽन्तःकरणं यस्य स त्वं त्यक्तसर्वकर्मा त्वं कर्मबन्धनैः-

भूलसे किये हुए पापोंकी निवृत्तिके लिये जो कुछ चन्द्रायणादि तप करो अथवा उच्छृङ्खल प्रवृत्तिकी निवृत्तिके लिये शरीर एवं इन्द्रियसमूहका संयम करो—यह समस्त नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका उपलक्षण है । अतः प्राणिस्वभाववश शास्त्राज्ञाके बिना भी अवश्य होनेवाले जो तुम्हारे गमन एवं भोजन आदि व्यापार हैं और जो शास्त्रवश अवश्य होनेवाले होम-दानादि हैं, हे कौन्तेय ! वे समस्त लौकिक और वैदिक कर्म, दूसरे निमित्तसे किये जानेपर भी, जिस प्रकार मुझे समर्पित हो जाँय उस तरह करो । 'कुरुष्व' इस आत्मनेपद प्रयोगसे यह दिखाते हैं कि समर्पणका फल समर्पण करनेवालेको ही मिलता है, मुझे कुछ भी नहीं मिलता । तात्पर्य यह है कि अवश्य होनेवाले कर्मोंका मुझ परम-गुरुको समर्पण कर देना ही मेरा भजन है उसके लिये कोई अलग व्यापार करना आवश्यक नहीं है ॥ २७ ॥

(१) इस प्रकारके भजनका फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—इस प्रकार तुम शुभ और अशुभ फलवाले कर्मके बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे तथा मुझे सम्पूर्ण कर्मोंको अर्पण करनारूप योगसे शुद्धचित्त हो जीवित रहते हुए ही मुक्त होकर मुझे प्राप्त हो जाओगे ॥ २८ ॥]

(२) इस प्रकार अनायास ही होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंके समर्पणरूप मेरे भजनके होनेपर, जिनके शुभ और अशुभ—इष्ट और अनिष्ट फल हैं उन कर्मबन्धनोंसे—बन्धनरूप कर्मोंसे तुम मुक्त हो जाओगे । मुझे समर्पित होनेके कारण तुम्हें उनका सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है, अतः कर्म और उनके फलोंसे तुम्हारा संसर्ग नहीं होगा । और फिर संन्यासयोगयुक्तात्मा—संन्यास अर्थात् सब कर्मोंका भगवान्‌को समर्पण करना, वही है योगके समान चित्तकी शुद्धि करनेवाला होनेसे योग उससे युक्त—शोधित है आत्मा—अन्तःकरण जिसका वह, अथवा जिसने सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग कर दिया है ऐसे तुम जीवित रहते हुए ही समस्त कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर सम्यक्‌ज्ञानसे अज्ञानरूप आवरणकी निवृत्ति

जीवन्नेव विमुक्तः सन्सम्यग्दर्शनेनाज्ञानावरणनिवृत्त्या मामुपैष्यसि साक्षात्करिष्यस्यहं ब्रह्मास्मीति। ततः प्रारब्धकर्मक्षयात्पतितेऽस्मिञ्छरीरे विदेहकैवल्यरूपं मामुपैष्यसि, इदानीमपि मद्रूपः सन्सर्वोपाधिनिवृत्त्या मायिकभेदव्यवहारविषयो न भविष्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥

(१) यदि भक्तानेवानुगृह्णासि नाभक्तान्, ततो रागद्वेषवत्त्वेन कथं परमेश्वरः स्या इति नेत्याह—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

(२) सर्वेषु प्राणिषु समस्तुल्योऽहं सद्रूपेण स्फुरणरूपेणाऽऽनन्दरूपेण च स्वाभाविकेनौपाधिकेन चान्तर्यामित्वेन। अतो न मम द्वेषविषयः प्रीतिविषयो वा कश्चिदस्ति सावित्रस्येव गगनमण्डलव्यापिनः प्रकाशस्य। तर्हि कथं भक्ताभक्तयोः फलवैषम्यं तत्राऽऽह—ये भजन्ति तु ये तु भजन्ति सेवन्ते मां सर्वकर्मसमर्पणरूपया भक्त्या। अभक्तापेक्षया भक्तानां विशेषद्योतनार्थस्तुशब्दः। कोऽसौ, मयि ते ये मदर्पितैर्निष्कामैः कर्ममिः शोधितान्तःकरणास्ते निरस्तसमस्तरजस्तमोमलस्य सत्त्वोद्रेकेणातिस्वच्छस्यान्तःकरणस्य सदा मदाकारा वृत्तिमुपनिषन्मानेनोत्पादयन्तो मयि वर्तन्ते। अहमप्यतिस्वच्छायां तदीयचित्तवृत्तौ प्रतिबिम्बितस्तेषु वर्ते। चकारोऽवधारणार्थस्त एव मयि तेष्वेवाहमिति। स्वच्छस्य हि द्रव्यस्यायमेव स्वभावो येन सम्बध्यते तदाकारं गृह्णातीति। स्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष

हो जानेसे मुझे प्राप्त होंगे—'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार अपना साक्षात्कार करोगे। फिर प्रारब्धकर्मका क्षय होनेसे इस शरीरका पतन होनेपर विदेहकैवल्यरूप मुझको प्राप्त हो जाओगे। तथा इस समय भी सद्रूप होनेके कारण समस्त उपाधियोंकी निवृत्ति हो जानेसे मायिक भेदव्यवहारके विषय नहीं होंगे—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २८ ॥

(१) यदि आप भक्तोंपर ही कृपा करते हैं, अभक्तोंपर नहीं करते तो राग-द्वेषयुक्त होनेके कारण किस प्रकार परमेश्वर हो सकते हैं ? इसपर भगवान् 'नहीं' ऐसा कहते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं समस्त प्राणियोंके प्रति समान हूँ, मेरा न कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय है। जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मेरेमें हैं और मैं उनमें हूँ ॥ २९ ॥]

(२) मैं अपने स्वाभाविक सद्रूप स्फुरणरूप और आनन्दरूपसे तथा औपाधिक अन्तर्यामीरूपसे समस्त प्राणियोंमें समान हूँ। अतः आकाशमण्डलमें व्याप्त सूर्यके प्रकाशके समान कोई भी मेरे द्वेष या प्रीतिका विषय नहीं है। तो फिर भक्त और अभक्तोंको मिलनेवाले फलमें अन्तर क्यों रहता है ? इसपर कहते हैं—जो भजते हैं अर्थात् जो सर्वकर्मसमर्पणरूपा भक्तिसे मेरा भजन—सेवन करते हैं। अभक्तोंकी अपेक्षा भक्तोंकी विशेषता दिखानेके लिये यहाँ 'तु' शब्द दिया है। वह विशेषता क्या है ?—वे मेरेमें हैं—जो मेरेको अर्पण किये हुए निष्काम कर्मोंसे शुद्धचित्त हो गये हैं वे समस्त रजोगुण और तमोगुणरूप मलसे रहित और सत्त्वगुणके उद्रेकसे अत्यन्त स्वच्छ हुए अन्तःकरणकी उपनिषद्के प्रमाणोंद्वारा मेरे आकारवाली वृत्ति उत्पन्न करते हुए सर्वदा मेरेमें ही विद्यमान रहते हैं। तथा मैं भी उनकी अत्यन्त स्वच्छ चित्तवृत्तिमें प्रतिबिम्बित होकर उनमें विद्यमान रहता हूँ। यहाँ 'च' शब्द निश्चय अर्थमें है, अर्थात् वे भी मेरेमें हैं और मैं भी उन्हींमें हूँ। स्वच्छ द्रव्यका यह स्वभाव ही है कि जिससे उसका सम्बन्ध होता है उसके आकारको ग्रहणकर लेता है तथा स्वच्छ वस्तुसे सम्बद्ध वस्तुका यही स्वभाव है कि वह उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। इसी प्रकार अस्वच्छ द्रव्यका भी यह स्वभाव है कि वह अपनेसे

एव स्वभावो यत्तत्र प्रतिफलतीति। तथाऽस्वच्छद्रव्यस्याप्येष एव स्वभावो यत्स्वसंबद्धस्याप्याकारं न गृह्णातीति। अस्वच्छद्रव्यसंबद्धस्य च वस्तुन एष एव स्वभावो यत्तत्र न प्रतिफलतीति। यथा हि सर्वत्र विद्यमानोऽपि सावित्रः प्रकाशः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न स्वस्वच्छे घटादौ। तावता न दर्पणे रज्यति न वा द्वेष्टि घटम्। एवं सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे भक्तचित्तेऽभिव्यज्यमानोऽस्वच्छे चाभक्तचित्तेऽनभिव्यज्यमानोऽहं न रज्यामि कुत्रचित्, न वा द्वेष्मि कंचित्, सामग्रीमर्यादया जायमानस्य कार्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। वह्निवत्कल्पतरुवच्चावैषम्यं व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

(१) किं च मद्भक्तेरेवायं महिमा यत्समेऽपि वैषम्यमापादयति, शृणु तन्महिमानम्—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

(२) यः कश्चित्सुदुराचारोऽपि चेदजामिलादिरिवानन्यभाक्सन्मां भजते कुतश्चिद्भाग्योदयादसेवते स प्रागसाधुरपि साधुरेव मन्तव्यः। हि यस्मात्सम्यग्व्यवसितः साधुनिश्चयवान्सः ॥ ३० ॥

(३) अस्मादेव सम्यग्व्यवसायात्स हित्वा दुराचारताम्—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

सम्बद्ध वस्तुके आकारको भी ग्रहण नहीं करती। जिस प्रकार सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी सूर्यका प्रकाश दर्पणादि स्वच्छ वस्तुओंमें ही अभिव्यक्त होता है अस्वच्छ घटादिमें नहीं। इतनेहीसे उसका दर्पणमें राग अथवा घटमें द्वेष नहीं होता। इसी प्रकार सर्वत्र समान होनेपर भी भक्तके स्वच्छ चित्तमें अभिव्यक्त होनेसे और अभक्तके अस्वच्छ चित्तमें अभिव्यक्त न होनेसे मेरा कहीं राग नहीं होता और न किसीसे द्वेष ही होता है, क्योंकि सामग्रीकी मर्यादासे उत्पन्न होनेवाले कार्यके विषयमें कोई प्रश्न नहीं हो सकता। मेरे अपक्षपातकी अग्नि और कल्पवृक्षके समान व्याख्या कर लेनी चाहिये[1] ॥ २९ ॥

(१) तथा मेरी भक्तिकी ही ऐसी महिमा है कि वह समरूप होनेपर भी मेरेमें विषमता उत्पन्नकर देती है। उसकी महिमा सुनो—

[श्लोकार्थः—यदि कोई बड़ा दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करे तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि उसका निश्चय ठीक है ॥ ३० ॥]

(२) जो कोई अत्यन्त दुराचारी होकर भी अजामिलादिके समान अनन्य भावयुक्त होकर मेरा भजन करता है—किसी प्रकार भाग्योदय होनेसे मेरी सेवा करता है वह पहले असाधु होनेपर भी साधु ही समझा जाने योग्य है, क्योंकि वह सम्यग्व्यवसित—ठीक निश्चयवाला है ॥ ३० ॥

(३) इस सम्यक् निश्चयके कारण ही वह दुराचारको त्यागकर—

[श्लोकार्थः—तत्काल ही धर्मात्मा हो जाता है तथा निरन्तर शान्तिको प्राप्त होता है। हे कुन्तिपुत्र ! तुम प्रतिज्ञा करो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता ॥ ३१ ॥]

---

१. जिस प्रकार जो कोई अग्निका स्पर्श करेगा उसे ही वह अपने स्वभाववश जला देगी, जो उससे दूर रहेगा उसे नहीं जलावेगी तथा कल्पवृक्षसे जो जैसी कामना करेगा उसे वही वस्तु मिलेगी—इसमें अग्नि और कल्पवृक्षको कोई पक्षपातका दोष नहीं हो सकता—इसी प्रकार भगवत्कृपा सर्वत्र समान होनेपर भी उसकी अभिव्यक्ति भक्तहृदयमें ही होती है, अभक्तहृदयमें नहीं।

(१) चिरकालमधर्मात्माऽपि मद्भजनमहिम्ना क्षिप्रं शीघ्रमेव भवति धर्मात्मा धर्मानुगतचित्तो दुराचारत्वं झटित्येव त्यक्त्वा सदाचारो भवतीत्यर्थः । किं च शश्वन्नित्यं शान्तिं विषयभोगस्पृहानिवृत्तिं निगच्छति नितरां प्राप्नोत्यतिनिर्वेदात् ।

(२) कश्चित्त्वद्भक्तः प्रागभ्यस्तं दुराचारत्वमत्यजन्न भवेदपि धर्मात्मा, तथा च स नश्येदेवेति नेत्याह भक्तानुकम्पापरवशतया कुपित इव भगवान्—नैतदाश्चर्यं मन्वीथा हे कौन्तेय निश्चितमेवेदृशं मद्भक्तेर्माहात्म्यम् । अतो विप्रतिपन्नानां पुरस्तादपि त्वं प्रतिजानीहि सावज्ञं सगर्वं च प्रतिज्ञां कुरु न मे वासुदेवस्य भक्तोऽतिदुराचारोऽपि प्राणसंकटमापन्नोऽपि सुदुर्लभमयोग्यः सन्प्रार्थ्यमानोऽपि अतिमूढोऽशरणोऽपि न प्रणश्यति किं तु कृतार्थ एव भवतीति । दृष्टान्ताश्चाजामिलप्रह्लादध्रुवगजेन्द्रादयः प्रसिद्धा एव । शास्त्रं च—'न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्' इति ॥ ३१ ॥

(३) एवमागन्तुकदोषेण दुष्टानां भगवद्भक्तिप्रभावान्निस्तारमुक्त्वा स्वाभाविकदोषेण दुष्टानामपि तमाह—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

(४) हि निश्चितं हे पार्थ मां व्यपाश्रित्य शरणमागत्य येऽपि स्युः पापयोनयोऽन्त्यजास्ति-

---

(१) बहुत समयसे अधर्मात्मा होनेपर भी मेरे भजनकी महिमासे क्षिप्र—शीघ्र ही धर्मात्मा-धर्मपरायण चित्तवाला हो जाता है । तात्पर्य यह है कि शीघ्र ही दुराचरणको त्यागकर सदाचारी हो जाता है । तथा वैराग्यके कारण शाश्वत—नित्य शान्तिको—विषय भोगेच्छा निवृत्तिको सर्वथा प्राप्त हो जाता है ।

(२) 'यदि आपका कोई भक्त अपने पूर्व-अभ्यस्त दुराचरणको त्याग न सकनेसे धर्मात्मा न हो तब तो उसका नाश ही हो जायगा' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशंका करके भगवान् भक्तोंके प्रति कृपापरवश होनेके कारण कुपितसे होकर कहते हैं—'नहीं, कौन्तेय ! तुम इसमें कोई आश्चर्य मत मानो, मेरी भक्तिका ऐसा महात्म्य निश्चित ही है । इसलिये जिनकी विपरीत बुद्धि है उनके सामने तुम अवज्ञा और गर्व सहित प्रतिज्ञा करो कि 'मैं जो वासुदेव हूँ उसका भक्त अत्यन्त दुराचारी, प्राणसंकटमें ग्रस्त, अयोग्य होकर भी किसी अत्यन्त दुर्लभ वस्तुकी इच्छा करनेवाला तथा अत्यन्त मूढ और निराश्रय होनेपर भी नष्ट नहीं होता, बल्कि कृतार्थ ही हो जाता है । इस विषयमें अजामिल, प्रह्लाद, ध्रुव और गजेन्द्र आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध ही हैं । तथा 'भगवान् वासुदेवके भक्तोंका कहीं अशुभ नहीं होता' यह शास्त्र भी प्रमाण है ॥ ३१ ॥

(३) इस प्रकार आगन्तुक दोषसे दूषित पुरुषोंका भगवद्भक्तिके प्रभावसे निस्तार बताकर अब स्वाभाविक दोषसे दूषित पुरुषोंका उद्धार भी बताते हैं—

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! मेरा आश्रय लेकर जो पशु-पक्षी आदि पापयोनि हैं तथा जो स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥]

(४) हि—यह बात निश्चित है कि हे पार्थ ! मेरा आश्रय लेकर—मेरी शरणमें आकर जो पापयोनि अर्थात् जातिके दोषसे दूषित अन्त्यज और पशु-पक्षी आदि हैं तथा

र्यञ्जो वा जातिदोषेण दुष्टाः । तथा वेदाध्ययनादिशून्यतया निकृष्टाः स्त्रियो वैश्याः कृष्यादिमात्ररताः । तथा शूद्रा जातितोऽध्ययनाद्यभावेन च परमगत्ययोग्यास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् । अपिशब्दात्प्रागुक्तदुराचारा अपि ॥ ३२ ॥

(१) एवं चेत्—

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

(२) पुण्याः सदाचारा उत्तमयोनयश्च ब्राह्मणास्तथा राजर्षयः सूक्ष्मवस्तुविवेकिनः क्षत्रिया मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वाच्यमत्र कस्यचिदपि संदेहाभावादित्यर्थः । यतो मद्भक्तेरीदृशो महिमाऽतो महता प्रयत्नेनेमं लोकं सर्वपुरुषार्थसाधनयोग्यमतिदुर्लभं च मनुष्यदेहमनित्यमाशुविनाशिनमसुखं गर्भवासाद्यनेकदुःखबहुलं लब्ध्वा यावदयं न नश्यति तावदतिशीघ्रमेव भजस्व मां शरणमाश्रयस्व, अनित्यत्वादसुखत्वाच्चास्य विलम्बं सुखार्थमुद्यमं च मा कार्षीस्त्वं च राजर्षिरतो मद्भजनेनाऽऽत्मानं सफलं कुरु । अन्यथा ह्येतादृशं जन्म निष्फलमेव ते स्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

(३) भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

वेदाध्ययनादिसे शून्य होनेके कारण निकृष्ट स्त्रियाँ, कृषि आदिमें ही लगे रहनेवाले वैश्य और जातिसे ही अध्ययनादिका अभाव रहनेके कारण परमगतिके अयोग्य शूद्र हैं वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं । 'अपि' शब्दसे यह सूचित होता है कि पहले कहे हुए दुराचारी भी परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

(१) यदि ऐसी बात है तो—

[श्लोकार्थः—फिर सदाचारी और उत्तमयोनिमें उत्पन्न हुए मेरे भक्त ब्राह्मण और राजर्षियोंके विषयमें तो कहना ही क्या है । अतः इस अनित्य और सुखहीन लोकको पाकर मेरा भजन कर ॥ ३३ ॥]

(२) पुण्याः—सदाचारी और उत्तमयोनिमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण तथा राजर्षि सूक्ष्मवस्तुका विवेक रखनेवाले क्षत्रिय, जो मेरे भक्त हैं, परमगतिको प्राप्त होते हैं—इसमें तो कहना ही क्या है ? यहाँ तात्पर्य यह है कि इस विषयमें किसीको भी सन्देह नहीं है । क्योंकि मेरी भक्तिकी ऐसी महिमा है । इसलिए महान् प्रयत्नसे इस लोकको अर्थात् सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके साधनमें समर्थ एवं अत्यन्त दुर्लभ किन्तु अनित्य—शीघ्र नष्ट होनेवाले और असुख—गर्भवासादि अनेकों दुःखोंकी बहुलतासे युक्त मनुष्यशरीरको पाकर जबतक यह नष्ट न हो तबतक बहुत शीघ्र ही मेरा भजन करो—मेरी शरणमें आ जाओ । यह शरीर अनित्य और सुखहीन है, इसलिए देरी और सुख पानेके लिए उद्योग मत करो । तुम राजर्षि हो, इसलिए मेरे भजनद्वारा अपनेको सफल करो; नहीं तो तुम्हारा यह ऐसा जन्म निष्फल ही हो जायगा—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३३ ॥

(३) भजनका प्रकार दिखाते हुए उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—तुम मेरेमें मनवाले, मेरे भक्त और मेरा पूजन करनेवाले होओ तथा

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

(१) राजभक्तस्यापि राजभृत्यस्य पुत्रादौ मनस्तथा स तन्मना अपि न तद्भक्त इत्यत उक्तं मन्मना भव मद्भक्त इति । तथा मद्याजी मत्पूजनशीलो मां नमस्कुरु मनोवाक्कायैः । एवमेभिः प्रकारैर्मत्परायणो मदेकशरणः सन्नात्मानमन्तःकरणं युक्त्वा मयि समाधाय मामेव परमानन्दघनं स्वप्रकाशं सर्वोपद्रवशून्यमभयमेष्यसि प्राप्स्यसि ॥ ३४ ॥

(२) श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः
संसाराम्बुधिमुत्तरन्ति सहसा पश्यन्ति पूर्णं महः ॥
वेदान्तैरवधारयन्ति परमं श्रेयस्त्यजन्ति भ्रमं
द्वैतं स्वप्नसमं विदन्ति विमलां विन्दन्ति चाऽऽनन्दताम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मेरी शरणमें आकर और मेरेमें ही चित्त लगाकर तुम मुझे ही प्राप्त हो जाओगे ॥ ३४ ॥]

(१) जो राजभक्त राजसेवक होता है उसका भी पुत्रादिमें मन लगा रहता है। किन्तु पुत्रमें मनवाला होनेपर भी वह उसका भक्त नहीं होता। इसीसे कहा कि मेरेमें मनवाले और मेरे भक्त होओ। तथा मद्याजी—मेरी ही पूजा करनेवाले होओ। मन, वचन और शरीरसे मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मत्परायण—एकमात्र मेरी ही शरण होकर मेरे हीमें आत्मा—मनको लगाकर—समाहित करके परमानन्दघन स्वयंप्रकाश एवं समस्त उपद्रवोंसे शून्य मुझे ही प्राप्त हो जाओगे ॥ ३४ ॥

(२) जिनके चित्त श्रीगोविन्दके चरणकमल परागका आस्वादन करके शुद्ध हो गये हैं वे सहसा संसारसमुद्रको पार कर लेते हैं और परिपूर्ण प्रकाशका साक्षात्कार करते हैं। वे वेदान्तवाक्योंद्वारा परम श्रेयका निश्चय करते हैं और भ्रमको त्याग देते हैं तथा द्वैतको स्वप्नके समान जानते हैं और विशुद्ध आनन्दका अनुभव करते हैं।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकाटीकाके हिन्दी भाषान्तरका राजविद्याराजगुह्ययोगनामक नवाँ अध्याय ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

(१) एवं सप्तमाष्टमनवमैस्तत्पदार्थस्य भगवतस्तत्त्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं च दर्शितम्। तस्य च विभूतयः सोपाधिकस्य ध्याने निरुपाधिकस्य ज्ञाने चोपायभूता रसोऽहमप्सु कौन्तेयेत्यादिना सप्तमे, अहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादिना नवमे च संक्षेपेणोक्ताः। अथेदानीं तासां विस्तरो वक्तव्यो भगवतो ध्यानाय तत्त्वमपि दुर्विज्ञेयत्वात्पुनस्तस्य वक्तव्यं ज्ञानायेति दशमोऽध्याय आरभ्यते। तत्र प्रथममर्जुनं प्रोत्साहयितुम्—

श्रीभगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

(२) भूय एव पुनरपि हे महाबाहो शृणु मे मम परमं प्रकृष्टं वचः। यत्ते तुभ्यं प्रीयमाणाय मद्वचनादमृतपानादिव प्रीतिमनुभवते वक्ष्याम्यहं परमाप्तस्तव हितकाम्ययेष्टप्राप्तीच्छया ॥ १ ॥

(३) प्राग्बहुधोक्तमेव किमर्थं पुनर्वक्ष्यसीत्यत आह—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

(विभूतियोग)

(१) इस प्रकार सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंद्वारा तत् पदके अर्थ श्रीभगवान्का सोपाधिक और निरुपाधिक तत्त्व दिखाया गया, तथा सोपाधिकके ध्यान और निरुपाधिकके ज्ञानमें उपयोगी उनकी विभूतियोंका सातवें अध्याय में 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' इत्यादि वाक्योंसे और नवें अध्यायमें 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इत्यादि वाक्योंसे संक्षेपमें उल्लेख किया गया। अब भगवान्को ध्यानके लिए उनका विस्तार कहना अभीष्ट है, तथा दुर्विज्ञेय होनेके कारण ज्ञानके लिए उनके तत्त्वका भी निरूपण करना है—इसीलिये दसवाँ अध्याय आरम्भ किया जाता है। सो पहले अर्जुनको प्रोत्साहित करनेके लिए—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्ने कहा—महाबाहो ! तुम फिर भी मेरा यह श्रेष्ठ वचन सुनो, जो मेरे प्रति प्रीतियुक्त हुए तुमसे मैं हितकी दृष्टिसे कहूँगा ॥ १ ॥]

(२) [श्रीभगवान्ने कहा]—हे महाबाहो ! भूय एव—फिर भी मेरा परम—प्रकृष्ट वचन सुनो, जिसे प्रीतियुक्त हुए—मानो मेरे वचनामृतके पानसे प्रीतिका अनुभव करते हुये तुम्हारे प्रति मैं यथार्थवक्ता तुम्हारी हितकामनासे—इष्टप्राप्तिकी इच्छासे कहूँगा ॥

(३) पहले अनेक प्रकारसे कही हुई बातको ही फिर क्यों कहोगे ? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—मेरे प्रभावको देवता या महर्षिगण नहीं जानते, क्योंकि सब प्रकार मैं ही देवता और महर्षियोंका आदिकरण हूँ ॥ २ ॥]

(१) प्रभवं प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयं प्रभवनमुत्पत्तिमनेकविभूतिभिराविर्भावं वा सुरगणा इन्द्रादयो महर्षयश्च भृग्वादयः सर्वज्ञा अपि न मे विदुः । तेषां तदज्ञाने हेतुमाह—अहं हि यस्मात्सर्वेषां देवानां महर्षीणां च सर्वशः सर्वैः प्रकारैरुत्पादकत्वेन बुद्ध्यादिप्रवर्तकत्वेन च निमित्तत्वेनोपादानत्वेन चेति वाऽऽदिः कारणम् । अतो मद्विकारास्ते मत्प्रभावं न जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

(२) महाफलत्वाच्च कश्चिदेव भगवतः प्रभावं वेत्तीत्याह—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

(३) सर्वकारणत्वान्न विद्यत आदिः कारणं यस्य तमनादिमनादित्वादजं जन्मशून्यं लोकानां महान्तमीश्वरं च मां यो वेत्ति स मर्त्येषु मनुष्येषु मध्येऽसंमूढः संमोहवर्जितः सर्वैः पापैर्मतिपूर्वकृतैरपि प्रमुच्यते प्रकर्षेण कारणोच्छेदात्तत्संस्काराभावरूपेण मुच्यते मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

(४) आत्मनो लोकमहेश्वरत्वं प्रपञ्चयति—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

(१) मेरे प्रभाव—प्रभाव यानी प्रभुशक्तिकी अतिशयताको अथवा प्रभवन—उत्पत्ति यानी अनेकों विभूतियोंके सहित आविर्भूत होनेको सुरगण—इन्द्रादि और महर्षिगण—भृगु आदि सर्वज्ञ होनेपर भी नहीं जानते । उनके उस अज्ञानमें हेतु बताते हैं—क्योंकि उत्पत्तिकर्ता, बुद्धि आदिका प्रवर्त्तक अथवा निमित्त और उपादान कारण होनेसे मैं ही सर्वशः—सब प्रकार समस्त देवता और महर्षियोंका आदि—कारण हूँ । अतः तात्पर्य यह है कि मेरे विकारभूत वे मेरा प्रभाव नहीं जानते ॥ २ ॥

(२) महान् फलवाला होनेसे कोई ही भगवान्‌के प्रभावको जानता है, सो बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जो मुझे अजन्मा अनादि और समस्त लोकोंका महान् ईश्वर जानता है वह मनुष्योंमें सम्मोहसे रहित हो सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥]

(३) सबका कारण होनेसे जिसका आदि—कारण नहीं है ऐसा अनादि, अनादि होनेके कारण अज—जन्मशून्य और लोकोंका महान् ईश्वर ऐसा जो मुझे जानता है वह मर्त्योंमें—मनुष्योंमें असम्मूढ—सम्मोहरहित होकर जान बूझकर किये हुये सभी पापोंसे प्रमुक्त—प्रकर्षसे—कारणके उच्छेदसे पापके संस्कारोंके अभावरूपसे मुक्त हो जाता है ॥३॥

(४) अपनी लोकमहेश्वरताका विस्तार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, उत्पत्ति सत्ता, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश—ये प्राणियोंके तरह-तरहके भाव मेरेसे ही होते हैं ॥ ४-५ ॥]

(१) बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्मार्थविवेकसामर्थ्यं, ज्ञानमात्मानात्मसर्वपदार्थावबोधः, असंमोहः प्रत्युत्पन्नेषु बोद्धव्येषु कर्तव्येषु वाऽव्याकुलतया विवेकेन प्रवृत्तिः, क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा निर्विकारचित्तता, सत्यं प्रमाणेनावबुद्धस्यार्थस्य तथैव भाषणं, दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो निवृत्तिः, शमोऽन्तःकरणस्य शमता, सुखं धर्मसाधारणकारणकमनुकूलवेदनीयं, दुःखमधर्मसाधारणकारणकं प्रतिकूलवेदनीयं, भव उत्पत्तिः, भावः सत्ताऽभावोऽसत्तेति वा । भयं च त्रासस्तद्विपरीतमभयम् । एव च, एकश्चकार उक्तसमुच्चयार्थः । अपरोऽनुक्तबुद्ध्यज्ञानादिसमुच्चयार्थः । एवेत्येते सर्वलोकप्रसिद्धा एवेत्यर्थः । मत्त एव भवन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ४ ॥

(२) अहिंसा प्राणिनां पीडाया निवृत्तिः । समता चित्तस्य रागद्वेषादिरहितावस्था । तुष्टिर्भोग्येष्वेतावताऽलमिति बुद्धिः । तपः शास्त्रीयमार्गेण कायेन्द्रियशोषणम् । दानं देशे काले श्रद्धया यथाशक्त्यर्थानां सत्पात्रे समर्पणम् । यशो धर्मनिमित्ता लोकश्लाघारूपा प्रसिद्धिः । अयशस्त्वधर्मनिमित्ता लोकनिन्दारूपा प्रसिद्धिः । एते बुद्ध्यादयो भावाः कार्यविशेषाः सकारणकाः पृथग्विधा धर्माधर्मादिसाधनवैचित्र्येण नानाविधा भूतानां सर्वेषां प्राणिनां मत्तः परमेश्वरादेव भवन्ति नान्यस्मात्तस्मात्किं वाच्यं मम लोकमहेश्वरत्वमित्यर्थः ॥ ५ ॥

(१) बुद्धि—अन्तःकरणका सूक्ष्म वस्तुओंका विवेक करनेका सामर्थ्य, ज्ञान-आत्मा और अनात्मारूप सभी पदार्थोंको जान लेना, असम्मोह—जानने और करने योग्य प्रसंगोंके उपस्थित होनेपर अव्याकुलतासे विवेक पूर्वक प्रवृत्त होना, क्षमा—गाली दिये जाने अथवा पीटे जानेपर निर्विकार चित्त रहना, सत्य—प्रमाण द्वारा जाने हुए विषयको उसी प्रकार कहना, दम—बाह्य इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटाना, शम—अन्त करणकी शान्ति, सुख—धर्म जिसका असाधारण कारण है ऐसा अनुकूल प्रतीत होनेवाला भाव, दुःख—अधर्म जिसका असाधारण कारण है ऐसा प्रतिकूल प्रतीत होनेवाला भाव, भव—उत्पत्ति, भाव—सत्ता अथवा[1] अभाव—असत्ता, भय—त्रास, उससे विपरीत अभय । इस प्रकार यहाँ एक चकार उक्त सबका समुच्चय करनेके लिये है और दूसरा अबुद्धि—अज्ञान आदि न कहे हुए भावोंके समुच्चयके लिये है । 'इस प्रकार ये सब लोकमें प्रसिद्ध ही हैं'—यह 'एव' पदका तात्पर्य है । इन सबका 'मत्त एव भवन्ति' (मुझसे ही होते हैं) इस प्रकार अगले श्लोकसे अन्वय है ॥ ४ ॥

(२) अहिंसा—प्राणियोंकी पीडासे दूर रहना, समता—चित्तकी राग-द्वेषादि हीन अवस्था, तुष्टि—भोग्य पदार्थोंमें 'इतना बहुत है' इस प्रकारकी बुद्धि, तप—शास्त्रीय मार्गसे शरीर और इन्द्रियोंको सुखाना, दान—देश और कालमें श्रद्धापूर्वक यथाशक्ति सत्पात्रको द्रव्य देना, यश—धर्मके कारण होनेवाली लोक प्रशंसारूपा प्रसिद्धि, तथा अयश अधर्मके कारण होनेवाली दोषकथन यानी लोकनिन्दारूपा प्रसिद्धि—भूत—समस्त प्राणियोंके ये बुद्धि आदि भाव—कार्यविशेष अपने कारणके सहित अनेक प्रकारके धर्म और अधर्मरूप साधनकी विचित्रतासे मुझ परमेश्वरसे ही होते हैं, किसी अन्यसे नहीं । अतः मेरी लोकमहेश्वरताके विषयमें कहना ही क्या है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ५ ॥

१. 'भवोऽभावो' ऐसा पाठ होनेपर ।

(१) इतश्चैतदेवम्—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

(२) महर्षयो वेदतदर्थद्रष्टारः सर्वज्ञा विद्यासंप्रदायप्रवर्तका भृग्वाद्याः सप्त पूर्वे सर्गाद्यकाला-विर्भूताः । तथा च पुराणं—

'भृगुं मरीचिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
वसिष्ठं च महातेजाः सोऽसृजन्मनसा सुतान् ।
सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः ॥' इति ।

तथा चत्वारो मनवः सावर्णा इति प्रसिद्धाः । अथवा महर्षयः सप्त भृग्वाद्याः, तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकाद्याः महर्षयः । मनवस्तथा स्वायंभुवाद्याश्चतुर्दश मयि परमेश्वरे भावो भावना येषां ते मद्भावा मच्चिन्तनपरा मद्भावनावशादाविर्भूतमदीयज्ञानैश्वर्यशक्तय इत्यर्थः । मानसा मनसः संकल्पादेवोत्पन्ना न तु योनिजाः । अतो विशुद्धजन्मत्वेन सर्वप्राणिश्रेष्ठा मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनो जाताः सर्गाद्यकाले प्रादुर्भूताः । येषां महर्षीणां सप्तानां भृग्वादीनां चतुर्णां च सनकादीनां मनूनां च चतुर्दशानामस्मिँल्लोके जन्मना च विद्यया च संततिभूता इमा ब्राह्मणाद्याः सर्वाः प्रजाः ॥

(३) एवं सोपाधिकस्य भगवतः प्रभावमुक्त्वा तज्ज्ञानफलमाह—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

(१) इसलिये भी यह बात ऐसी कही गयी है—

[श्लोकार्थः—जिनकी लोकमें यह सारी प्रजा है वे पूर्ववर्ती सात महर्षि और चार मनु मेरा ही चिन्तन करनेवाले थे और मेरे ही संकल्पसे उत्पन्न हुए थे ॥ ६ ॥]

(२) पूर्वे—सर्गके आदिकालमें आविर्भूत हुए महर्षि—वेद और उसके अर्थके द्रष्टा सर्वज्ञ एवं ज्ञानसम्प्रदायके प्रवर्तक भृगु आदि सात; जैसा कि पुराणका कथन है—'महातेजस्वी ब्रह्माजीने भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ इन सात पुत्रोंको मनसे रचा । इस प्रकार पुराणमें वे सात ब्राह्मण निश्चय किये गये हैं ।' इसी प्रकार चार मनु जो 'सावर्ण' इस नामसे प्रसिद्ध हैं । अथवा भृगु आदि सात महर्षि और उनसे भी पूर्ववर्ती सनकादि चार महर्षि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु मुझ परमेश्वरमें हैं भाव—भावना जिनकी ऐसे मद्भाव अर्थात् मेरे चिन्तनमें तत्पर रहनेवाले हैं । तात्पर्य यह है कि मेरी भावनाके कारण जिनमें मेरे ज्ञान और ऐश्वर्यशक्तियोंका आविर्भाव हुआ है ऐसे हैं । ये मानस हैं—मनके संकल्पसे ही उत्पन्न हुए हैं, योनिसे उत्पन्न हुए नहीं हैं । अतः विशुद्ध जन्मवाले होनेसे समस्त प्राणियोंसे श्रेष्ठ हैं तथा सर्गके आरम्भमें हिरण्यगर्भरूप मेरेसे ही उत्पन्न—प्रादुर्भूत हुए हैं, जिन भृगु आदि सात और सनकादि चार महर्षियों तथा चौदह मनुओंकी इस लोकमें जन्म और विद्याप्राप्तिके द्वारा यह ब्राह्मणादि सारी प्रजा सन्ततिभूत है ॥ ६ ॥

(३) इस प्रकार सोपाधिक भगवान्‌का प्रभाव कहकर उनके ज्ञानका फल बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जो पुरुष मेरी इस विभूति और योगको यथावत् जानता है वह निश्चल योगसे युक्त होता है—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७ ॥]

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

(१) एतां प्रागुक्तां बुद्ध्यादिमहर्ष्यादिरूपां विभूतिं विविधभावं तत्तद्रूपेणावस्थितिं योगं च तत्तदर्थनिर्माणसामर्थ्यं परमैश्वर्यमिति यावत् । मम यो वेत्ति तत्त्वतो यथावत्सोऽविकम्पेनाप्रचलितेन योगेन सम्यग्ज्ञानस्थैर्यलक्षणेन समाधिना युज्यते नात्र संशयः प्रतिबन्धः कश्चित् ॥ ७ ॥

(२) यादृशेन विभूतियोगयोर्ज्ञानेनाविकम्पयोगप्राप्तिस्तद्दर्शयति चतुर्भिः—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

(३) अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिकारणमुपादानं निमित्तं च स्थितिनाशादि च सर्वं सत्त एव प्रवर्तते भवति । मयैवान्तर्यामिणा सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना प्रेर्यमाणं स्वस्वमर्यादामनतिक्रम्य सर्वं जगत्प्रवर्तते चेष्टत इति वा । इत्येवं मत्वा बुधा विवेकेनावगततत्त्वभावेन परामार्थतत्त्वग्रहणरूपेण प्रेम्णा समन्विताः सन्तो मां भजन्ते ॥ ८ ॥

(४) प्रेमपूर्वकं भजनमेव विवृणोति—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

(५) मयि भगवति चित्तं येषां ते मच्चित्ताः । तथा मद्गता मां प्राप्ताः प्राणाश्चक्षुरादयो येषां

(१) इसे पहले बतायी हुई बुद्धि आदि एवं महर्षि आदि विभूतिको—विविधभावको अर्थात् उस-उस रूपसे स्थित होनेको तथा योग—उस-उस वस्तुकी रचना करनेके सामर्थ्यको अर्थात् मेरे परम ऐश्वर्यको जो तत्त्वतः—यथावत् जानता है वह अविकम्प—अप्रचलित योगसे—सम्यग्ज्ञानकी स्थिरतारूप समाधिसे युक्त हो जाता है । इस विषयमें कोई संशय—किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं है ॥ ७ ॥

(२) जिस प्रकारके विभूति और योगके ज्ञानसे निश्चलयोगकी प्राप्ति होती है उसे चार श्लोकोंद्वारा दिखाते हैं—

[श्लोकार्थः—'मैं सम्पूर्ण जगत्‌का उत्पत्तिकारण हूँ, यह सब मुझसे ही प्रवृत्त होता है' ऐसा मानकर पण्डितजन भावसहित मेरा भजन करते हैं ॥ ८ ॥]

(३) मैं वासुदेवसंज्ञक परब्रह्म सम्पूर्ण जगत्‌का प्रभव—उत्पत्तिकारण अर्थात् उपादान और निमित्त कारण हूँ । स्थिति और नाश आदि सब मुझसे ही होते हैं । मुझ अन्तर्यामी सर्वज्ञ सर्वशक्तिसे प्रेरित हुआ ही सारा जगत् अपनी मर्यादाका अतिक्रमण न करके प्रवृत्त होता अर्थात् चेष्टा करता है । ऐसा मानकर ही पण्डितजन तात्त्विक स्वरूपके ज्ञानरूप विवेकद्वारा परमार्थतत्त्वके ग्रहणरूप प्रेमसे युक्त होकर मेरा भजन करते हैं ॥ ८ ॥

(४) प्रेमपूर्वक भजनका ही स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—मेरे हीमें जिनका चित्त लगा हुआ है, मुझ हीमें जिन्होंने अपनी इन्द्रियाँ लगा दी हैं, जो विद्वानोंकी सभामें आपसमें मेरा ही बोधन करते हैं और सर्वदा मेरी ही चर्चा करते हैं वे पण्डितजन सन्तोष और सुखका अनुभव करते रहते हैं ॥ ९ ॥]

(५) मुझ भगवान्‌में ही है चित्त जिनका वे मच्चित्त तथा मद्गत—मुझे प्राप्त हैं चक्षु आदि प्राण जिनके वे मद्गतप्राण—मेरे भजनके लिये ही नेत्रादिकी चेष्टा करनेवाले

ते मद्गतप्राणा मज्जननिमित्तचतुरादिव्यापारा मय्युपसंहृतसर्वकरणा वा। अथवा मद्गतप्राणा मज्जनार्थजीवना मज्जनातिरिक्तप्रयोजनशून्यजीवना इति यावत्। विद्वद्गोष्ठीषु परस्परमन्योन्यं श्रुतिभिर्युक्तिभिश्च मामेव बोधयन्तस्तत्त्वबुभुत्सुकथया ज्ञापयन्तः। तथा स्वशिष्येभ्यश्च मामेव कथयन्त उपदिशन्तश्च। मयि चित्तार्पणं तथा बाह्यकरणार्पणं तथा जीवनार्पणमेवं समानामन्योन्यं मद्बोधनं स्वन्यूनेभ्यश्च मदुपदेशनमित्येवंरूपं यन्मज्जनं तेनैव तुष्यन्ति च, एतावतैव लब्धसर्वार्था वयमलमन्येन लब्धव्येनेत्येवंप्रत्ययरूपं संतोषं प्राप्नुवन्ति च। तेन संतोषेण रमन्ति च रमन्ते च प्रियसंगमेनेवोत्तमं सुखमनुभवन्ति च। तदुक्तं पतञ्जलिना—'संतोषादनुत्तमः सुखलाभः' इति। उक्तं च पुराणे—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्" इति॥ तृष्णाक्षयः संतोषः॥ ९॥

(१) ये यथोक्तेन प्रकारेण भजन्ते माम्—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥

(२) सततं सर्वदा युक्तानां भगवत्येकाग्रबुद्धीनाम्। अत एव लाभपूजाख्यात्याद्यनभिसंधाय प्रीतिपूर्वकमेव भजतां सेवमानानां तेषामविकम्पेन योगेनेति यः प्रागुक्तस्तं बुद्धियोगं मत्तत्त्वविषयं सम्यग्दर्शनं ददामि उत्पादयामि। येन बुद्धियोगेन मामीश्वरमात्मत्वेनोपयान्ति ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्मां भजन्ते ते॥ १०॥

अथवा जिन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंका मेरेमें ही उपसंहार कर दिया है, अथवा मद्गतप्राणा—जिनका जीवन मेरे भजनके ही लिये है अर्थात् मेरे भजनके सिवा जिनके जीवनका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है, विद्वानोंकी सभामें आपसमें श्रुति और युक्तियोंके द्वारा मेरा ही बोधन-तत्त्व-जिज्ञासुओंकी कथाओंसे मेरा ही विज्ञापन करनेवाले तथा अपने शिष्योंको भी मेरा ही कथन—उपदेश करते हुए। इस प्रकार मेरे हीमें चित्तका अर्पण, मेरे हीमें बाह्य इन्द्रियोंका अर्पण और मेरे हीमें जीवनका अर्पण एवं समानोंका आपसमें एक दूसरेको मेरा ही बोधन तथा अपनेसे न्यून पुरुषोंको मेरा ही उपदेश—इसप्रकारका जो मेरा भजन है, उसीसे वे सन्तुष्ट रहते हैं। 'इतने हीसे हमें सब पदार्थ प्राप्त हो गये, अब किसी अन्य प्राप्तव्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं है' इस प्रकारका अनुभवरूप सन्तोष प्राप्त करते हैं। तथा उस सन्तोषसे रमते हैं। अर्थात् अपने प्रियके सहवासके समान सुखका अनुभव करते हैं। ऐसा ही महर्षि पतञ्जलिने कहा है—'सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।' पुराणमें भी कहा है—'लोकमें जो कामजनित सुख है और जो दिव्य महान् सुख है वे तृष्णाक्षयसे प्राप्त होनेवाले सुखके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।' तृष्णाक्षय ही सन्तोष है॥ ९॥

(१) जो उक्त प्रकारसे मेरा भजन करते हैं—

[श्लोकार्थः—सर्वदा योगयुक्त और प्रीतिपूर्वक भजनेवाले उन लोगोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं॥ १०॥]

(२) उन सतत-सर्वदा युक्त—भगवान्‌में एकाग्रबुद्धि अतः लाभ, पूजा एवं ख्याति आदिकी अपेक्षा न रखकर केवल प्रीतिपूर्वक ही भजन—सेवन करनेवाले उन लोगोंको अविकम्पयोगके द्वारा जिसका पहले वर्णन किया है वह बुद्धियोग देता हूँ अर्थात् अपने

(१) दीयमानस्य बुद्धियोगस्याऽऽत्मप्राप्तौ फले मध्यवर्तिनं व्यापारमाह—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ ११॥

(२) तेषामेव कथं श्रेयः स्यादित्यनुग्रहार्थमात्मभावस्थ आत्माकारान्तःकरणवृत्तौ विषयत्वेन स्थितोऽहं स्वप्रकाशचैतन्यानन्दाद्वयलक्षण आत्मा तेनैव मद्विषयान्तःकरणपरिणामरूपेण ज्ञानदीपेन दीपसदृशेन ज्ञानेन भास्वता चिदाभासयुक्तेनाप्रतिबद्धेनाज्ञानजमज्ञानोपादानकं तमो मिथ्याप्रत्ययलक्षणं स्वविषयावरणमन्धकारं तदुपादानाज्ञाननाशेन नाशयामि सर्वश्रमोपादानस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यस्वादुपादाननाशनिवर्त्यत्वाद्योपादेयस्य।

(३) यथा दीपेनान्धकारे निवर्तनीये दीपोत्पत्तिमन्तरेण न कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च वस्तुनोऽभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्य कस्यचिदुत्पत्तिस्तथा ज्ञानेनाज्ञाने निवर्तनीये न ज्ञानोत्पत्तिमन्तरेणान्यस्य कर्मणोऽभ्यासस्य वाऽपेक्षा विद्यमानस्यैव च ब्रह्मभावस्य मोक्षस्याभिव्यक्तिस्ततो नानुत्पन्नस्योत्पत्तिर्येन क्रियेत कर्मादिसापेक्षत्वं वा भवेदिति रूपकालंकारेण सूचितोऽर्थः। भास्वतेत्यनेन तीव्रपवनादेरिवासंभावनादेः प्रतिबन्धकस्याभावः सूचितः। ज्ञानस्य च दीपसाधर्म्यं

तत्त्वके विषयमें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करता हूँ, जिस बुद्धियोगसे, मुझे जो मच्चित्तत्वादि प्रकारोंसे भजते हैं वे मुझ ईश्वरको आत्मभावसे प्राप्त कर लेते हैं॥ १०॥

(१) दिये जानेवाले बुद्धियोगका आत्मप्राप्तिरूप फलमें मध्यवर्ती व्यापार बताते हैं—

[श्लोकार्थः—उन्हींपर कृपा करनेके लिये मैं चित्तकी आत्माकारा वृत्तिमें स्थित प्रकाशमय ज्ञानदीपकसे अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ॥ ११॥]

(२) उन्हींका कल्याण कैसे हो इसलिये कृपा करनेके लिये आत्मभावस्थ—आत्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिमें विषयरूपसे स्थित मैं स्वप्रकाश चैतन्य आनन्द और अद्वयरूप आत्मा अपनेको विषय करनेवाले अन्तःकरणके परिणामरूप उस 'भास्वता'—चिदाभासयुक्त एवं अप्रतिबद्ध ज्ञानदीपकसे ही—दीपकसदृश ज्ञानसे ही मैं अज्ञानज—अज्ञान जिसका उपादान है ऐसे तम—मिथ्या प्रत्ययरूप एवं अपने विषयके आवरणरूप अज्ञानको उसके उपादानभूत अज्ञानका नाश करके नष्ट कर देता हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण भ्रमका उपादानभूत अज्ञान ज्ञानसे निवृत्त हो सकता है और उपादानके नाशसे ही उपादेय (अध्यस्त) की निवृत्ति हो सकती है।

(३) जिस प्रकार दीपकके द्वारा अन्धकारकी निवृत्ति करनी हो तो उसके लिये दीपककी उत्पत्तिके सिवा किसी कर्म या अभ्यासकी अपेक्षा नहीं होती तथा उससे वहाँ विद्यमान वस्तुओंकी ही अभिव्यक्ति होती है, किसी बिना उत्पन्न हुई वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति करनी हो तो उसमें भी ज्ञानोत्पत्तिके सिवा किसी अन्य कर्म या अभ्यासकी अपेक्षा नहीं होती तथा उससे विद्यमान ब्रह्मभाव और मोक्षकी ही अभिव्यक्ति होती है, किसी अनुत्पन्न वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती, जिससे कि उसकी नाशशीलता या कर्मादि-सापेक्षता मानी जाय—यह बात रूपकालङ्कारसे सूचित की गयी है। 'भास्वता' इस पदसे [दीपकके सम्बन्धमें] तीव्र पवन आदिके समान [ज्ञानके विषयमें] असम्भावना आदि प्रतिबन्धका अभाव सूचित किया है। अपने विषयके आवरणका निवर्तक होना, अपने व्यवहारमें किसी दूसरे सजातीयकी अपेक्षा न

स्वविषयावरणनिवर्तकत्वं स्वव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं स्वोत्पत्त्यतिरिक्तसहकार्यनपेक्षत्वमित्यादि रूपकबीजं द्रष्टव्यम् ॥ ११ ॥

(१) एवं भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वा परमोत्कण्ठितः—

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

(२) परं ब्रह्म परं धाम, आश्रयः प्रकाशो वा, परमं पवित्रं पावनं च भवानेव । यतः पुरुषं परमात्मानं शाश्वतं सर्वदैकरूपं दिवि परमे व्योम्नि स्वस्वरूपे भवं दिव्यं सर्वप्रपञ्चातीतमादिं च सर्वकारणं देवं च द्योतनात्मकं स्वप्रकाशमादिदेवमत एवाजं विभुं सर्वगतं त्वामाहुरिति संबन्धः ॥ १२ ॥

(३) आहुः कथयन्ति त्वामनन्तमहिमानमृषयस्तत्त्वज्ञाननिष्ठाः सर्वे भृगुवसिष्ठादयः । तथा देवर्षिर्नारदोऽसितो देवलश्च धौम्यस्य ज्येष्ठो भ्राता, व्यासश्च भगवान्कृष्णद्वैपायनः । एतेऽपि त्वां पूर्वोक्तविशेषणं मे मह्यमाहुः साक्षात्किमन्यैर्वक्तृभिः स्वयमेव त्वं च मह्यं ब्रवीषि । अत्र ऋषित्वेऽपि साक्षाद्वक्तॄणां नारदादीनामतिविशिष्टत्वात्पृथग्ग्रहणम् ॥ १३ ॥

रखना और अपनी उत्पत्तिके सिवा किसी अन्य सहकारी की आवश्यकता न रखना—यह ज्ञान और दीपकका साधर्म्य इस रूपकका बीज समझना चाहिये ॥ ११ ॥

(१) इस प्रकार भगवान्की विभूति और योगके विषयमें सुनकर अत्यन्त उत्कण्ठित हो—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—आप परब्रह्म, परम आश्रयरूप और परम पवित्र हैं । समस्त ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आपको परमात्मा, सर्वदा एकरूप, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और विभु बताते हैं तथा स्वयं आप भी मुझसे ऐसा ही कह रहे हैं ॥ १२-१३ ॥]

(२) [अर्जुन ने कहा—] परब्रह्म, परम धाम—आश्रय या प्रकाश एवं परम पवित्र—पवित्र करनेवाले भी आप ही हैं; क्योंकि आपको ही ऋषिगण पुरुष—परमात्मा, शाश्वत—सर्वदा एकरूप, दिव्य—द्युलोक अर्थात् परमाकाशमें अपने स्वरूपमें स्थित रहनेवाले यानी सर्वप्रपञ्चातीत, आदि—सबका कारण, देव—द्योतनात्मक अर्थात् स्वप्रकाश आदिदेव, इसीसे अजन्मा और विभु—सर्वगत कहते हैं—इस प्रकार इसका सम्बन्ध है ॥ १२ ॥

(३) अनन्त महिमावाले आपको 'आहुः'—कहते हैं भृगु-वसिष्ठ आदि समस्त तत्त्वनिष्ठ ऋषि तथा देवर्षि नारद, असित, धौम्यके बड़े भाई देवल और व्यास—भगवान् कृष्णद्वैपायन—ये सब भी आपको पूर्वविशेषणोंसे युक्त कहते हैं । तथा अन्य कहनेवालोंकी तो बात ही क्या आप स्वयं भी मुझसे ऐसा ही कहते हैं । ऋषि होनेपर भी साक्षात् वक्ता नारदादिकी बहुत विशेषता होनेके कारण उन्हें यहाँ अलग रखा गया है ॥ १३ ॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

(१) सर्वमेतदुक्तमृषिभिश्च स्वया च तदृतं सत्यमेवाहं मन्ये यन्मां प्रति वदसि केशव । नहि त्वद्वचसि मम कुत्राप्यप्रामाण्यशङ्का, तच्च सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासीति केशौ ब्रह्मरुद्रौ सर्वेशावप्यनुकम्प्यतया वाक्यवगच्छतीति व्युत्पत्तिमाश्रित्य निरतिशयैश्वर्यप्रतिपादकेन केशवपदेन सूचितम् । अतो यदुक्तं 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः' इत्यादि तत्तथैव । हि यस्मात्, हे भगवन्समग्रैश्वर्यादिसंपन्न ते तव व्यक्तिं प्रभावं ज्ञानातिशयशालिनोऽपि देवा न विदुर्नापि दानवा न महर्षय इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ १४ ॥

(२) यतस्त्वं तेषां सर्वेषामादिरशक्यज्ञानश्चातः—

स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

(३) स्वयमेवान्योपदेशादिकमन्तरेणैव त्वमेवाऽऽत्मना स्वरूपेणाऽऽत्मानं निरुपाधिकं सोपाधिकं च, निरुपाधिकं प्रत्यक्त्वेनाविषयतया सोपाधिकं च निरतिशयज्ञानैश्वर्यादिशक्तिमत्त्वेन वेत्थ

[श्लोकार्थः—केशव ! आप मुझसे जो कुछ कहते हैं उसे मैं सत्य मानता हूँ । भगवन् ! आपके प्रभावको देवता और दानव भी नहीं जानते ॥ १४ ॥]

(१) हे केशव ! मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं वह आपकी और ऋषियोंकी कही हुई सारी बात मैं सच मानता हूँ । आपके कथनमें मुझे किसी प्रकारके अप्रामाण्यकी आशंका नहीं है । 'यह बात सर्वज्ञ होनेके कारण आप जानते ही हैं' ?—ऐसा केशव-पदकी 'क और ईश अर्थात् ब्रह्मा और रुद्र इन दोनों सर्वेश्वरोंको भी जो अनुकम्प्यरूपसे 'वाति'—समझता है वह केशव' ऐसी व्युत्पत्ति करनेसे सूचित होता है । इसलिये आपने जो कहा कि 'मेरे प्रभावको देवतालोग और महर्षि भी नहीं जानते' सो ठीक ही है, 'क्योंकि हे भगवन्[1] ! समग्र ऐश्वर्यादि सम्पन्न आपकी व्यक्ति—आपके प्रभावको अत्यन्त ज्ञानवान् होनेपर भी न देवता, न दानव और न महर्षि ही जानते हैं—यह भी आप समझ जाइये ॥ १४ ॥

(२) क्योंकि आप उन सबके आदि कारण और उनके जाननेमें न आ सकनेवाले हैं, इसलिये—

[श्लोकार्थः—सम्पूर्ण भूतोंको उत्पन्न करनेवाले, समस्त प्राणियोंके नियन्ता, देवोंके देव; जगत्के स्वामी हे पुरुषोत्तम ! आप अपने निरुपाधिक और सोपाधिक स्वरूपको स्वरूपसे स्वयं ही जानते हैं ॥ १५ ॥]

(३) स्वयं अर्थात् दूसरोंके उपदेशादिके बिना तुम ही 'आत्मना'—स्वरूपसे अपने निरुपाधिक और सोपाधिक स्वरूपको—निरुपाधिकको तो प्रत्यक्चेतन होनेके कारण अविषयरूपसे और सोपाधिकको निरतिशय ज्ञान और ऐश्वर्यादि शक्तिमान्रूपसे

---

१. समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य—इन छः का नाम 'भग' है, जो इनसे युक्त हो उसे भगवान् कहते हैं; यथा—

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना ॥

जानासि नान्यः कश्चित् । अन्यैर्ज्ञातुशक्यमहं कथं जानीयामित्याशङ्कामपनुदन्प्रेमौत्कण्ठ्येन बहुधा संबोधयति हे पुरुषोत्तम त्वदपेक्षया सर्वेऽपि पुरुषा अपकृष्टा एव । अतस्तेषामशक्यं सर्वोत्तमस्य तव शक्यमेवेत्यभिप्रायः । पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति पुनश्चतुर्भिः संबोधनैः—भूतानि सर्वाणि भावयत्युत्पादयतीति हे भूतभावन सर्वभूतपितः । पिताऽपि कश्चिन्नेष्टस्तत्राऽऽह हे भूतेश सर्वभूतनियन्तः । नियन्ताऽपि कश्चिन्नाऽऽराध्यस्तत्राऽऽह हे देवदेव देवानां सर्वाराध्यानामप्याराध्यः । आराध्योऽपि कश्चिन्न पालयितृत्वेन पतिस्तत्राऽऽह हे जगत्पते हिताहितोपदेशकवेदप्रणेतृत्वेन सर्वस्य जगतः पालयितः । एतादृशसर्वविशेषणविशिष्टस्त्वं सर्वेषां पिता सर्वेषां गुरुः सर्वेषां राजाऽतः सर्वैः प्रकारैः सर्वेषामाराध्य इति किं वाच्यं पुरुषोत्तमत्वं तवेति भावः ॥ १५ ॥

(१) यस्मादन्येषां सर्वेषां ज्ञातुमशक्या अवश्यं ज्ञातव्याश्च तव विभूतयस्तस्मात्—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

(२) याभिर्विभूतिभिरिमान्सर्वान् लोकान्व्याप्य त्वं तिष्ठसि तास्तवासाधारणा विभूतयो दिव्या असर्वज्ञैर्ज्ञातुमशक्या हि यस्मात्तस्मात्सर्वज्ञस्त्वमेव ता अशेषेण वक्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

(३) किं प्रयोजनं तत्कथनस्य तदाह द्वाभ्याम्—

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

जानते हैं, और कोई नहीं । जो दूसरोंके द्वारा जाना नहीं जा सकता उसे मैं कैसे जानूँगा ? इस आशंकाको निवृत्त करनेके लिये प्रेमोत्कण्ठापूर्वक अनेक प्रकारसे सम्बोधन करते हैं—हे पुरुषोत्तम !—आपकी अपेक्षा समस्त पुरुष निकृष्ट ही हैं, अतः उनके लिये जो अशक्य है वह सबसे श्रेष्ठ आपके लिये तो शक्य ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है । फिर चार विशेषणोंसे पुरुषोत्तमत्वका ही स्पष्टीकरण करते हैं—जो समस्त भूतोंका भावन—उत्पादन करते हैं वे हे भूतभावन !—समस्त भूतोंके पिता ! पिता होनेपर भी कोई इष्ट नहीं होता, इसलिये कहते हैं—हे भूतेश !—सर्वभूतनियन्ता ! नियन्ता होनेपर भी कोई आराध्य नहीं होता, इसलिये कहते हैं—हे देवदेव ! सबके आराध्य देवताओंके भी देवता ! आराध्य होनेपर भी कोई पालकरूपसे पति नहीं होता, इसलिये कहते हैं—हे जगत्पते—हिताहितका उपदेश करनेवाले वेदके प्रणेता होनेसे समस्त संसारका पालन करनेवाले ! इस प्रकारके समस्त विशेषणोंसे युक्त आप सबके पिता, सबके गुरु, और सबके राजा हैं, इसलिये सब प्रकारसे सबके आराध्य हैं । ऐसी स्थितिमें आपके पुरुषोत्तमत्वके विषयमें क्या कहना है—ऐसा इसका भाव है ॥ १५ ॥

(१) क्योंकि आपकी विभूतियाँ और सबके लिये जाननेमें अशक्य किन्तु अवश्य जानने योग्य हैं, इसलिये—

[श्लोकार्थः—जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं अपनी उन समस्त दिव्य विभूतियोंका आपको पूर्णतया वर्णन करना चाहिये ॥ १६ ॥]

(२) जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन समस्त लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं आपकी वे असाधारण विभूतियाँ, क्योंकि दिव्य—असर्वज्ञोंके लिये जाननेमें अशक्य हैं, इस लिये सर्वज्ञ आपको ही उनका पूर्णतया वर्णन करना चाहिये ॥ १६ ॥

(३) उनके कथनका क्या प्रयोजन है सो दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—योगिन् ! आपका सर्वदा चिन्तन करते हुए मैं आपको किस प्रकार

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

(१) योगो निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिः सोऽस्यास्तीति हे योगिन्निरतिशयैश्वर्यादिशक्तिशालिन्नहमतिस्थूलमतिस्त्वां देवादिभिरपि ज्ञातुमशक्यं कथं विद्यां जानीयां सदा परिचिन्तयन्सर्वदा ध्यायन् । ननु मद्विभूतिषु मां ध्यायञ्ज्ञास्यसि तत्राऽऽह—केषु केषु च भावेषु चेतनाचेतनात्मकेषु वस्तुषु त्वद्विभूतिभूतेषु मया चिन्त्योऽसि हे भगवन् ॥ १७ ॥

(२) अतः—

विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

(३) आत्मनस्तव योगं सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिलक्षणमैश्वर्यातिशयं विभूतिं च ध्यानालम्बनं विस्तरेण संक्षेपेण सप्तमे नवमे चोक्तमपि भूयः कथय सर्वैर्जनैरभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनं याच्यस इति हे जनार्दन । अतो ममापि याच्ञा स्वयुक्तिचैव ।

(४) उक्तस्य पुनः कथनं कुतो याचसे तत्राऽऽह—तृप्तिरलंप्रत्ययेनेच्छाविच्छित्तिर्नास्ति हि यस्माच्छृण्वतः श्रवणेन पिबतस्त्वद्वाक्यममृतममृतवत्पदे-पदे स्वादु स्वादु । अत्र त्वद्वाक्यमित्यनुक्तेरपह्नुत्यतिशयोक्तिरूपकसंकरोऽयं माधुर्यातिशयानुभवेनोत्कण्ठातिशयं व्यनक्ति ॥ १८ ॥

जान सकता हूँ ? और भगवन् ! किन-किन पदार्थोंमें मुझे आपका चिन्तन करना चाहिये ? ॥ १७ ॥]

(१) योग निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिको कहते हैं वह इनमें हैं ऐसे हे योगिन् !—निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तिशालिन् ! मैं स्थूलबुद्धि देवादिके लिये भी जाननेके लिए अयोग्य आपको किस प्रकार जानूँ ? सदा परिचिन्तन अर्थात् ध्यान करते हुए । यदि कहो कि मेरी विभूतियोंमें मेरा ध्यान करनेसे मुझे जान लोगे तो इसपर कहते हैं—हे भगवन् ! आपके विभूतिभूत किन-भावोंमें—चेतन अचेतनरूप वस्तुओंमें मुझे आपका चिन्तन करना चहिये ? ॥ १७ ॥

(२) अतः—

[श्लोकार्थः—जनार्दन ! अपने योग और विभूतिका आप पुनः विस्तारसे वर्णन कीजिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥]

(३) सातवें और नवें अध्यायमें संक्षेपसे कहे हुए अपने योग—सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वादिरूप ऐश्वर्यातिशयका और विभूति-ध्यानके आलम्बनका आप विस्तारसे पुनः वर्णन कीजिये । सम्पूर्ण जनों द्वारा आपसे अपने अभ्युदय और निःश्रेयसरूप प्रयोजनकी याचनाकी जाती है अतः हे जनार्दन ! आपसे मेरी याचना भी उचित ही है ।

(४) जो बात पहले कही जा चुकी है उसके लिये पुनः याचना क्यों करते हो ? इसपर कहते हैं—क्योंकि इस अमृतको सुनते हुए—अमृतके समान पद-पदपर स्वादु लगनेवाले आपके वचनामृतका कर्णोंद्वारा पान करते हुए मुझे तृप्ति—अलंप्रत्ययके द्वारा इच्छाकी निवृत्ति नहीं होती है । यहाँ 'त्वद्वाक्यम्' (आपका वचन) यह नहीं कहा गया, अतः यह अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक अलङ्कारोंका संकर अतिशय माधुर्यके अनुभवसे उत्कण्ठाकी विशेषता प्रकट करता है ॥ १८ ॥

(१) अत्रोत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

(२) हन्तेत्यनुमतौ, यच्चया प्रार्थितं तत्करिष्यामि मा व्याकुलो भूरित्यर्जुनं समाश्वास्य तदेव कर्तुमारभते । कथयिष्यामि प्राधान्यतस्ता विभूतीर्या दिव्या हि प्रसिद्धा आत्मनो ममासाधारणा विभूतयो हे कुरुश्रेष्ठ, विस्तरेण तु कथनमशक्यं, यतो नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे विभूतीनाम् । अतः प्रधानभूताः काश्चिदेव विभूतीर्वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

(३) तत्र प्रथमं तावन्मुख्यं चिन्तनीयं शृणु—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

(४) सर्वभूतानामाशये हृद्देशेऽन्तर्यामिरूपेण प्रत्यगात्मरूपेण च स्थित आत्मा चैतन्यानन्दघनस्वयाऽहं वासुदेव एवेति ध्येयः, हे गुडाकेश जितनिद्रेति ध्यानसामर्थ्यं सूचयति । एवं ध्यानासामर्थ्ये तु वक्ष्यमाणानि ध्यानानि कार्याणि । तत्राप्यादौ ध्येयमाह—अहमेवाऽऽदिश्चोत्पत्तिर्भूतानां प्राणिनां चेतनत्वेन लोके व्यवहियमाणानां मध्यं च स्थितिरन्तश्च नाशः सर्वचेतनवर्गाणामुत्पत्तिस्थितिनाशरूपेण तत्कारणरूपेण चाहमेव ध्येय इत्यर्थः ॥ २० ॥

---

(१) इसका उत्तर देते हुए—

[श्लोकार्थ :—श्रीभगवान्‌ने कहा—अच्छा, कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! मैं प्रधानतया अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियोंके विस्तारका तो अन्त नहीं है ॥१९॥]

(२) [श्रीभगवान्‌ने कहा] 'हन्त' यह अव्यय अनुमतिका सूचक है । 'तुमने जिसके लिये प्रार्थना की है मैं वही करूँगा, तुम व्याकुल मत होओ' इस प्रकार अर्जुनको आश्वासन देकर वैसा ही करना आरम्भ करते हैं । मैं प्रधानतया अपनी उन असाधारण विभूतियोंका ही वर्णन करूँगा जो दिव्य और प्रसिद्ध हैं । हे कुरुश्रेष्ठ ! विस्तारसे तो उनका वर्णन हो नहीं सकता, क्योंकि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है । अतः तात्पर्य यह है कि प्रधानभूत कुछ ही विभूतियोंका वर्णन करूँगा ॥ १९ ॥

(३) उनमें पहले जो प्रधान चिन्तनीय विभूति है उसे सुनो—

[श्लोकार्थ :—गुडाकेश ! मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा हूँ । मैं ही जीवोंका आदि मध्य और अन्त भी हूँ ॥ २० ॥]

(४) हे गुडाकेश—हे निद्राजित्—इस सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनमें ध्यानका सामर्थ्य सूचित करते हैं । समस्त प्राणियोंके आशय—हृदयदेशमें अन्तर्यामिरूपसे और प्रत्यगात्मरूपसे स्थित जो आत्मा—चैतन्यानन्दघन है वह मैं वासुदेव ही हूँ—इस प्रकार तुम्हें ध्यान करना चाहिये । इस तरह ध्यान करनेका सामर्थ्य न होनेपर आगे कहे जानेवाले ध्यान करने चाहिये । उनमें भी पहले ध्येयका वर्णन करते हैं—मैं ही भूतोंको—लोकमें चेतनरूपसे व्यवहार किये जानेवाले प्राणियोंका आदि—उत्पत्ति, मध्य—स्थिति और अन्त—नाश भी हूँ । तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण चेतनवर्गके उत्पत्ति स्थिति और नाशरूपसे तथा उनके कारणरूपसे मेरा ही ध्यान करना चाहिये ॥ २० ॥

(१) एतदशक्तेन बाह्यानि ध्यानानि कार्याणीत्याह यावदध्यायसमाप्ति—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

(२) आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुर्विष्णुनामाऽऽदित्योऽहं वामनावतारो वा । ज्योतिषां प्रकाशकानां मध्येऽहं रविरंशुमान्विश्वव्यापी प्रकाशकः । मरुतां सप्तसप्तकानां मध्ये मरीचिनामाऽहं, नक्षत्राणामधिपतिरहं शशी चन्द्रमाः । निर्धारणे षष्ठी । अत्र प्रायेण निर्धारणे षष्ठी । क्वचित्संबन्धेऽपि । यथा भूतानामस्मि चेतनेत्यादौ । वामनरामादयश्चावतारः सर्वैश्वर्यशालिनोऽप्यनेन रूपेण ध्यानविवक्षया विभूतिषु पठ्यन्ते । वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीति तेन रूपेण ध्यानविवक्षया स्वस्यापि स्वविभूतिमध्ये पाठवत् । अतः परं च प्रायेणायमध्यायः स्पष्टार्थ इति क्वचित्किंचिद्व्याख्यास्यामः ॥ २१ ॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

(३) चतुर्णां वेदानां मध्ये गानमाधुर्येणातिरमणीयः सामवेदोऽहमस्मि । वासव इन्द्रः सर्वदेवाधिपतिः । इन्द्रियाणामेकादशानां प्रवर्तकं मनः, भूतानां सर्वप्राणिसंबन्धिनां परिणामानां मध्ये चिदभिव्यञ्जिका बुद्धेर्वृत्तिश्चेतनाऽहमस्मि ॥ २२ ॥

---

(१) जो इसमें असमर्थ है उसे बाह्य ध्यान करने चाहिये—सो अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त उनका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थ :—मैं आदित्योंमें (अदितिके पुत्रोंमें) विष्णु हूँ, प्रकाशशीलोंमें विश्वव्यापी प्रकाश करनेवाला सूर्य हूँ, मरुतोंमें मरीचि हूँ और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा हूँ ॥ २१ ॥]

(२) बारह आदित्योंमें मैं विष्णु—विष्णु नामका आदित्य अथवा वामन अवतार हूँ । ज्योति अर्थात् प्रकाशकोंमें अंशुमान्—विश्वव्यापी प्रकाश करनेवाला सूर्य हूँ । उनचास मरुतोंमें मरीचि नामका मरुत हूँ तथा नक्षत्रोंमें मैं उनका अधिपति शशि—चन्द्रमा हूँ । यहाँ 'आदित्यानाम्' इत्यादि पदोंमें निर्धारणके अर्थमें षष्ठी है, किन्तु कहीं-कहीं सम्बन्ध-अर्थमें भी है—जैसे 'भूतानामस्मि चेतना' (भूतोंकी चेतना मैं हूँ) इत्यादिमें । वामन और राम आदिके अवतार समस्त ऐश्वर्यशाली होनेपर भी इस रूपसे ध्यान बतानेकी दृष्टिसे विभूतियों में कहे गये हैं । जैसे कि 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' इसमें उस रूपसे ध्यान बतानेकी दृष्टिसे अपनेको भी अपनी विभूतियोंमें कहा है । यहाँ से आगे इस अध्यायका अर्थ प्रायः स्पष्ट ही है, इसलिये हम कहीं-कहीं थोड़ी-सी व्याख्या करेंगे ॥ २१ ॥

[श्लोकार्थः—वेदोंमें सामवेद मैं हूँ, देवताओंमें इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियोंमें मन मैं हूँ और प्राणियोंकी चेतना मैं हूँ ॥ २२ ॥]

(३) चारों वेदोंमें जो गानकी मधुरताके कारण अत्यन्त रमणीय है वह सामवेद मैं हूँ । वासव—इन्द्र जो समस्त देवताओंका अधिपति है, एकादश इन्द्रियोंका प्रेरक मन और भूतोंका—समस्त प्राणियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले परिणामोंके मध्य चेतनको अभिव्यक्त करनेवाली बुद्धिकी वृत्तिरूप चेतना मैं हूँ ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

(१) रुद्राणामेकादशानां मध्ये शंकरः । वित्तेशो धनाध्यक्षः कुबेरो यक्षरक्षसां यक्षानां राक्षसानां च । वसूनामष्टानां पावकोऽग्निः । मेरुः सुमेरुः शिखरिणां शिखरवतामस्युच्छ्रितानां पर्वतानाम् ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

(२) इन्द्रस्य सर्वराजश्रेष्ठत्वात्तत्पुरोधसं बृहस्पतिं सर्वेषां पुरोधसां राजपुरोहितानां मध्ये मुख्यं श्रेष्ठं मामेव हे पार्थ विद्धि जानीहि । सेनानीनां सेनापतीनां मध्ये देवसेनापतिः स्कन्दो गुहोऽहमस्मि । सरसां देवखातजलाशयानां मध्ये सागरः सगरपुत्रैः खातो जलाशयोऽहमस्मि ॥ २४ ॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

(३) महर्षीणां सप्तब्रह्मणां मध्ये भृगुरतितेजस्वित्वादहम् । गिरां वाचां पदलक्षणानां मध्ये एकमक्षरं पदमोंकारोऽहमस्मि । यज्ञानां मध्ये जपयज्ञो हिंसादिदोषशून्यत्वेनात्यन्तशोधकोऽहमस्मि । स्थावराणां स्थितिमतां मध्ये हिमालयोऽहम् । शिखरवतां मध्ये हि मेरुरहमित्युक्तमतः स्थावरत्वेन शिखरवत्त्वेन चार्थभेददोषः ॥ २५ ॥

[श्लोकार्थः—मैं रुद्रोंमें शंकर हूँ, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर हूँ, वसुओंमें अग्नि हूँ और पर्वतोंमें मेरु हूँ ॥ २३ ॥]

(१) मैं रुद्रोंमें—एकादश रुद्रोंमें शंकर हूँ 'यक्षरक्षसाम्'—यक्षोंमें और राक्षसोंमें वित्तेश—धनका अध्यक्ष कुबेर हूँ । आठ वसुओंमें पावक—अग्नि हूँ । शिखरियों—शिखरवालों अर्थात् बहुत ऊँचे पर्वतोंमें मैं मेरु—सुमेरु हूँ ॥ २३ ॥

[श्लोकार्थः—हे पार्थ ! तुम मुझे पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति जानो, सेनापतियोंमें मैं स्कन्द (स्वामिकार्तिकेय) हूँ तथा जलाशयोंमें मैं सागर हूँ ॥ २४ ॥]

(२) हे पार्थ ! इन्द्र समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ हैं अतः उनके पुरोहित बृहस्पतिजीको, जो समस्त राजपुरोहितोंमें मुख्य श्रेष्ठ हैं, तुम मुझे ही जानो । सेनानियों सेनापतियोंमें देवसेनापति स्कन्द—गुह मैं हूँ । सरसों—देवताओंके खोदे हुए जलाशयोंमें सागर—सगरपुत्रोंका खोदा हुआ जलाशय मैं हूँ ॥ २६ ॥

[श्लोकार्थः—सात महर्षियोंमें भृगु मैं हूँ, वाणीमें एकाक्षर—ओंकार मैं हूँ, यज्ञोंमें जपयज्ञ मैं हूँ तथा अविचल स्थितिवालोंमें हिमालय मैं हूँ ॥ २५ ॥]

(३) सात ब्रह्मर्षियोंमें तेजस्वी होनेके कारण भृगु मैं हूँ । गिरा—पदरूपा वाणीमें एकाक्षर पद ओंकार मैं हूँ । यज्ञोंमें, हिंसादिशून्य होनेके कारण जो अत्यन्त शुद्धि करनेवाला है वह जपयज्ञ मैं हूँ । तथा स्थावरोंमें—स्थितिवालोंमें हिमालय मैं हूँ । 'शिखरवालोंमें मैं मेरु हूँ' ऐसा कहा गया है, अतः स्थावरत्व और शिखरवत्वरूपसे अर्थमें भेद होनेके कारण इसमें कोई दोष नहीं है ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

(१) सर्वेषां वृक्षाणां वनस्पतीनामन्येषां च । देवा एव सन्तो ये मन्त्रदर्शित्वेन ऋषित्वं प्राप्तास्ते देवर्षयस्तेषां मध्ये नारदोऽहमस्मि । गन्धर्वाणां गानधर्मणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथोऽहमस्मि । सिद्धानां जन्मनैव विना प्रयत्नं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानामधिगतपरमार्थानां मध्ये कपिलो मुनिरहम् ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

(२) अश्वानां मध्ये उच्चैःश्रवससमृतमथनोद्भवमश्वं मां विद्धि । ऐरावतं गजममृतमथनोद्भवं गजेन्द्राणां मध्ये मां विद्धि । नराणां च मध्ये नराधिपं राजानं मां विद्धीत्यनुषज्यते ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

(३) आयुधानामस्त्राणां मध्ये वज्रं दधीचेरस्थिसंभवमस्त्रमहमस्मि । धेनूनां दोग्ध्रीणां मध्ये कामं दोग्धीति कामधुक्, समुद्रमथनोद्भवा वसिष्ठस्य कामधेनुरहमस्मि । कामानां मध्ये प्रजनः

[श्लोकार्थः—समस्त वृक्षोंमें अश्वत्थ, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिलमुनि मैं हूँ ॥ २६ ॥]

(१) समस्त वृक्षोंमें अर्थात् वनस्पतियोंमें तथा अन्य सब प्रकारके पेड़ोंमें [मैं अश्वत्थ हूँ] । देवता होते हुए जो मन्त्रदर्शी होनेके कारण ऋषित्वको प्राप्त हुए हैं वे 'देवर्षि' कहलाते हैं, उनमें नारद मैं हूँ । गन्धर्वों अर्थात् गानधर्मवाले देवगायकोंमें मैं चित्ररथ हूँ । तथा सिद्धोंमें—बिना प्रयत्नके जन्मसे ही धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्यकी अतिशयताको प्राप्त और परमार्थतत्त्वको जाननेवालोंमें मैं कपिलमुनि हूँ ॥ २६ ॥

[श्लोकार्थः—घोड़ोंमें तुम मुझे अमृतमन्थनके समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा जानो तथा गजराजोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें राजा भी मुझे ही जानो ॥ २७ ॥]

(२) घोड़ोंमें अमृतमन्थनके समय उत्पन्न हुआ उच्चैःश्रवा नामका घोड़ा तुम मुझे जानो । गजराजोंमें अमृतमन्थनके समय उत्पन्न हुआ ऐरावत नामका गज तुम मुझे समझो तथा मनुष्योंमें तुम नराधिप—राजा मेरेको जानो—इस प्रकार इसका सम्बन्ध है ॥ २७ ॥

[श्लोकार्थः—आयुधोंमें मैं वज्र हूँ, दूध देनेवाली गौओंमें कामधेनु मैं हूँ, पुत्रोत्पत्ति करनेवाला कामदेव मैं हूँ तथा सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥]

(३) आयुधोंमें—अस्त्रोंमें वज्र अर्थात् दधीचि ऋषिके अस्थियोंसे बना हुआ अस्त्र मैं हूँ । धेनु—दूध देनेवाली गौओंमें जो काम (इच्छित वस्तु) प्रदान करनेवाली होनेसे 'कामधुक्' कही जाती है वह समुद्रमन्थनके समय उत्पन्न हुई वसिष्ठजीकी कामधेनु मैं हूँ । कामोंमें प्रजन—प्रजनन करनेवाला अर्थात् पुत्रोत्पत्तिरूप प्रयोजनवाला जो

प्रजनयिता पुत्रोत्पत्त्यर्थो यः कंदर्पः कामः सोऽहमस्मि । चकारस्त्वर्थो रतिमात्रहेतुकामव्यावृत्त्यर्थः । सर्पाश्च नागाश्च जातिभेदाद्विद्यन्ते । तत्र सर्पाणां मध्ये तेषां राजा वासुकिरहमस्मि ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

(१) नागानां जतिभेदानां मध्ये तेषां राजाऽनन्तश्च शेषाख्योऽहमस्मि । यादसां जलचरणां मध्ये तेषां राजा वरुणोऽहमस्मि । पितॄणां मध्येऽर्यमा नाम पितृराजश्चाहस्मि । संयमतां संयमं धर्माधर्मफलदानेनानुग्रहं निग्रहं च कुर्वतां मध्ये यमोऽहमस्मि ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

(२) दैत्यानां दितिवंश्यानां मध्ये प्रकर्षेण ह्लादयत्यानन्दयति परमसात्त्विकत्वेन सर्वानिति प्रह्लादश्चास्मि । कलयतां संख्यानं गणनं कुर्वतां मध्ये कालोऽहम् । मृगेन्द्रः सिंहो मृगाणां पशूनां मध्येऽहम् । वैनतेयश्च पक्षिणां विनतापुत्रो गरुडः ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

(३) पवतां पावयितॄणां वेगवतां वा मध्ये पवनो वायुरहमस्मि । शस्त्रभृतां शस्त्रधारिणां युद्धकुशलानां मध्ये रामो दाशरथिरखिलराक्षसकुलक्षयकरः परमवीरोऽहमस्मि । साक्षात्स्वरूपस्या-

प्यनेन रूपेण चिन्तनार्थं वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मीतिवदत्र पाठ इति प्रागुक्तम् । झषाणां मत्स्यानां मध्ये मकरो नाम तज्जातिविशेषः । स्रोतसां वेगेन चलज्जलानां नदीनां मध्ये सर्वनदीश्रेष्ठा जाह्नवी गङ्गाऽहमस्मि ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

(१) सर्गाणामचेतनसृष्टीनामादिरन्तश्च मध्यं चोत्पत्तिस्थितिलया अहमेव हे अर्जुन । भूतानां जीवाविष्टानां चेतनत्वेन प्रसिद्धानामेवाऽऽदिरन्तश्च मध्यं चेत्युक्तमुपक्रमे, इह त्वचेतनसर्गाणामिति न पौनरुक्त्यम् । विद्यानां मध्येऽध्यात्मविद्या मोक्षहेतुरात्मतत्त्वविद्याऽहम् । प्रवदतां प्रवदत्संबन्धिनां कथाभेदानां वादजल्पवितण्डात्मकानां मध्ये वादोऽहम् । भूतानामस्मि चेतनेत्यत्र यथा भूतशब्देन तत्संबन्धिनः परिणामा लक्षितास्तथेह प्रवदच्छब्देन तत्संबन्धिनः कथाभेदा लक्ष्यन्ते । अतो निर्धारणोपपत्तिः । यथाश्रुते तूभयत्रापि संबन्धे षष्ठी । तत्र तत्त्ववुभुत्सवोर्वीतरागयोः सब्रह्मचारिणोर्गुरुशिष्ययोर्वा प्रमाणेन तर्केण च साधनदूषणात्मा सपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्तत्त्वनिर्णयपर्यन्तो वादः । तदुक्तं 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः' इति । वादफलस्य तत्त्वनिर्णयस्य दुर्दुरूढवादिनिराकरणेन संरक्षणार्थं विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे

कन्दर्प—कामदेव है वह मैं हूँ । चकार 'तु' के अर्थ में और रतिमात्र ही जिसका प्रयोजन है उस कामका निषेध करनेके लिये है । सर्प और नाग जाति के भेदसे भिन्न-भिन्न हैं, उन सर्पोंमें उनका राजा वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥

[श्लोकार्थः—मैं नागोंमें अनन्त हूँ, जलचरोंमें वरुण हूँ, पितृगणमें अर्यमा हूँ और नियम रखनेवालोंमें यम हूँ ॥ २९ ॥]

(१) सर्पोंके जातिभेद नागोंमें मैं उनका राजा अनन्त अर्थात् शेष नामका नाग हूँ । जलचरोंमें मैं उनका राजा वरुण हूँ । पितरोंमें मैं अर्यमा नामका पितृराज हूँ । संयम करनेवालोंमें अर्थात् धर्म और अधर्मका फल देकर निग्रह और अनुग्रह करनेवालोंमें मैं यम हूँ ॥ २९ ॥

[श्लोकार्थः—मैं दैत्योंमें प्रह्लाद हूँ, गणना करनेवालोंमें काल हूँ, मृगोंमें सिंह हूँ और पक्षियोंमें गरुड हूँ ॥ ३० ॥]

(२) दैत्योंमें—दितिके वंशधरोंमें मैं प्रह्लाद—जो परम सात्त्विक होनेके कारण प्रकर्षसे सबको ह्लादित—आनन्दित करता है वह प्रह्लाद मैं हूँ । कलना—संख्या अर्थात् गणना करनेवालोंमें मैं काल हूँ । मृग—पशुओंमें मैं मृगेन्द्र—सिंह हूँ । पक्षियोंमें वैनतेय—विनताका पुत्र गरुड हूँ ॥ ३० ॥

[श्लोकार्थः—मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु हूँ, शस्त्रधारियोंमें राम हूँ, मत्स्योंमें मगर हूँ और नदियोंमें गंगा हूँ ॥ ३१ ॥]

(३) 'पवताम्'—पवित्र करनेवाले अथवा वेगवानोंमें पवन—वायु हूँ । शस्त्रभृत—शस्त्रधारियों अर्थात् युद्धकुशलोंमें मैं सम्पूर्ण राक्षसोंका वध करनेवाला परम वीर दशरथ-नन्दन राम हूँ । राम भगवान्‌के साक्षात् स्वरूप ही हैं तो भी 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' इस कथनके समान चिन्तनके लिये उन्हें इस रूपसे कहा है—यह बात पहले कही जा चुकी है । झष अर्थात् मछलियोंमें मैं उन्हींकी एक जातिविशेष मकर हूँ । स्रोतों अर्थात् वेगसे बहते हुए जलवाली नदियों में मैं समस्त नदियोंमें श्रेष्ठ जाह्नवी—गंगा हूँ ॥ ३१ ॥

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! मैं सृष्टियोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ, विद्याओंमें अध्यात्मविद्या हूँ और विवाद करनेवालोंसे सम्बन्धित कथाभेदोंमें वाद हूँ ॥ ३२ ॥]

(१) हे अर्जुन ! सर्ग अर्थात् अचेतन सृष्टियोंके आदि, अन्त और मध्य अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय मैं हूँ । भूत अर्थात् जीवसे आविष्ट एवं चेतनरूपसे प्रसिद्ध प्राणियोंके आदि, अन्त और मध्य तो उपक्रम (आरम्भ) में कह दिये हैं, यहाँ तो केवल अचेतन सृष्टिके ही जन्मादि कहे हैं, अतः इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है । विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या—मोक्षकी हेतुभूता आत्मतत्त्व विद्या हूँ । 'प्रवदताम्—'विवाद करनेवालोंसे सम्बन्ध रखनेवाले वाद, जल्प और वितण्डारूप कथाभेदोंमें मैं वाद हूँ । 'भूतानामस्मि चेतना' इस स्थलमें जिस प्रकार 'भूत' शब्दसे उससे सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम लक्षित होते हैं उसी प्रकार यहाँ 'प्रवदत्' शब्दसे तत्सम्बन्धी कथाभेद लक्षित होते हैं । इसीसे इस निर्धारणकी उपपत्ति होती है । श्लोकमें जिस प्रकार आये हैं उस प्रकार दोनों स्थानोंमें सम्बन्धमें षष्ठी है । दो तत्त्वजिज्ञासु वीतराग साथी ब्रह्मचारियोंका अथवा गुरु-शिष्यका प्रमाण और तर्कके द्वारा एक-दूसरेके हेतुओंको दूषित करना रूप तथा तत्त्वके निर्णयपर्यन्त पहुँचा हुआ जो पक्ष और प्रतिपक्षको ग्रहण करना है उसे 'वाद' कहते हैं । ऐसा ही कहा भी है—'प्रमाण और तर्कसे हेतुओंको दूषित करना रूप सिद्धान्तसे अविरुद्ध और प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन पाँच अवयवोंसे युक्त जो पक्ष और प्रतिपक्षको ग्रहण करना है उसका नाम 'वाद' है ।' वादके फलभूत तत्त्वनिर्णयकी रक्षाके लिये किसी अत्यन्त दुराग्रही वादीके निराकरण द्वारा जो विज-

उप राजयमात्रपर्यन्ते । तदुक्तं 'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखाप्रावरणवत्' इति । छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षो दूष्यत इति जल्पे वितण्डायां च समानम् । तत्र वितण्डायामेकेन स्वपक्षः स्थाप्यत एव, अन्येन च स दूष्यत एव । जल्पे तूभाभ्यामपि स्वपक्षः स्थाप्यत उभाभ्यामपि परपक्षो दूष्यत इति विशेषः । तदुक्तं 'यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा' इति । अतो वितण्डाद्वयशरीरत्वाज्जल्पो नाम नैका कथा, किं तु शक्त्यतिशयज्ञानार्थं समयबन्धमात्रेण प्रवर्तत इति खण्डनकाराः । तत्त्वाध्यवसायपर्यवसायित्वेन तु वादस्य श्रेष्ठत्वमुक्तमेव ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

(१) अक्षराणां सर्वेषां वर्णानां मध्येऽकारोऽहमस्मि । 'अकारो वै सर्वा वाक्' इति श्रुतेस्तस्य श्रेष्ठत्वं प्रसिद्धम् । द्वंद्वः समास उभयपदार्थप्रधानः सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्येऽह-

येच्छुओंकी जय या पराजयमात्र तक पहुँचनेवाली कथाएँ हैं वे जल्प और वितण्डा कही जाती हैं। ऐसा कहा भी है कि 'तत्त्व निश्चयकी रक्षाके लिये जल्प और वितण्डा बीजसे उत्पन्न हुए अंकुरकी रक्षाके लिये लगायी हुई काँटों तथा शाखाओंकी बाड़के समान हैं।' छल[1] जाति[2] और निग्रहस्थानके[3] द्वारा परपक्षको दूषित किया जाता है—यह जल्प और वितण्डामें समानता है। इनमें वितण्डामें तो एकके द्वारा अपने पक्षको स्थापित ही किया जाता है और दूसरेके द्वारा उसे दूषित ही किया जाता है, किन्तु जल्पमें दोनों हीके द्वारा अपने पक्षको स्थापित किया जाता है और दोनों ही के द्वारा परपक्षको दूषित किया जाता है—इतनी विशेषता है। कहा भी है 'उपर्युक्त छल जाति और निग्रहस्थानके द्वारा हेतुको दूषित करना जल्प है और अपने पक्षकी स्थापनासे रहित होनेपर वही वितण्डा होता है।' इसीसे खण्डनकार कहते हैं—'कथाके शरीरमें वितण्डा और वाद दोनोंका भी अन्तर्भाव होनेसे केवल जल्प ही कथा नहीं है, किन्तु शक्तिकी विशेषता जतानेके लिये ये तीनों ही प्रतिज्ञा बाँधकर प्रवृत्त होते हैं।' इनमें तत्त्वनिश्चयमें समाप्त होनेवाला होनेसे वादकी श्रेष्ठता कही ही गयी है ॥ ३२ ॥

[श्लोकार्धः—मैं अक्षरोंमें अकार हूँ, समासोंमें द्वन्द्वसमास हूँ, मास-संवत्सरादि क्षयशील कालोंमें मैं ही अक्षय काल हूँ और कर्मफल देनेवालोंमें मैं सब ओर मुखवाला विधाता (ईश्वर) हूँ ॥ ३३ ॥]

(१) अक्षरोंमें—समस्त वर्णोंमें मैं अकार हूँ। 'अकार ही सम्पूर्ण वाणी है' इस

१. जिस वाक्यका प्रयोग दूसरे अभिप्रायसे किया गया है उसका कोई और अर्थ कल्पना करके उसमें दोषदिखाना 'छल' है।

२. जिसका अपने पास भी कोई उत्तर न हो ऐसी बात पूछना 'जाति' है।

३. वादीके पराजयका कारण 'निग्रहस्थान' कहलाता है। प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, आपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास—ये सब निग्रहस्थान हैं। इनके अवान्तर भेद और लक्षण न्यायमुक्तावली आदि ग्रन्थोंसे जाने जा सकते हैं।

स्मि । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिरिति तेषामुभयपदार्थसाम्याभावेनापकृष्टत्वात् । क्षयिकालाभिमान्यक्षयः परमेश्वराख्यः कालः " ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः " इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धोऽहमेव । कालः कलयतामहमित्यत्र तु क्षयी काल उक्त इति भेदः । कर्मफलविधातृणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतो मुखो धाता सर्वकर्मफलदातेश्वरोऽहमित्यर्थः ॥३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

(१) संहारकारिणां मध्ये सर्वहरः सर्वसंहारकारी मृत्युरहम् । भविष्यतां भाविकल्याणानां य उद्भव उत्कर्षः स चाहमेव । नारीणां मध्ये कीर्तिः श्रीर्वाक्स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेति च सप्त धर्मपत्न्योऽहमेव । तत्र कीर्तिर्धार्मिकत्वनिमित्ता प्रशस्तत्वेन नानादिग्देशीयलोकज्ञानविषयतारूपा ख्यातिः । श्रीर्धर्मार्थकामसंपत्, शरीरशोभा वा कान्तिर्वा । वाक्सरस्वती सर्वस्यार्थस्य प्रकाशिका संस्कृता वाणी । चकारान्मूर्त्यादयोऽपि धर्मपत्न्यो गृह्यन्ते । स्मृतिश्चिरानुभूतार्थस्मरणशक्तिः । अनेकग्रन्थार्थधारणाशक्तिर्मेधा । धृतिरवसादेऽपि शरीरेन्द्रियसंघातोत्तम्भनशक्तिः, उच्छृङ्खलप्रवृत्तिकारणेन चापलप्राप्तौ तन्निवर्तनशक्तिर्वा । क्षमा हर्षविषादयोरविकृतचित्तता । यासामाभासमात्रसंबन्धेनापि जनः सर्वलोकादरणीयो भवति तासां सर्वस्त्रीषूत्तमत्वमतिप्रसिद्धमेव ॥ ३४ ॥

प्रकार श्रुतिसे भी उसकी श्रेष्ठता प्रसिद्ध है। समाससमूहमें मैं दोनों पदोंके अर्थकी प्रधानतावाला द्वन्द्वसमास हूँ। क्योंकि अव्ययीभाव पूर्वपदके अर्थकी प्रधानतावाला, तत्पुरुष परपदके अर्थकी प्रधानतावाला और बहुव्रीहि अन्यपदके अर्थकी प्रधानतावाला होता है, अतः उनमें दोनों पदोंकी समानता न होनेसे वे निकृष्ट हैं। क्षयशील कालका अभिमानी जो 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' इत्यादि श्रुतिमें प्रसिद्ध परमेश्वर नामका अक्षयकाल है वह मैं ही हूँ। 'कालः कलयतामहम्' यहाँ तो क्षयशील काल कहा है, इसलिये इससे उपर्युक्त कालका भेद है। कर्मफलका विधान करनेवालोंमें मैं विश्वतोमुख—सब ओर मुखवाला धाता अर्थात् सब प्रकारका कर्मफल देनेवाला ईश्वर हूँ ॥ ३३ ॥

[श्लोकार्थः—संहार करनेवालोंमें मैं सबका संहार करनेवाला मृत्यु हूँ, भावी कल्याणोंमें मैं उत्कर्ष (उन्नति) हूँ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा—ये सात धर्मपत्नियाँ हूँ ॥ ३४ ॥]

(१) संहार करनेवालोंमें मैं सर्वहर—सबका संहार करनेवाला मृत्यु हूँ। भविष्यत् अर्थात् भावी कल्याणोंमें जो उद्भव—उत्कर्ष है वह मैं ही हूँ। नारियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा जो धर्मकी पत्नियाँ हैं वे मैं ही हूँ। इनमें धार्मिकत्वके कारण प्रशंसारूपसे जो विभिन्न दिशा और देशोंके लोगोंके ज्ञानमें आनेवाली ख्याति है उसे 'कीर्ति' कहते हैं। धर्म, अर्थ और कामकी पूर्ति, शरीरकी शोभा अथवा कान्तिका नाम 'श्री' है। वाक् सरस्वती अर्थात् सब प्रकारके अर्थको प्रकाशित करनेवाली संस्कृत वाणीको कहते हैं। यहाँ 'च' शब्दसे मूर्ति आदि धर्मकी अन्य पत्नियाँ भी ग्रहण की जाती हैं। स्मृति चिरकालके अनुभव किये हुए अर्थकी स्मरण-शक्तिका नाम है। अनेकों ग्रन्थोंके तात्पर्यको धारण करनेकी शक्ति मेधा है। थक जानेपर भी शरीर और इन्द्रियोंके समूहको उठाये रखनेकी शक्ति धृति है; अथवा उच्छृङ्खल प्रवृत्तिके कारणसे चपलताकी प्राप्ति होनेपर उसे निवृत्त करनेकी शक्तिका नाम धृति है। हर्ष और विषादके समय निर्विकार चित्त रहना क्षमा है। जिन कीर्ति आदिके आभासमात्रका सम्बन्ध होनेपर भी

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

(१) वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तं तत्रायमन्यो विशेषः साक्षात्मृगक्षरारूढानां गीतिविशेषाणां मध्ये त्वामिद्धि हवामह इत्यस्यामृचि गीतिविशेषो बृहत्साम । तच्चातिरात्रे पृष्टस्तोत्रं सर्वेश्वरत्वेनेन्द्रस्तुतिरूपमन्यतः श्रेष्ठत्वादहम् । छन्दसां नियताक्षरपादत्वरूपच्छन्दोविशिष्टानामृचां मध्ये द्विजातेर्द्वितीयजन्महेतुत्वेन प्रातःसवनादिसवनत्रयव्यापित्वेन त्रिष्टुब्जगतीभ्यां सोमाहरणार्थं गताभ्यां सोमो न लब्धोऽक्षराणि च हारितानि जगत्या त्रीणि त्रिष्टुभैकमिति चत्वारि तैरक्षरैः सह सोमस्याऽऽहरणेन च सर्वश्रेष्ठा गायत्र्यृगहम् । 'चतुरक्षराणि ह वा अग्रे छन्दांस्यासुस्ततो जगती सोममच्छापतत्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वा जगाम ततस्त्रिष्टुप्सोममच्छापतत्सैकमक्षरं हित्वाऽपतत्ततो गायत्री सोममच्छापतत्सा तानि चाक्षराणि हरन्त्यागच्छत्सोमं च तस्मादष्टाक्षरा गायत्री' इत्युपक्रम्य 'तदाहुर्गायत्राणि वै सर्वाणि सवनानि गायत्री ह्येवैतदुपसृजमानैः' इति शतपथश्रुतेः, 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतम्' इत्यादिछान्दोग्यश्रुतेश्च ।

(२) मासानां द्वादशानां मध्येऽभिनवशालिवास्तूकशाकादिशाली शीतातपशून्यत्वेन च सुखहेतुर्मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां षण्णां मध्ये कुसुमाकरः सर्वसुगन्धिकुसुमानामाकरोऽतिरमणीयो

मनुष्य समस्त लोकोंमें आदरणीय हो जाता है उनका समस्त स्त्रियोंमें उत्तम होना अत्यन्त प्रसिद्ध ही है ॥ ३४ ॥

[श्लोकार्थः—सामोंमें मैं बृहत्साम हूँ, छन्दोंमें गायत्री हूँ, महीनोंमें मार्गशीर्ष हूँ और ऋतुओंमें वसन्त हूँ ॥ ३५ ॥]

(१) पहले यह कहा गया है कि वेदोंमें मैं सामवेद हूँ; उसमें यह दूसरी विशेषता है । सामोंमें अर्थात् ऋचाओंपर आरूढ गीतिविशेषोंमें जो 'त्वामिद्धि हवामहे' इस ऋचामें आरूढ गीतिविशेष है वह बृहत्साम है । अतिरात्रयज्ञमें सर्वेश्वररूपसे इन्द्रकी स्तुतिरूप वह पृष्टस्तोत्र दूसरोंसे श्रेष्ठ होनेके कारण मैं हूँ । छन्दोंमें अर्थात् जिनके अक्षर और पाद नियत हैं ऐसी छन्दोविशिष्ट ऋचाओंमें मैं गायत्री ऋचा हूँ; क्योंकि द्विजातियोंके द्वितीय जन्मकी कारण होनेसे, प्रातःसवन आदि तीनों सवनोंमें व्याप्त रहनेसे तथा सोम लेनेके लिये गयी हुई त्रिष्टुप् और जगती छन्दोंको जब सोम नहीं मिला तथा जगतीके तीन और त्रिष्टुप्के एक इस प्रकार उनके अक्षर भी हर लिये गये तो उस समय उन चार अक्षरोंके सहित सोमको ले आनेके कारण भी यह सबसे श्रेष्ठ है । यह बात 'पहले सब छन्द चार-चार अक्षरोंवाली थीं । तब जगती छन्द सोमके अभिमुख होकर गयी तो वह अपने तीन अक्षर खोकर चली आयी । फिर त्रिष्टुप् सोम के अभिमुख होकर गयी, वह एक अक्षर खोकर चली आयी । इसके पश्चात् गायत्री सोमके अभिमुख होकर गयी, वह उन चार अक्षरोंको और सोमको भी ले आयी, इसीसे गायत्री आठ अक्षरोंवाली है' इस प्रकार आरम्भ करके 'इसीसे कहा है सब सवन गायत्रीसम्बन्धी हैं तथा हमने जो रचा है वह गायत्री ही है' इसे शतपथ श्रुतिने भी कहा है । तथा 'यह सब भूतवर्ग गायत्री ही है' इस छान्दोग्य श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ।

(२) तथ बारह महीनोंमें जिसमें नवीन धान एवं बथुआका शाक आदि होते हैं और जो शीत एवं घामसे रहित होनेके कारण सुखका कारण है वह मार्गशीर्ष मैं हूँ । छहों ऋतुओंमें मैं कुसुमाकर अर्थात् समस्त सुगन्धित पुष्पोंकी खानिरूप अत्यन्त रमणीय

वसन्तः, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' 'तद्वै वसन्त एवाभ्यारभेत' 'वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धोऽहमस्मि ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥

(१) छलयतां छलस्य परवञ्चनस्य कर्तॄणां संबन्धि द्यूतमक्षदेवनादिलक्षणं सर्वस्वापहारकारणमहमस्मि । तेजस्विनामत्युग्रप्रभावानां संबन्धि तेजोऽप्रतिहताज्ञत्वमहमस्मि । जेतॄणां पराजितापेक्षयोत्कर्षलक्षणो जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायः फलाव्यभिचार्युद्यमोऽहमस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यलक्षणं सत्त्वकार्यमेवात्र सत्त्वमहम् ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

(२) साक्षादीश्वरस्यापि विभूतिमध्ये पाठस्तेन रूपेण चिन्तनार्थ इति प्रागेवोक्तम् । वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवपुत्रत्वेन प्रसिद्धस्त्वदुपदेष्टाऽयमहम् । तथा पाण्डवानां मध्ये धनंजयस्त्वमेवाहम् । मुनीनां मननशीलानामपि मध्ये वेदव्यासोऽहम् । कवीनां क्रान्तदर्शिनां सूक्ष्मार्थविवेकिनां मध्य उशना कविरिति ख्यातः शुक्रोऽहम् ॥ ३७ ॥

वसन्त हूँ, जो 'वसन्तऋतुमें ब्राह्मणका उपनयन करे,' 'वसन्तऋतुमें ब्राह्मण अग्न्याधान करे', 'प्रत्येक वसन्तमें ज्योतिष् नामका यज्ञ करे', 'उसका वसन्तमें ही आरम्भ करे', 'वसन्त ही ब्राह्मणका ऋतु है' इत्यादि शास्त्रवाक्योंमें प्रसिद्ध है ॥ ३५ ॥

[श्लोकार्थः—मैं दूसरोंको छलनेवालोंका जूआ हूँ, तेजस्वियोंका तेज मैं हूँ, मैं ही जीतनेवालोंका जय और व्यवसायियोंका व्यवसाय हूँ तथा मैं ही सात्त्विक पुरुषोंका सत्त्वगुण हूँ ॥ ३६ ॥]

(१) छलनेवालोंका अर्थात् दूसरोंको ठगनेवालोंसे सम्बन्ध रखनेवाला द्यूत—पासोंसे खेलनारूप जूआ, जो दूसरेके सर्वस्वहरणका कारण है, मैं हूँ । तेजस्वियोंका—अत्यन्त उग्रप्रभाववालोंसे सम्बन्ध रखनेवाला तेज—उनका कहीं न रुकनेवाला शासन मैं हूँ । जीतनेवालोंका मैं पराजितोंकी अपेक्षा उत्कर्षरूप जय हूँ । व्यवसायियोंका व्यवसाय अर्थात् जिसके फलमें कभी चूक नहीं पड़ती वह उद्यम मैं हूँ । सत्त्ववान् अर्थात् सात्त्विकोंका सत्त्व—यहाँ धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यरूप सत्त्वका कार्य ही 'सत्त्व' शब्दसे कहा गया है—मैं हूँ ॥ ३६ ॥

[श्लोकार्थः—वृष्णिवंशी यादवोंमें वसुदेवपुत्र मैं हूँ, पाण्डवोंमें अर्जुन मैं हूँ, मुनियोंमें भी व्यास मैं हूँ और कवियोंमें शुक्राचार्य मैं हूँ ॥ ३७ ॥]

(२) यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि साक्षात् ईश्वरका भी विभूतियोंमें उल्लेख उनका विभूतिरूपसे ध्यान करनेके लिये है । वृष्णियोंमें वासुदेव—वसुदेवके पुत्ररूपसे प्रसिद्ध यह तुम्हें उपदेश करनेवाला मैं हूँ । तथा पाण्डवोंमें धनञ्जय अर्थात् तुम ही मैं हूँ । मुनियों-मननशीलोंमें भी वेदव्यास मैं हूँ । कवियों—क्रान्तदर्शियों अर्थात् सूक्ष्म वस्तुओंका विवेक करनेवालोंमें उशना कवि नामसे विख्यात शुक्र मैं हूँ ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

(१) दमयतामदान्तानुत्पथान्पथि प्रवर्तयतामुत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुर्दण्डोऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशकोऽहमस्मि । गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनं वाचंयमत्वमहमस्मि । नहि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायो ज्ञायते । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये सप्तसंन्यासश्रवणमननपूर्वकमात्मनो निदिध्यासनलक्षणं मौनं वाऽहमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां यच्छ्रवणमननिदिध्यासनपरिपाकप्रभवमद्वितीयात्मसाक्षात्काररूपं सर्वज्ञानविरोधि ज्ञानं तदहमस्मि ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

(२) यद्यपि च सर्वभूतानां प्ररोहकारणं बीजं तन्मायोपाधिकं चैतन्यमहमेव हेऽर्जुन ! मया विना यत्स्याद्भवेच्चराचरं वा भूतं वस्तु तच्चास्त्येव यतः सर्वं सत्कार्यमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(३) प्रकरणार्थमुपसंहरन्विभूतिं संक्षिपति—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

(४) हे परंतप परेषां शत्रूणां कामक्रोधलोभादीनां तापजनक मम दिव्यानां विभूतीनामन्त

[श्लोकार्थः—मैं निग्रह करनेवालोंके लिये दण्ड हूँ, जयकी इच्छावालोंके लिये नीति हूँ, गोपनीय वस्तुओंमें मौन हूँ और ज्ञानवानोंका ज्ञान हूँ ॥ ३८ ॥]

(१) दमवानोंका अर्थात् कुमार्गमें जानेवाले अजितेन्द्रियोंको सुमार्गमें प्रवृत्त करनेवालोंकी उत्पथप्रवृत्तिके रोकनेका हेतुभूत दण्ड मैं हूँ । जिगीषुओं—जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति-न्याय अर्थात् जयके उपायका प्रकाशक मैं हूँ—गुप्तों अर्थात् गोपनीयोंमें गोपनका हेतु मौन अर्थात् वाणीका संयम मैं हूँ, क्योंकि चुपचाप बैठे हुए पुरुषके अभिप्रायका पता नहीं लगता । अथवा गुह्य यानी गोपनीयोंमें विधिवत् संन्यास, श्रवण एवं मननपूर्वक किया जानेवाला आत्माका निदिध्यासनरूप मौन मैं हूँ । तथा ज्ञानियोंका जो श्रवणमनन और निदिध्यासनके परिपाकसे होनेवाला सम्पूर्ण अज्ञानका विरोधी अद्वितीय आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान है वह मैं हूँ ॥ ३८ ॥

[श्लोकार्थः—अर्जुन समस्त भूतोंका जो बीज है वह भी मैं हूँ । ऐसी कोई जंगम या स्थावर वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो ॥ ३९ ॥]

(२) जो भी समस्त भूतोंकी उत्पत्तिका हेतुभूत बीज है वह मायोपाधिक चैतन्य मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! जो मेरे बिना हो ऐसा कोई चर या अचर भूत यानी वस्तु है ही नहीं, क्योंकि सब मेरा ही कार्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३९ ॥

(३) प्रकरणका उपसंहार करते हुए विभूतिको संक्षिप्त करते हैं—

[श्लोकार्थः—शत्रुदमन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है । यह तो मैंने अपनी विभूतियोंके विस्तारका अंशतः वर्णन किया है ॥ ४० ॥]

(४) हे परन्तप !—परोंको अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओंको ताप उत्पन्न

इयत्ता नास्ति । अतः सर्वज्ञेनापि सा न शक्यते ज्ञातुं वक्तुं वा सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञतायाः । एष तु त्वां प्रत्युद्देशत एकदेशेन प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो विस्तारो मया ॥ ४० ॥

(१) अनुक्ता अपि भगवतो विभूतीः संग्रहीतुमुपलक्षणमिदमुच्यते—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ ४१ ॥

(२) यद्यत्सत्त्वं प्राणिविभूतिमदैश्वर्ययुक्तं, तथा श्रीमत्, श्रीर्लक्ष्मीः संपत्, शोभा, कान्तिर्वा तया युक्तं, तथोर्जितं बलाद्यतिशयेन युक्तं तत्तदेव मम तेजसः शक्तेरंशेन संभूतं त्वमवगच्छ जानीहि ॥ ४१ ॥

(३) एवमवयवशो विभूतिमुक्त्वा साकल्येन तामाह—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(४) अथवेति पक्षान्तरे । बहुनैतेन सावशेषेण ज्ञातेन किं तव स्याद्धेऽर्जुन ! इदं कृत्स्नं सर्वं जगदेकांशेनैकदेशमात्रेण विष्टभ्य विष्टभ्य व्याप्य वाऽहमेव स्थितो न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्ति 'पादोऽस्य

करनेवाले ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त—इयत्ता नहीं है । अतः सर्वज्ञ मेरे द्वारा भी उसे जानना या कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञताका विषय तो केवल सत्तामात्र है । यह विभूतियोंका विस्तार तो मैंने तुमसे उद्देशतः—एक देशमात्रसे कहा है ॥ ४० ॥

(१) भगवान्‌की न कही हुई विभूतियोंका भी संग्रह करनेके लिये यह उपलक्षण कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—जो-जो प्राणी ऐश्वर्ययुक्त, शोभासम्पन्न और बल आदिके अतिशयसे युक्त हो उसी-उसीको तुम मेरे तेजके अंशसे प्रकट हुआ जानो ॥ ४१ ॥]

(२) जो-जो सत्त्व—प्राणी विभूतिमान्—ऐश्वर्ययुक्त तथा श्रीमान्—श्री-लक्ष्मी, सम्पत्, शोभा अथवा कान्ति उससे युक्त तथा ऊर्जित—बल आदिके अतिशयसे युक्त हो उसी-उसीको तुम मेरे तेज—शक्तिके अंशसे उत्पन्न हुआ जानो ॥ ४१ ॥

(३) इस प्रकार अवयवशः विभूतिका वर्णन कर उसे समष्टिरूपसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—अथवा अर्जुन ! इस प्रकारके परिच्छिन्न ज्ञानसे विशेष क्या प्रयोजन है ? मैं तो अपने एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्‌में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ ॥ ४२ ॥]

(४) अथवा अर्थात् पक्षान्तरमें, इस बहुत प्रकारके परिच्छिन्न ज्ञानसे तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ! हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत्‌को मैं एक अंशसे—अपने एक देशमात्रसे धारण करके—व्याप्त करके स्थित हूँ । मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है; जैसा कि 'सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद है और इसके अमृतमय तीन पाद द्युलोकमें हैं, इस

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

(१) दमयतामदान्तानुत्पथान्पथि प्रवर्तयतामुत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुर्दण्डोऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिर्न्यायो जयोपायस्य प्रकाशकोऽहमस्मि । गुह्यानां गोप्यानां गोपनहेतुर्मौनं वाचंयमत्वमहमस्मि । नहि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायो ज्ञायते । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये ससंन्यासश्रवणमननपूर्वकमात्मनो निदिध्यासनलक्षणं मौनं वाऽहमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां यच्छ्रवणमननिदिध्यासनपरिपाकप्रभवमद्वितीयात्मसाक्षात्काररूपं सर्वाज्ञानविरोधि ज्ञानं तदहमस्मि ॥३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥

(२) यद्पि च सर्वभूतानां प्ररोहकारणं बीजं तन्मायोपाधिकं चैतन्यमहमेव हेऽर्जुन ! मया विना यत्स्याद्भवेच्चरमचरं वा भूतं वस्तु तन्नास्त्येव यतः सर्वं मत्कार्यमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

(३) प्रकरणार्थमुपसंहरन्विभूतिं संक्षिपति—

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

(४) हे परंतप परेषां शत्रूणां कामक्रोधलोभादीनां तापजनक मम दिव्यानां विभूतीनामन्त

[श्लोकार्थः—मैं निग्रह करनेवालोंके लिये दण्ड हूँ, जयकी इच्छावालोंके लिये नीति हूँ, गोपनीय वस्तुओंमें मौन हूँ और ज्ञानवानोंका ज्ञान हूँ ॥ ३८ ॥]

(१) दमवानोंका अर्थात् कुमार्गमें जानेवाले अजितेन्द्रियोंको सुमार्गमें प्रवृत्त करनेवालोंकी उत्पथप्रवृत्तिके रोकनेका हेतुभूत दण्ड मैं हूँ । जिगीषुओं—जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति-न्याय अर्थात् जयके उपायका प्रकाशक मैं हूँ—गुप्तों अर्थात् गोपनीयोंमें गोपनका हेतु मौन अर्थात् वाणीका संयम मैं हूँ, क्योंकि चुपचाप बैठे हुए पुरुषके अभिप्रायका पता नहीं लगता । अथवा गुह्य यानी गोपनीयोंमें विधिवत् संन्यास, श्रवण एवं मननपूर्वक किया जानेवाला आत्माका निदिध्यासनरूप मौन मैं हूँ । तथा ज्ञानियोंका जो श्रवणमनन और निदिध्यासनके परिपाकसे होनेवाला सम्पूर्ण अज्ञानका विरोधी अद्वितीय आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान है वह मैं हूँ ॥ ३८ ॥

[श्लोकार्थः—अर्जुन समस्त भूतोंका जो बीज है वह भी मैं हूँ । ऐसी कोई जंगम या स्थावर वस्तु नहीं है जो मुझसे रहित हो ॥ ३९ ॥]

(२) जो भी समस्त भूतोंकी उत्पत्तिका हेतुभूत बीज है वह मायोपाधिक चैतन्य मैं ही हूँ । हे अर्जुन ! जो मेरे बिना हो ऐसा कोई चर या अचर भूत यानी वस्तु है ही नहीं, क्योंकि सब मेरा ही कार्य है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ३९ ॥

(३) प्रकरणका उपसंहार करते हुए विभूतिको संक्षिप्त करते हैं—

[श्लोकार्थः—शत्रुदमन ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है । यह तो मैंने अपनी विभूतियोंके विस्तारका अंशतः वर्णन किया है ॥ ४० ॥]

(४) हे परन्तप !—परोंको अर्थात् काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओंको ताप उत्पन्न

इयत्ता नास्ति । अतः सर्वज्ञेनापि सा न शक्यते ज्ञातुं वक्तुं वा सन्मात्रविषयत्वात्सर्वज्ञताया: । एष तु त्वां प्रत्युद्देशत एकदेशेन प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो विस्तारो मया ॥ ४० ॥

(१) अनुक्ता अपि भगवतो विभूतीः संग्रहीतुमुपलक्षणमिदमुच्यते—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ ४१ ॥

(२) यद्यत्सत्त्वं प्राणिविभूतिमदैश्वर्ययुक्तं, तथा श्रीमत्, श्रीर्लक्ष्मीः संपत्, शोभा, कान्तिर्वा तया युक्तं, तथोर्जितं बलाद्यतिशयेन युक्तं तत्तदेव मम तेजसः शक्तेरंशेन संभूतं त्वमवगच्छ जानीहि ॥ ४१ ॥

(३) एवमवयवशो विभूतिमुक्त्वा साकल्येन तामाह—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

(४) अथवेति पक्षान्तरे । बहुनैतेन सावशेषेण ज्ञातेन किं तव स्याद्धेऽर्जुन ! इदं कृत्स्नं सर्वं जगदेकांशेनैकदेशमात्रेण विष्टभ्य विष्टभ्य व्याप्य वाऽहमेव स्थितो न मद्व्यतिरिक्तं किंचिदस्ति 'पादोऽस्य

करनेवाले ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त—इयत्ता नहीं है । अतः सर्वज्ञ मेरे द्वारा भी उसे जानना या कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञताका विषय तो केवल सत्तामात्र है । यह विभूतियोंका विस्तार तो मैंने तुमसे उद्देशतः—एक देशमात्रसे कहा है ॥ ४० ॥

(१) भगवान्की न कही हुई विभूतियोंका भी संग्रह करनेके लिये यह उपलक्षण कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—जो-जो प्राणी ऐश्वर्ययुक्त, शोभासम्पन्न और बल आदिके अतिशयसे युक्त हो उसी-उसीको तुम मेरे तेजके अंशसे प्रकट हुआ जानो ॥ ४१ ॥]

(२) जो-जो सत्त्व—प्राणी विभूतिमान्—ऐश्वर्ययुक्त तथा श्रीमान्—श्री-लक्ष्मी, सम्पत्, शोभा अथवा कान्ति उससे युक्त तथा ऊर्जित—बल आदिके अतिशयसे युक्त हो उसी-उसीको तुम मेरे तेज—शक्तिके अंशसे उत्पन्न हुआ जानो ॥ ४१ ॥

(३) इस प्रकार अवयवशः विभूतिका वर्णन कर उसे समष्टिरूपसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—अथवा अर्जुन ! इस प्रकारके परिच्छिन्न ज्ञानसे विशेष क्या प्रयोजन है ? मैं तो अपने एक अंशसे इस सम्पूर्ण जगत्में प्रविष्ट होकर स्थित हूँ ॥ ४२ ॥]

(४) अथवा अर्थात् पक्षान्तरमें, इस बहुत प्रकारके परिच्छिन्न ज्ञानसे तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ! हे अर्जुन ! इस सम्पूर्ण जगत्को मैं एक अंशसे—अपने एक देशमात्रसे धारण करके—व्याप्त करके स्थित हूँ । मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है; जैसा कि 'सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद है और इसके अमृतमय तीन पाद द्युलोकमें हैं, इस

विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति श्रुतेः। तस्मात्किमनेन परिच्छिन्नदर्शनेन सर्वत्र मद्दृष्टिमेव कुर्वित्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥

(१) कुर्वन्ति केऽपि कृतिनः क्वचिदप्यनन्ते
स्वान्तं विधाय विषयान्तरशान्तिमेव ।
त्वत्पादपद्मविगलन्मकरन्दबिन्दु-
मास्वाद्य माद्यति मुहुर्मधुभिन्मनो मे ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायामधिकारिभेदेन विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रुतिसे सिद्ध होता है। अतः अभिप्राय यह है कि इस परिच्छिन्न दृष्टिसे क्या लाभ है? सर्वत्र 'मैं ही हूँ' ऐसी दृष्टि ही करो ॥ ४२ ॥

(१) कोई भाग्यशाली तो किसी-किसी समय अनन्त भगवत्तत्त्वमें अपने अन्तःकरणको स्थिर करके अन्य विषयोंकी शान्ति करते हैं, किन्तु हे मधुसूदन! मेरा मन-मधुलिन्द तो आपके पादारविन्दसे झरते हुए मकरन्दके बिन्दुओंका आस्वादन करके बार-बार मतवाला हो जाता है।

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वर सरस्वती पाद शिष्य श्रीमधुसूदन-सरस्वती विरचित श्रीमद्भगवद्गीता गूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दी भाषान्तरका विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय ॥ १० ॥

अथैकादशोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्याये नानाविभूतीरुक्त्वा "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति विश्वात्मकं पारमेश्वरं रूपं भगवताऽन्तेऽभिहितं श्रुत्वा परमोत्कण्ठितस्तत्साक्षात्कर्तुमिच्छन्पूर्वोक्तमभिनन्दन्—

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

(२) मदनुग्रहाय शोकनिवृत्युपकाराय परमं निरतिशयपुरुषार्थपर्यवसायि गुह्यं गोप्यं यस्मै कस्मैचिद्वक्तुमनर्हमपि अध्यात्मसंज्ञितमध्यात्ममितिशब्दितमात्मानात्मविवेकविषयमशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादिषष्ठाध्यायपर्यन्तं त्वपदार्थप्रधानं यत्त्वया परमकारुणिकेन सर्वज्ञेनोक्तं वचो वाक्यं तेन वाक्येनाहमेषां हन्ता मयैते हन्यन्त इत्यादिविविधविपर्यासलक्षणो मोहोऽयमनुभवसाक्षिको विगतो विनष्टो मम, तत्रासकृदात्मनः सर्वविक्रियाशून्यत्वोक्तेः ॥ १ ॥

(३) तथा सप्तमादारभ्य दशमपर्यन्तं तत्पदार्थनिर्णयप्रधानमपि भगवतो वचनं मया श्रुतमित्याह—

(१) पिछले अध्यायमें अनेकों विभूतियोंका वर्णनकर अन्त में 'मैं इस सारे संसारमें अपने एक अंशसे प्रविष्ट होकर स्थित हूँ' इस प्रकार भगवान्‌के मुखसे उनके परमेश्वरीय विश्वमय रूपकी बात सुनकर अत्यन्त उत्कण्ठित हो उसका साक्षात्कार करनेकी इच्छासे भगवान्‌के पूर्वोक्त वचनोंका अभिनन्दन करते हुए—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने अध्यात्म नामका जो परम गुह्य वचन कहा है उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है ॥ १ ॥]

(२) [अर्जुनने कहा—] मुझपर अनुग्रह करनेके लिये—शोक निवृत्तिरूप मेरा उपकार करनेके लिये जो अध्यात्मसंज्ञित—'अध्यात्म' इस नामसे कहा जानेवाला, 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (२।११) यहाँसे लेकर छठे अध्याय तक त्वंपदके अर्थकी प्रधानतासे युक्त आत्मा-अनात्माके विवेकसे न सम्बन्ध रखनेवाला और निरतिशय पुरुषार्थमें समाप्त होनेवाला गुह्य—गोपनीय—जिस-तिससे कहने योग्य वचन परम कारुणिक एवं सर्वज्ञ आपने मुझसे कहा है उस वाक्यसे 'मैं इनको मारनेवाला हूँ और ये मुझसे मारे जानेवाले हैं' ऐसा विविध प्रकारका विपरीत ज्ञानरूप और केवल अनुभवसे ही दिखायी देनेवाला मेरा भ्रम विगत—विनष्ट हो गया है, क्योंकि आपके उस वचनमें बार-बार आत्माकी सर्वविकारशून्यता कही गयी है ॥ १ ॥

(३) अब यह कहते हैं कि इसी प्रकार मैंने सातवें अध्यायसे लेकर दसवें अध्याय तक तत्पदके अर्थकी प्रधानतासे युक्त भी भगवान्‌का वचन सुना है—

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

(१) भूतानां भवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ त्वत्त एव भवन्तौ त्वत्त एव विस्तरशो मया श्रुतौ न तु संक्षेपेणासकृदित्यर्थः । कमलस्य पत्रे इव दीर्घे रक्तान्ते परममनोरमे अक्षिणी यस्य तव स त्वं हे कमलपत्राक्ष ! अतिसौन्दर्यातिशयोल्लेखोऽयं प्रेमातिशयात् । न केवलं भवाप्ययौ त्वत्तः श्रुतौ महात्मनस्तव भावो महात्म्यमनतिशयैश्वर्यं विश्वसृष्ट्यादिकर्तृत्वेऽप्यविकारित्वं शुभाशुभकर्मकारयितृत्वेऽप्यवैषम्यं बन्धमोक्षादिविचित्रफलदातृत्वेऽप्यसङ्गौदासीन्यमन्यदपि सर्वात्मत्वादि सोपाधिकं निरुपाधिकमपि चाव्ययमक्षयं मया श्रुतमिति परिणतमनुवर्तते चकारात् ॥ २ ॥

एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

(२) हे परमेश्वर यथा येन प्रकारेण सोपाधिकेन निरुपाधिकेन च निरतिशयैश्वर्येणाऽऽत्मानं त्वमात्थ कथयसि त्वमेवमेतन्नान्यथा । त्वद्वचसि कुत्रापि ममाविश्वासशङ्का नास्त्येवेत्यर्थः । यद्यप्येवं तथाऽपि कृतार्थीबुभूषया द्रष्टुमिच्छामि ते तव रूपमैश्वरं ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः संपन्नमद्भुतं हे पुरुषोत्तम । संबोधनेन त्वद्वचस्यविश्वासो मम नास्ति दिदृक्षा च महती वर्तत इति सर्वज्ञत्वात्त्वं जानासि सर्वान्तर्यामित्वाच्चेति सूचयति ॥ ३ ॥

[श्लोकार्थः—हे कमलदललोचन ! मैंने आपसे विस्तारपूर्वक जीवोंकी उत्पत्ति और प्रलय तथा आपका अक्षय माहात्म्य भी सुना है ॥ २ ॥]

(१) आपसे होनेवाले प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलय मैंने विस्तारसे, संक्षेपसे नहीं, बार-बार आपसे ही सुने हैं । जिन आपके नेत्र कमलके पत्तेके समान विशाल और लाल कोरोंवाले तथा परम मनोहर हैं ऐसे हे कमलदललोचन !—यह भगवान्‌के अतिशय सौन्दर्यका उल्लेख प्रेमकी अधिकताके कारण है । मैंने आपसे भूतोंकी केवल उत्पत्ति और प्रलय ही नहीं सुने हैं बल्कि आप महात्माका भाव अर्थात् आपका माहात्म्य—निरतिशय ऐश्वर्य यानी विश्वकी रचनादि करनेवाले होनेपर भी अविकारी रहना, शुभाशुभ कर्म करानेवाले होनेपर भी विषमता न आना, बन्धन एवं मोक्षादि तरह-तरहके फल देनेवाले होनेपर भी असंग और उदासीन रहना तथा सर्वात्मत्व सोपाधिकत्व निरुपाधिकत्व आदि अव्यय-अक्षय माहात्म्य भी मैंने सुना है । यहाँ 'च' शब्द रहनेसे लिंगपरिणाम और वचन परिणाम पूर्वक 'श्रुतम्' पदकी अनुवृत्ति होती है ॥ २ ॥

[श्लोकार्थः—हे परमेश्वर ! आप अपने विषयमें जैसा कहते हैं वह बात वैसी ही है । तथापि हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ईश्वरीय स्वरूपका दर्शन करना चाहता हूँ ॥ ३ ॥]

(२) हे परमेश्वर ! जिस प्रकार सोपाधिक या निरुपाधिक निरतिशय ऐश्वर्य रूपसे आप अपने विषयमें कह रहे हैं वह वैसी ही बात है, दूसरी प्रकार नहीं है । तात्पर्य यह है कि आपके वचनमें मुझे कहीं भी अविश्वासकी आशंका है ही नहीं । यद्यपि ऐसी बात है तो भी कृतार्थ होनेकी अभिलाषासे मैं आपका ईश्वरीय-ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न अद्भुत रूप देखना चाहता हूँ । 'हे पुरुषोत्तम !' इस सम्बोधनसे यह सूचित करतेहैं कि मुझे आपके वचनमें अविश्वास नहीं है तथा आपके दर्शनोंकी बड़ी इच्छा भी है—यह बात सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होनेके कारण आप जानते भी हैं ॥ ३ ॥

(१) द्रष्टुमयोग्ये कुतस्ते दिदृक्षेत्याशङ्क्याऽऽह—

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

(२) प्रभवति सृष्टिस्थितिसंहारप्रवेशप्रशासनेष्विति प्रभुः, हे प्रभो सर्वस्वामिन् । तत्तवैश्वरं रूपं मयाऽर्जुनेन द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे जानासीच्छसि वा हे योगेश्वर सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगानां योगिनामीश्वर ततस्त्वदिच्छावशादेव मे मह्यमत्यर्थमर्थिने त्वं परमकारुणिको दर्शय चाक्षुषज्ञानविषयी कारयाऽऽत्मानमैश्वररूपविशिष्टमव्ययमक्षयम् ॥ ४ ॥

(३) एवमत्यन्तभक्तेनार्जुनेन प्रार्थितः सन्—

श्रीभगवानुवाच—
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

(४) अत्र क्रमेण श्लोकचतुष्टयेऽपि पश्येत्यावृत्त्याऽत्यद्भुतरूपाणि दर्शयिष्यामि त्वं सावधानो भवेत्यर्जुनमभिमुखी करोति भगवान् । शतशोऽथ सहस्रश इत्यपरिमितानि तानि च नानाविधान्यनेकप्रकाराणि दिव्यान्यत्यद्भुतानि नाना विलक्षणा वर्णा नीलपीतादिप्रकारास्तथाऽऽकृतयश्चावयवसंस्थानविशेषा येषां तानि नानावर्णाकृतीनि च मे मम रूपाणि पश्य । अर्हे लोट् । द्रष्टुमर्हो भव हे पार्थ ॥ ५ ॥

(१) 'जो देखने योग्य नहीं है उसे देखनेकी तुम्हारी इच्छा क्यों है ?' ऐसी भगवान्‌की ओरसे आशंका करके कहते हैं—

[श्लोकार्थः—प्रभो ! यदि आप अपने उस रूपको मेरे द्वारा देखे जाने योग्य समझते हैं तो हे योगेश्वर ! मुझे अपना अविनाशी स्वरूप दिखाइये ॥ ४ ॥]

(२) आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेमें तथा उसमें प्रवेश और उसका शासन करनेमें समर्थ हैं इसलिये 'प्रभु' हैं । हे प्रभो—हे सबके स्वामी ! आपका वह ईश्वरीय रूप मुझ अर्जुन द्वारा देखा जा सकता है—ऐसा यदि आप मानते—समझते हैं अथवा यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो हे योगेश्वर !—अणिमादि समस्त सिद्धियोंवाले योगों अर्थात् योगियोंके ईश्वर ! अपनी इच्छासे ही उसके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्सुक मुझको आप परम करुणामय अपना वह ईश्वरीय रूपविशिष्ट अव्यय—अक्षय स्वरूप दिखाइये—उसे मेरे चाक्षुष ज्ञानका विषय कराइये ॥ ४ ॥

(३) इस प्रकार परम भक्त अर्जुनके द्वारा प्रार्थना किये जानेपर—

[श्लोकार्थः—श्री भगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! मेरे नाना प्रकारके अनेकों वर्ण और आकारोंके सैकड़ों हजारों दिव्य रूप देखो ॥ ५ ॥]

(४) यहाँ क्रमशः चारों श्लोकोंमें 'पश्य' (देखो) इस क्रियापदकी आवृत्ति होनेसे भगवान् 'मैं तुम्हें बड़े अद्भुत रूप दिखाऊँगा तुम सावधान हो जाओ' इस प्रकार अर्जुनको देखनेमें तत्पर करते हैं । सैकड़ों—हजारों अर्थात् असीम रूप देखो । मेरे अनेक प्रकारके दिव्य—अत्यन्त अद्भुत और नानावर्णाकृति—नाना यानी तरह-तरहके वर्ण अर्थात् नील-

(१) दिव्यानि रूपाणि पश्येत्युक्त्वा तान्येव लेशतोऽनुक्रामति द्वाभ्याम्—

पश्याऽऽदित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

(२) पश्याऽऽदित्यान्द्वादश, वसूनष्टौ, रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतः सप्तसप्तकानेकोनपञ्चाशत् । तथाऽन्यानपि देवानित्यर्थः । बहून्यन्यान्यदृष्टपूर्वाणि पूर्वमदृष्टानि मनुष्यलोके त्वया त्वत्तोऽन्येन वा केनचित्पश्याऽऽश्चर्याण्यद्भुतानि हे भारत ! अत्र शतशोऽथ सहस्रशः नानाविधानीत्यस्य विवरणं बहूनीति आदित्यानित्यादि च । अदृष्टपूर्वाणीति दिव्यानीत्यस्य, आश्चर्याणीति नानावर्णाकृतीनीत्यस्येति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

(३) न केवलमेतावदेव, समस्तं जगदपि महेहस्थं द्रष्टुमर्हसीत्याह—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

(४) इहास्मिन्मम देह एकस्थमेकस्मिन्नेवावयवरूपेण स्थितं जगत्कृत्स्नं समस्तं सचराचरं जङ्गमस्थावरसहितं तत्र तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिसहस्रेणापि द्रष्टुमशक्यमद्याधुनैव पश्य हे गुडाकेश ! यच्चान्यज्जयपराजयादिकं द्रष्टुमिच्छसि तदपि संदेहोच्छेदाय पश्य ॥ ७ ॥

पीतादि प्रकार और अनेकों आकृतियाँ—अवयवसंस्थान हैं जिनके ऐसे उन रूपोंको देखो । यहाँ लोट् लकार योग्यता अर्थमें है । अर्थात् हे पार्थ ! उन्हें देखनेके योग्य होओ ॥ ५ ॥

(१) मेरे दिव्य रूप देखो—ऐसा कहकर अब दो श्लोकोंद्वारा उन्हींका अंशतः वर्णन आरम्भ करते हैं—

[श्लोकार्थः—अर्जुन ! इन सूर्य, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार और मरुद्गणको देखो । तथा और भी जिन्हें पहले नहीं देखा ऐसे बहुतसे आश्चर्य देखो ॥ ६ ॥]

(२) बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दो अश्विनीकुमार, उनचास मरुद्गण तथा दूसरे देवताओंको भी देखो—ऐसा इसका तात्पर्य है । हे भारत ! इस मनुष्यलोकमें जिन्हें तुमने और तुम्हारे सिवा किसी दूसरेने भी कभी नहीं देखा ऐसे अत्यन्त अद्भुत आश्चर्योंको देखो । यहाँ 'बहूनि' और 'आदित्यान' इत्यादि पद [पाँचवें श्लोकके] 'शतशोऽथ सहस्रशः' और 'नानाविधानि' इन पदोंके विवरण हैं । तथा 'अदृष्टपूर्वाणि' यह पद 'दिव्यानि'का और 'आश्चर्याणि' यह पद 'नानावर्णाकृतीनि'का स्पष्टीकरण है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ६ ॥

(३) केवल इतना ही नहीं, अपितु सारे संसारको भी तुम मेरे शरीरमें ही स्थित देखो—ऐसा अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे गुडाकेश ! आज यहाँ मेरे इस शरीरमें सम्पूर्ण चराचर जगत् तथा और भी जो कुछ देखना चाहो वह एक ही स्थानपर स्थित देख लो ॥ ७ ॥]

(४) यहाँ मेरे इस शरीरमें एक स्थानमें स्थित—अवयवरूपसे एक हीमें स्थित सम्पूर्ण सचराचर—स्थावर-जंगमसहित जगत्को, जिसे जहाँ-तहाँ घूमकर सहस्र कोटि वर्षोंमें भी नहीं देखा जा सकता आज—इसी समय देख लो । हे गुडाकेश ! इसके सिवा तुम जय-पराजय आदि जो कुछ देखना चाहो वह भी अपने सन्देहकी निवृत्तिके लिये देख लो ॥ ७ ॥

(१) यत्तूक्तं 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्' इति तत्र विशेषमाह—

ननु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

(२) अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा स्वभावसिद्धेन चक्षुषा मां दिव्यरूपं द्रष्टुं न तु शक्यसे न शक्नोषि तु एव । शक्यस इति पाठे शक्तो न भविष्यसीत्यर्थः । सौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यंश्छान्दस् इति वा । दिवादौ पाठे वेत्येव सांप्रदायिकम् ।

(३) तर्हि त्वां द्रष्टुं कथं शक्नुयामत आह—दिव्यमप्राकृतं मम दिव्यरूपदर्शनक्षमं ददामि ते तुभ्यं चक्षुस्तेन दिव्येन चक्षुषा पश्य मे योगमघटनघटनासामर्थ्यातिशयमैश्वरमीश्वरस्य ममासाधारणम् ॥ ८ ॥

(४) भगवानर्जुनाय दिव्यं रूपं दर्शितवान् । स च तद्दृष्ट्वा विस्मयाविष्टो भगवन्तं विज्ञापितवानितीमं वृत्तान्तमेवमुक्त्वेत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैर्धृतराष्ट्रं प्रति—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

(५) एवं ननु मां शक्यसे द्रष्टुमनेन चक्षुषाऽतो दिव्यं ददामि ते चक्षुरित्युक्त्वा ततो दिव्यचक्षुःप्रदानादनन्तरं हे राजन्धृतराष्ट्र स्थिरो भव श्रवणाय । महान्सर्वोत्कृष्टश्चासौ योगेश्वरश्चेति महायो-

---

(१) अर्जुनने जो कहा कि 'यदि तुम उसे मेरे द्वारा देखे जाने योग्य समझो' सो इसमें जो विशेष बात है वह बताते हैं—

[श्लोकार्थः—किन्तु अपने इन प्राकृत नेत्रोंसे तो तुम मुझे देख नहीं सकोगे । मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ, उनसे मेरा ईश्वरीय योग देखो ॥ ८ ॥]

(२) अपने इन स्वभावसिद्ध प्राकृत नेत्रोंसे ही तो तुम दिव्यरूप मुझको देख नहीं सकते जहाँ 'शक्यसे' ऐसा पाठ हो वहाँ 'देख नहीं सकोगे' ऐसा अर्थ होगा । 'शक्' धातु भ्वादिगणमें है, तो भी इसे दिवादिगणका 'श्यन्' प्रत्यय हुआ है । अथवा यह छान्दस प्रयोग है या [किन्हीं-किन्हींके मतमें] इसका साम्प्रदायिक पाठ दिवादिगणमें ही है ।

(३) 'तो फिर हम आपको कैसे देख सकेंगे ?' इसपर कहते हैं—मैं तुम्हें मेरे दिव्यरूपको देखनेमें समर्थ दिव्य—अप्राकृत नेत्र देता हूँ । उन दिव्य नेत्रोंसे तुम मेरा ऐश्वर—मुझ ईश्वरका असाधारण योग—अघटनघटना-सामर्थ्यकी विशेषता देखो ॥ ८ ॥

(४) 'भगवान्ने अर्जुनको दिव्य रूप दिखाया और उन्होंने उसे देखकर विस्मयमें भरकर भगवान्को बताया' इस वृत्तान्तको 'एवमुक्त्वा' इत्यादि छः श्लोकोंसे धृतराष्ट्रके प्रति ।

[श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—हे राजन् ! तब महायोगेश्वर श्रीहरिने ऐसा कहकर अर्जुनको अपना ईश्वरीय दिव्यरूप दिखाया ॥ ९ ॥]

(५) [सञ्जयने कहा—] 'इस प्रकार इस नेत्रसे तो तुम मुझे देख नहीं सकते, इसलिये मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ' ऐसा कहकर दिव्य चक्षु प्रदान करनेके अनन्तर, हे राजन् धृतराष्ट्र ! सुननेके लिये सावधान हो जाओ, जो महान्—सबसे उत्कृष्ट हैं

गेश्वरो हरिर्भक्तानां सर्वक्लेशापहारी भगवान्दर्शनायोग्यमपि दर्शयामास पार्थायैकान्तभक्ताय परमं दिव्यं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

(१) तदेव रूपं विशिनष्टि—

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

(२) अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे, अनेकानामद्भुतानां विस्मयहेतूनां दर्शनं यस्मिन्, अनेकानि दिव्यान्याभरणानि भूषणानि यस्मिन्, दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि अस्त्राणि यस्मिंस्तत्तथारूपम् ॥ १० ॥

दिव्यानि माल्यानि पुष्पमयानि रत्नमयानि च तथा दिव्याम्बराणि वस्त्राणि च धियन्ते येन तद्दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यो गन्धोऽस्येति दिव्यगन्धस्तदनुलेपनं यस्य तत्, सर्वाश्चर्यमयमनेकाद्भुतप्रचुरं, देवं द्योतनात्मकम्, अनन्तमपरिच्छिन्नं, विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्मिंस्तद्रूपं दर्शयामासेति पूर्वेण संबन्धः । अर्जुनो ददर्शेत्यध्याहारो वा ॥ ११ ॥

(३) देवमित्युक्तं विवृणोति—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

और योगेश्वर भी हैं उन महायोगेश्वर—भगवद्भक्तोंके सम्पूर्ण दुःख दूर करनेवाले श्रीभगवान्‌ने जो दीखने योग्य नहीं है ऐसा अपना परमदिव्य ईश्वरीय रूप अपने अनन्य भक्त अर्जुनको दिखाया ॥ ९ ॥

(१) उसी रूपका विशेष रूपसे वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो अनेकों मुख और नेत्रोंवाला, अनेकों अद्भुत दृश्योंवाला, अनेकों दिव्य आभूषणोंवाला, उठाये हुए अनेकों दिव्य शस्त्रोंवाला, दिव्य माला और वस्त्र धारण किये, दिव्य गन्धवाले अनुलेपनोंसे युक्त, सम्पूर्ण आश्चर्योंसे पूर्ण, द्योतनात्मक, अनन्त और सब ओर मुखवाला था ऐसा रूप भगवान्‌ने दिखाया ॥ १०-११ ॥]

(२) जिस रूपमें अनेकों मुख और नेत्र थे, जिसमें अनेकों अद्भुत अर्थात् विस्मयके कारणोंका दर्शन होता था, जिसमें अनेकों दिव्य आभूषण थे तथा जिसमें उठाये हुए अनेकों दिव्य आयुध—अस्त्र थे उस ऐसे रूपको जो पुष्पोंकी और रत्नोंकी दिव्य मालाएँ तथा दिव्य आभूषण धारण किये था वह दिव्यमाल्याम्बरधारी, जिनकी दिव्य गन्ध थी ऐसा अनुलेपन जिसमें लगा हुआ था, जो सर्वाश्चर्यमय अर्थात् अनेकों विचित्रताओंकी बहुलतासे युक्त, देव—द्योतनात्मक, अनन्त—अपरिच्छिन्न था और जिसमें विश्वतः—सब ओर मुख थे वह रूप भगवान्‌ने दिखाया—इस प्रकार इसका पहलेसे सम्बन्ध है । अथवा 'अर्जुनने ऐसा रूप देखा' इतना अध्याहार करना चाहिये ॥ १०-११ ॥

(३) भगवान्‌के स्वरूपको जो 'देव' (द्योतनात्मक) ऐसा कहा उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—यदि आकाशमें सहस्र सूर्योंका एक साथ प्रकाश पैदा हो तो वह

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

(१) दिवि अन्तरिक्षे सूर्याणां सहस्रस्यापरिमितसूर्यसमूहस्य युगपदुत्थितस्य युगपदुत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत्तदा सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासो दीप्तेः सदृशी तुल्या यदि स्याद्यदि वा न स्यात्ततोऽपि नूनं विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्येतेत्यहं मन्ये, अन्या तूपमा नास्त्येवेत्यर्थः । अत्राविद्यमानाध्यवसायात्तदभावेनोपमाभावपरादभूतोपमारूपेयमतिशयोक्तिरुत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती सर्वथा निरुपमत्वमेव व्यनक्ति उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहाविव्यादिवत् ॥ १२ ॥

(२) इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्' इति भगवदाज्ञप्तमप्यनुभूतवानर्जुन इत्याह—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

(३) एकस्थमेकत्र स्थितं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा देवपितृमनुष्यादिनानाप्रकारैरपश्यद्देवदेवस्य भगवतः तत्र विश्वरूपे शरीरे पाण्डवोऽर्जुनस्तदा विश्वरूपाश्चर्यदर्शनदशायाम् ॥ १३ ॥

(४) एवमद्भुतदर्शनेऽप्यर्जुनो न विभयांचकार, नापि नेत्रे संचचार, नापि संभ्रमात्कर्तव्यं

प्रकाश उस महात्माके तेजके समान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता ॥ १२ ॥]

(१) दिवि—अन्तरिक्षमें एक साथ प्रकट हुए सहस्रों सूर्योंकी अर्थात् अपरिमित सूर्यसमूहकी यदि एक साथ प्रकट हुई भा—प्रभा हो तो वह उस विश्वरूप महात्माकी प्रभा—दीप्तिके तुल्य हो भी सकती है अथवा नहीं भी हो सकती । उसमें भी मैं तो निश्चय यही मानता हूँ कि विश्वरूपकी प्रभा ही बढ़ जायगी । इसके सिवा कोई दूसरी उपमा तो है ही नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है । यहाँ निश्चयका अभाव होनेसे उसके अभावके कारण उपमाभावपरक होनेसे यह अभूतोपमारूपा अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षाको व्यक्त करती हुई सर्वथा निरुपमत्वको ही व्यक्त करती है । यह बात 'यदि आकाशमें गंगाजलके दो पृथक् प्रवाह हों' इस उक्तिके समान है[1] ॥ १२ ॥

(२) अब यह बताते हैं कि अर्जुनने भगवान्‌की कही हुई इस बातका भी अनुभव किया कि 'यहाँ एक ही स्थानमें तुम सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को स्थित देखो'—

[श्लोकार्थः—तब अर्जुनने उस देवदेवके शरीरमें एक ही जगहमें स्थित अनेक प्रकारसे विभक्त सारा संसार देखा ॥ १३ ॥]

(३) देवदेव भगवान्‌के उस विश्वरूप शरीरमें पाण्डव—अर्जुनने विश्वरूपात्मक आश्चर्यको देखनेकी दशामें एकस्थ—एक ही स्थानमें स्थित देव, पितृ, मनुष्य आदि नाना प्रकारसे विभक्त सारा जगत् देखा ॥ १३ ॥

(४) ऐसा अद्भुत दर्शन करनेपर भी अर्जुनको भय नहीं हुआ, उनके नेत्रोंमें

१. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार माघ कविने श्रीकृष्णचन्द्रके वक्षःस्थलपर खेलते हुए दो हारोंकी आकाशमें असम्भावित दो गंगाप्रवाहोंसे उपमा देकर उनका निरुपमत्व ही व्यक्त किया है इसी प्रकार यहाँ आकाशमें असम्भावित सहस्र सूर्योंके प्रकाशसे उपमा देकर और उनके अभावमें अन्य कोई उपमान न बताकर जो अभूतोपमारूपा अतिशयोक्तिकी उत्प्रेक्षा की है वह वस्तुतः उस भगवद्दीप्तिकी निरुपमता ही अभिव्यक्त करती है ।

विसस्मार, नापि तस्माद्देशादपससार, किं त्वतिधीरत्वात्तत्कालोचितमेव व्यवजहार महति चित्तक्षोभेऽपीत्याह—

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

(१) ततस्तद्दर्शनादनन्तरं विस्मयेनाद्भुतदर्शनप्रभावेनालौकिकचित्तचमत्कारविशेषेणाऽऽविष्टो व्याप्तः । अत एव हृष्टरोमा पुलकितः सन्स प्रख्यातमहादेवसङ्ग्रामादिप्रभावो धनंजयो युधिष्ठिरराजसूय उत्तरगोग्रहे च सर्वान्राज्ञो जित्वा धनमाहृतवानिति प्रथितमहापराक्रमोऽतिधीरः साक्षादग्निरिति वा महातेजस्वित्वात्, देवं तमेव विश्वरूपधरं नारायणं शिरसा भूमिलग्नेन प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिश्रद्धातिशयेन नत्वा नमस्कृत्य कृताञ्जलिः संपुटीकृतहस्त युगः सन्नभाषतोक्तवान् । अत्र विस्मयाख्यस्थायिभावस्यार्जुनगतस्याऽऽलम्बनविभावेन भगवता विश्वरूपेणोद्दीपनविभावेनासकृत्तद्दर्शनेनानुभावेन सात्त्विकरोमहर्षेण नमस्कारेणाञ्जलि करणेन च व्यभिचारिणा चानुभावाचिसेन वा धृतिमतिहर्षवितर्कादिना परिपोषात्सवासनानां श्रोतृणां तादृशश्चित्तचमत्कारोऽपि तद्भेदानध्यवसायात्परिपोषं गतः परमानन्दास्वादरूपेणाद्भुततरसो भवतीति सूचितम् ॥ १४ ॥

(२) यद्भगवता दर्शितं विश्वरूपं तद्भगवद्दत्तेन दिव्येन चक्षुषा सर्वलोकाद्दश्यमपि पश्याम्यहो मम भाग्यप्रकर्ष इति स्वानुभवमाविष्कुर्वन्—

चंचलता भी नहीं हुई, वे घबराकर अपने कर्त्तव्यको भी नहीं भूले और न उस स्थानसे ही हटे, किन्तु अत्यन्त धैर्यवान् होने के कारण चित्तमें अत्यन्त क्षोभ होने पर भी उस समयके अनुसार ही बोले—

[श्लोकार्थः—तब विस्मयसे भरे हुए रोमाञ्चित अर्जुनने भगवान्‌को शिरसे प्रणाम कर हाथ जोड़कर कहा ॥ १४ ॥]

(१) तब उसका दर्शन करनेके पश्चात् विस्मयसे अर्थात् अद्भुत दर्शन जनित चित्तके अलौकिक चमत्कार विशेषसे आविष्ट—व्याप्त, अतः हृष्टरोमा—पुलकित होकर महादेवजीके साथ संग्राम आदि प्रसिद्ध प्रभावोंवाले धनञ्जयने, जो युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें तथा विराटपुत्र उत्तरके गौओंको पीछे लाते समय समस्त वीरोंको जीतकर धन ले आये थे, इसलिये बड़े पराक्रमशाली और अत्यन्त धीर थे अथवा परम तेजस्वी होनेके कारण साक्षात् अग्नि ही थे उन अर्जुनने देव अर्थात् उन विश्वरूपधारी साक्षात् नारायणको ही पृथिवीपर रखे हुए शिरसे प्रणामकर—प्रकर्षसे अर्थात् भक्ति और श्रद्धाकी अतिशयतासे नमस्कार कर कृताञ्जलि हो यानी दोनों हाथ जोड़कर कहा । यहाँ विराट्‌भगवान्‌रूप आलम्बन विभाव, उनके बार बार दर्शनरूप उद्दीपनविभाव, सात्त्विक रोमाञ्च नमस्कार और हाथ जोड़ना आदि अनुभाव तथा इस अनुभावसे सूचित होनेवाले धृति, मति, हर्ष और वितर्क आदि व्यभिचारी भावोंके द्वारा अर्जुनके विस्मयसंज्ञक स्थायिभावका अत्यन्त पोषण हुआ है । उसके कारण वासनायुक्त श्रोताओंके वैसा चित्तका वैसा ही चमत्कार भी अर्जुनके विस्मयसे भिन्न प्रतीत न होनेके कारण अत्यन्त पुष्ट होकर परमानन्दके आस्वादरूपसे अद्भुत रस हो जाता है—यह सूचित होता है ॥ १४ ॥

(२) 'भगवान्‌ने जो विश्वरूप दिखाया है, समस्त लोकोंके लिये अदृश्य होनेपर भी, मैं उसे भगवान्‌के दिये हुए दिव्य नेत्रोंसे देख रहा हूँ । अहो ! मेरा कैसा भाग्योदय है !' इस प्रकार अपने अनुभवको प्रकट करते हुए—

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥

(१) पश्यामि चाक्षुषज्ञानविषयी करोमि हे देव तव देहे विश्वरूपे देवान्वस्वादीन्सर्वान्, तथा भूतविशेषाणां स्थावराणां जङ्गमानां च नानासंस्थानानां संघान्समूहान्, तथा ब्रह्माणं चतुर्मुखमीशमीशितारं सर्वेषां कमलासनस्थं पृथ्वीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थं भगवन्नाभिकमलासनस्थमिति वा । तथा—ऋषींश्च सर्वान्वशिष्ठादीन्ब्रह्मपुत्रान्, उरगांश्च दिव्यान्प्राकृतान्वासुकिप्रभृतीन्पश्यामीति सर्वत्रान्वयः ॥ १५ ॥

(२) यत्र भगवद्देहे सर्वमिदं दृष्टवान्, तमेव विशिनष्टि—

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

(३) बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि चानेकानि यस्य तमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा त्वां सर्वतः सर्वत्रानन्तानि रूपाणि यस्येति तम् । तव तु पुनर्नान्तमवसानं न मध्यं नाप्यादिं पश्यामि सर्वगतत्वात्, हे विश्वेश्वर हे विश्वरूप संबोधनद्वयमतिसंभ्रमात् ॥ १६ ॥

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—हे देव ! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवता, स्थावर-जंगम जीव-समूह, कमलासनपर विराजमान लोकनायक ब्रह्माजी, समस्त ऋषि और दिव्य सर्पोंको भी देख रहा हूँ ॥ १५ ॥]

(१) [अर्जुनने कहा—] 'पश्यामि' अर्थात् चाक्षुष ज्ञानका विषय करता हूँ । हे देव ! आपके विश्वरूप शरीरमें मैं वसु आदि समस्त देवोंको, भूतविशेषोंको अर्थात् स्थावर और जंगम अनेक प्रकारके आश्रयोंवाले प्राणिसमूहोंको, तथा सबका शासन करनेवाले पृथ्वीरूप पद्मके बीचमें मेरुकर्णिकाके आसनपर अथवा भगवान्‌के नाभिकमलरूप आसनपर विराजमान चार मुखवाले ब्रह्माको, इसी प्रकार सम्पूर्ण ऋषि अर्थात् वसिष्ठ आदि ब्रह्माजीके पुत्रोंको और वासुकि आदि दिव्य—अप्राकृत सर्पोंको मैं देख रहा हूँ—इस प्रकार 'पश्यामि' इस क्रिया पदका सबके साथ अन्वय है ॥ १५ ॥

(२) जिस भगवान्‌की देहमें अर्जुनने यह सब देखा है उसीका विशेष रूपसे वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं आपको सर्वत्र अनन्तरूप तथा अनेकों भुजा, उदर, मुख और नेत्रोंवाला देख रहा हूँ । मुझे आपका न तो अन्त, न मध्य और न आदि ही दिखायी देता है ॥ १६ ॥]

(३) जिनके बाहु, उदर, मुख और नेत्र अनेकों हैं ऐसे अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्ररूप आपको मैं सर्वतः—सर्वत्र अनन्तरूप—जिनके अनन्तरूप हैं ऐसा देख रहा हूँ । तथा आपका तो मैं न अन्त—अवसान, न मध्य और न आदि ही देखता हूँ, क्योंकि आप सर्वगत हैं । 'हे विश्वेश्वर' 'हे विश्वरूप !' ये दो सम्बोधन बहुत घबराहटके कारण हैं ॥ १६ ॥

(१) तमेव विश्वरूपं भगवन्तं प्रकारान्तरेण विशिनष्टि—

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

(२) किरीटगदाचक्रधारिणं च सर्वतोदीप्तिमन्तं तेजोराशिं च । अत एव दुर्निरीक्ष्यं दिव्येन चक्षुषा विना निरीक्षितुमशक्यम् । सयकारपाठे दुःशब्दोऽपह्नववचनः । अनिरीक्ष्यमिति यावत् । दीप्तयोरनलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तमप्रमेयमित्थमयमिति परिच्छेत्तुमशक्यं त्वां समन्तात्सर्वतः पश्यामि दिव्येन चक्षुषा । अतोऽधिकारिभेदाद्दुर्निरीक्ष्यं पश्यामीति न विरोधः ॥ १७ ॥

(३) एवं तवातर्क्यनिरतिशयैश्वर्यदर्शनादनुमिनोमि—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

(४) त्वमेवाक्षरं परमं ब्रह्म वेदितव्यं मुमुक्षुभिर्वेदान्तश्रवणादिना । त्वमेवास्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाश्रयः । अत एव त्वमव्ययो नित्यः । शाश्वतस्य नित्यवेदप्र-

---

(१) उन विश्वरूप भगवान्‌के प्रकारान्तरसे विशेषण कहते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं आपको मुकुट, गदा और चक्र धारण किये, तेजोपुञ्जरूप, सर्वतः दीप्तिशाली, दुर्निरीक्ष, सब ओरसे देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान तेजोमय तथा अप्रमेय (प्रमाके अयोग्य) देखता हूँ ॥ १७ ॥]

(२) मुकुट, गदा और चक्र धारण करनेवाले, सर्वतः दीप्तिशाली और तेजोपुञ्ज, इसीसे जो दुर्निरीक्ष है—विना दिव्य नेत्रोंके जिसे देखा नहीं जा सकता । यहाँ यकारके सहित अर्थात् 'दुर्निरीक्ष्य' ऐसा पाठ होनेपर 'दुः' उपसर्ग निषेधका वाचक होगा अर्थात् 'अनिरीक्ष्य' । अग्नि और सूर्यकी दीप्ति अर्थात् द्युतियोंके समान द्युति (कान्ति) है जिसकी ऐसे अप्रमेय—इस प्रकार 'यह है' इस तरह जिसका परिच्छेद नहीं किया जा सकता ऐसे तुमको मैं समन्तात्—सब ओरसे दिव्य नेत्रके द्वारा देख रहा हूँ अतः अधिकारियोंमें भेद रहनेके कारण यदि मैं आप दुर्निरीक्ष्यको भी देख रहा हूँ तो इसमें कोई विरोध नहीं आता ॥ १७ ॥[1]

(३) इस प्रकार आपका अतर्क्य और निरतिशय ऐश्वर्य देखनेसे मैं अनुमान करता हूँ कि—

[श्लोकार्थः—आप मुमुक्षुओंके लिये जानने योग्य अविनाशी परब्रह्म हैं, आप इस विश्वके श्रेष्ठ आश्रय हैं, आप अविनाशी और सनातनधर्मकी रक्षा करनेवाले हैं, मैं आपको पुराण पुरुष ही मानता हूँ ॥ १८ ॥]

(४) मुमुक्षुओंके लिये वेदान्त के श्रवणादिसे जानने योग्य आप ही अक्षर परमब्रह्म हैं । आपही इस विश्वके परम—प्रकृष्ट निधान—जिसमें जगत् निहित है वह निधान—आश्रय हैं । इसीसे आप अव्यय—नित्य हैं तथा शाश्वत यानी नित्य वेद द्वारा प्रतिपाद्य इस धर्मकी रक्षा करनेवाले हैं । अथवा 'शाश्वत' यह सम्बोधन है । ऐसा पक्ष होनेपर [इसका

---

१. क्योंकि एक ही वस्तु अनधिकारीको दुर्निरीक्ष्य होनेपर भी अधिकारीको दिखायी दे सकती है ।

तिपाद्यतयाऽस्य धर्मस्य गोप्ता पालयिता । शाश्वतेति संबोधनं वा । तस्मिन्पक्षेऽव्ययो विनाशरहितः । अत एव सनातनश्चिरंतनः पुरुषो यः परमात्मा स एव त्वं मे मतो विदितोऽसि ॥ १८ ॥

(१) किंच—

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

(२) आदिरुत्पत्तिर्मध्यं स्थितिरन्तो विनाशस्तद्रहितमनादिमध्यान्तम् । अनन्तं वीर्यं प्रभावो यस्य तम् । अनन्ता बाहवो यस्य तम् । उपलक्षणमेतन्मुखादीनामपि । शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तम् । दीप्तो हुताशो वक्त्रं यस्य वक्त्रेषु यस्येति वा तम् । स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं संतापयन्तं त्वा त्वां पश्यामि ॥ १९ ॥

(३) प्रकृतस्य भगवद्रूपस्य व्याप्तिमाह—

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

(४) द्यावापृथिव्योरिदमन्तरमन्तरिक्षं हि एव त्वयैवैकेन व्याप्तं दिशश्च सर्वा व्याप्ताः । दृष्ट्वाऽद्भुतमत्यन्तविस्मयकरमिदमुग्रं दुरधिगर्मं महातेजस्वित्वात्तव रूपमुपलभ्य लोकत्रयं प्रव्यथितमत्यन्तभीतं जातं हे महात्मन्साधूनामभयदायक । इतः परमिदमुपसंहरेत्यभिप्रायः ॥ २० ॥

ऐसा तात्पर्य होगा—] जो परमात्मा अव्यय—विनाश रहित और इसीसे सनातन—पुरातन पुरुष हैं मैं आपको वही मानता अर्थात् जानता हूँ ॥ १८ ॥

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त पराक्रमशील, अनन्त भुजाओंवाला, चन्द्रमा और सूर्यरूप नेत्रोंवाला, प्रज्वलित अग्निसहितमुखोंवाला और अपने तेजसे इस विश्वको सन्तप्त करते हुए देखता हूँ ॥ १९ ॥]

(२) आदि—उत्पत्ति, मध्य—स्थिति और अन्त—विनाश इनसे जो रहित है ऐसा अनादिमध्यान्त, अनन्त है वीर्य—प्रभाव जिसका ऐसा, अनन्त हैं भुजाएँ जिसकी ऐसा, ये भुजाएँ मुखादिके भी उपलक्षण हैं—चन्द्रमा और सूर्य जिसके नेत्र हैं ऐसा, दीप्त—प्रज्वलित अग्नि है मुख अथवा मुखमें जिसके ऐसा और अपने तेजसे जो इस सम्पूर्ण विश्वको तपा रहा है ऐसा मैं आपको देखता हूँ ॥ १९ ॥

(३) अब प्रकृत भगवद्रूपकी व्याप्तिका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—द्युलोक और पृथ्वीका जो यह मध्य भाग है वह तथा सम्पूर्ण दिशाएँ भी एकमात्र आपहीसे व्याप्त हैं । महात्मन् ! आपका यह अद्भुत उग्ररूप देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं ॥ २० ॥]

(४) द्युलोक और पृथ्वीके बीचका यह अन्तरिक्ष एकमात्र आपसे ही व्याप्त है तथा सम्पूर्ण दिशाएँ भी आपसे ही व्याप्त हैं । आपका यह अद्भुत-अत्यन्त विस्मय पैदा करनेवाला और उग्र—जो अत्यन्त तेजस्वी होनेके कारण समझमें आना कठिन है, रूप देखकर तीनों लोक प्रव्यथित—अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं । हे महात्मन् !—साधुओंको अभय प्रदान करनेवाले अब आप इसका उपसंहार कर लीजिये—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ २० ॥

(१) अधुना भूभारसंहारकारित्वमात्मनः प्रकटयन्तं भगवन्तं पश्यन्नाह—

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

(२) अमी हि सुरसंघा वस्वादिदेवगणा भूभारावतारार्थं मनुष्यरूपेणावतीर्णा युध्यमानाः सन्तस्त्वा त्वां विशन्ति प्रविशन्तो दृश्यन्ते । एवमसुरसंघा इति पदच्छेदेन भूभारभूता दुर्योधनादयस्त्वां विशन्तीत्यपि वक्तव्यम् । एवमुभयोरपि सेनयोः केचिद्भीताः पलायनेऽप्यशक्ताः सन्तः प्राञ्जलयो गृणन्ति स्तुवन्ति त्वाम् । एवं प्रत्युपस्थिते युद्ध उत्पातादिनिमित्तान्युपलभ्य स्वस्त्यस्तु सर्वस्य जगत इत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघा नारदप्रभृतयो युद्धदर्शनार्थमागता विश्वविनाशपरिहाराय स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिर्गुणोत्कर्षप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः पुष्कलाभिः परिपूर्णार्थाभिः ॥ २१ ॥

(३) किं चान्यत्—

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

(४) रुद्राश्चाऽऽदित्याश्च वसवो ये च साध्या नाम देवगणा विश्वे तुल्यविभक्तिकविश्वदेवशब्दा-

---

(१) अब श्रीभगवान्‌को अपना भूभारसंहारकारित्व प्रकट करते हुए देखकर कहा—

[श्लोकार्थ :—आपमें ये देवताओं के समूह प्रवेश कर रहे हैं, कोई डरकर हाथ जोड़े स्तुतिकर रहे हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समूह 'स्वस्ति' ऐसा कहकर अर्थपूर्ण स्तुति-वाक्योंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥]

(२) ये पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मनुष्य रूपसे अवतरित हुए सुरसङ्घ—वसु आदि देवताओंके गण युद्ध करते हुए आपमें प्रवेश कर रहे हैं—प्रवेश करते दिखायी दे रहे हैं। इसी तरह 'त्वासुरसङ्घा' इसका 'त्वा असुरसङ्घा' ऐसा पदच्छेद होनेपर पृथ्वीके भारभूत दुर्योधनादि असुर तुम्हारेमें प्रवेश कर रहे हैं—ऐसा भी कहा जा सकता है। तथा दोनों सेनाओंमेंसे कोई-कोई तो डरकर भगनेमें भी असमर्थ होनेके कारण हाथ जोड़कर आपकी स्तुति कर रहे हैं। इसी तरह युद्ध उपस्थित होनेपर उत्पातादि अपशकुन देखकर 'सारे संसारका कल्याण हो' ऐसा कहकर युद्ध देखनेके लिये आये हुए नारद आदि महर्षि और सिद्धोंके समूह विश्वके संहारकी निवृत्तिके लिये पुष्कल—परिपूर्ण अर्थवाली स्तुतियों—गुणोंके उत्कर्षका प्रतिपादन करनेवाली वाणियोंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥

(३) तथा दूसरे—

[श्लोकार्थ :—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगण—ये सभी आपका दर्शन कर रहे हैं और विस्मित हो रहे हैं ॥ २२ ॥]

(४) रुद्र, आदित्य, वसु और जो साध्य नामके देवगण हैं, विश्वेदेव अर्थात् समान

भ्याभुच्यमाना देवगणा अश्विनौ नासत्यदस्रौ मरुत एकोनपञ्चाशद्देवगणा ऊष्मपाश्च पितरो गन्धर्वाणां यक्षाणामसुराणां सिद्धानां च जातिभेदानां संघाः समूहा वीक्षन्ते पश्यन्ति त्वा त्वां तादृशाद्भुतदर्शनात्ते सर्व एव विस्मिताश्च विस्मियमलौकिकचमत्कारविशेषमापद्यन्ते च ॥ २२ ॥

(१) लोकत्रयं प्रव्यथितमित्युक्तमुपसंहरति—

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥२३॥

(२) हे महाबाहो ते तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः सर्वेऽपि प्राणिनः प्रव्यथितास्तथाऽहं प्रव्यथितो भयेन । कीदृशं ते रूपं महदतिप्रमाणं, बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिंस्तत्, बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिंस्तत, बहून्युदराणि यस्मिंस्तत्, बहुभिर्दंष्ट्राभिः करालमतिभयानकं दृष्ट्वैव मत्सहिताः सर्वे लोका भयेन पीडिता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

(३) भयानकत्वमेव प्रपञ्चयति—

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥

(४) न केवलं प्रव्यथित एवाहं त्वां दृष्ट्वा किं तु प्रव्यथितोऽन्तरात्मा मनो यस्य सोऽहं

विभक्तिवाले 'विश्वे' और 'देव' शब्दोंसे कहे जानेवाले जो देवगण हैं, अश्विनी—नासत्य और दस्र नामके दो कुमार, मरुत नामके उनचास देवगण, ऊष्मपा—पितृगण, तथा यक्ष, असुर और सिद्धोंके जो जातिभेद हैं उनके सङ्घ—समूह—ये सब आपको देख रहे हैं और आपके ऐसे अद्भुत दर्शनसे सभी विस्मित हैं अर्थात् विस्मय यानी एक प्रकारके लौकिक चमत्कार-विशेषमें पड़े हुए हैं ॥ २२ ॥

(१) तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं—ऐसा जो कहा था उसका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—हे महाबाहो ! आपका अनेकों मुख और नेत्रोंवाला, अनेकों भुजा, जंघा और चरणोंवाला, अनेकों पेट और अनेकों पैनी दाढ़ोंवाला यह महान् रूप देखकर सम्पूर्ण लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं, और मैं भी व्यथित हो रहा हूँ ॥ २३ ॥]

(२) हे महाबाहो ! आपके रूपको देखकर लोक—सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं और मैं भी भयके कारण बहुत व्यथित हूँ। आपका रूप कैसा है ? महत्—महान् प्रमाणवाला तथा जिसमें बहुतसे मुख और नेत्र हैं, जिसमें अनेकों भुजाएँ जंघाएँ और चरण हैं तथा जिसमें बहुतसे उदर हैं ऐसा है। वह अनेकों दाढ़ोंसे कराल—अत्यन्त भयानक है। तात्पर्य यह है कि उसे देखकर ही मेरे सहित सम्पूर्ण लोक भयसे पीडित हो गये हैं ॥ २३ ॥

(३) [भगवान्‌के रूपकी] भयानकताका ही विस्तार करते हैं—

[श्लोकार्थ :—हे विष्णो ! जो आकाशको स्पर्श कर रहे हैं, तेजोमय हैं, अनेकों वर्णोंके हैं, फैलाये हुए मुखवाले हैं और देदीप्यमान विशाल नेत्रोंसे युक्त हैं ऐसे आपको देखकर मेरा अन्तःकरण बहुत व्यथित हो रहा है और मुझे धैर्य एवं शान्तिका अनुभव नहीं होता ॥ २४ ॥]

(४) हे विष्णो ! आपको देखकर मैं केवल पीडित ही नहीं हुआ हूँ किन्तु जिसका

धृतिं धैर्यं देहेन्द्रियादिधारणसामर्थ्यं शमं च मनःप्रसादं न विन्दामि न लभे हे विष्णो । त्वां कीदृशं नभःस्पृशमन्तरिक्षव्याप्तिं दीप्तं प्रज्वलितमनेकवर्णं भयंकरनानासंस्थानयुक्तं व्यात्ताननं विवृतमुखं दीप्तविशालनेत्रं प्रज्वलितविस्तीर्णचक्षुषं त्वां दृष्ट्वा हि एव प्रव्यथितान्तरात्माऽहं धृतिं शमं च न विन्दामीत्यन्वयः ॥ २४ ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

(१) दंष्ट्राभिः करालानि विकृतत्वेन भयंकराणि प्रलयकालानलसदृशानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव न तु तानि प्राप्य भयवशेन दिशः पूर्वापरादिविवेकेन न जाने । अतो न लभे च शर्म सुखं त्वद्रूपदर्शनेऽपि । अतो हे देवेश हे जगन्निवास प्रसीद प्रसन्नो भव मां प्रति । यथा भयाभावेन त्वद्दर्शनजं सुखं प्राप्नुयामिति शेषः ॥ २५ ॥

(२) अस्माकं जयं परेषां पराजयं च सर्वदा द्रष्टुमिष्टं पश्य मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसीति भगवदादिष्टमधुना पश्यामीत्याह पञ्चभिः—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

अन्तःकरण अत्यन्त पीडित हुआ है ऐसे मुझको धृति—धैर्य अर्थात् देह और इन्द्रियादिको धारण करनेके सामर्थ्य एवं शम—मनकी प्रसन्नताका भी अनुभव—लाभ नहीं हो रहा है। कैसे आपको देखकर ?—नभःस्पृशम्—अन्तरिक्षमें व्यापक, दीप्त—प्रज्वलित, अनेकवर्ण—नाना प्रकारके भयानक संस्थानोंसे युक्त, व्यात्तानन—खुले हुए मुखवाला और दीप्तविशालनेत्र—जिनके प्रज्वलित और बड़े-बड़े नेत्र हैं ऐसे आपको देखकर ही अत्यन्त व्यथितचित्त होनेके कारण मैं धैर्य और शमका अनुभव नहीं करता हूँ—ऐसा इसका अन्वय है ॥ २४ ॥

[श्लोकार्थः—जो दाढ़ोंके कारण अत्यन्त भयंकर जान पड़ते हैं ऐसे आपके कालाग्निसदृश मुखोंको देखकर ही मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान होता है और न शान्ति ही मिलती है। हे जगत्के निवासस्थानभूत देवेश्वर ! आप प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥]

(१) दाढ़ोंके कारण कराल—विकट होनेसे भयंकर एवं प्रलयकालकी अग्निके समान आपके मुखोंको देखकर ही, उनके पास पहुँचकर नहीं, भयके कारण मैं दिशाओंको पूर्व-पश्चिमादिको विवेकपूर्वक नहीं जान पाता हूँ। अतः आपके रूपका दर्शन करनेपर भी मुझे शर्म—सुख नहीं मिलता है। इसलिये हे देवेश्वर ! हे जगन्निवास ! आप मेरे प्रति प्रसन्न हो जाइये, जिससे कि भय दूर हो जानेसे मैं आपके दर्शनसे होनेवाला सुख पा सकूँ—इतना अध्याहार करना चाहिये ॥ २५ ॥

(२) भगवान्ने जो कहा था कि जिसे तुम सर्वदा देखना चाहते हो वह अपनी विजय और शत्रुओंकी पराजय तथा इसके सिवा तुम्हें और जो कुछ देखनेकी इच्छा हो वह सब हे गुडाकेश ! मेरे शरीरमें ही देख लो—सो अब 'मैं उन्हें देख रहा हूँ' इस प्रकार पाँच श्लोकोंसे उनका वर्णन करते हैं—

[श्लोकार्थः—राजाओंके समूहोंके सहित ये धृतराष्ट्रके सारे पुत्र, तथा हमारे प्रधान योद्धाओंके सहित भीष्म, द्रोण और यह कर्ण बड़ी शीघ्रता करते हुए आपके दाढ़ोंके

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

(१) अमी च धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः शतं सोदरा युयुत्सुं विना सर्वे त्वां त्वरमाणा विशन्तीत्यग्रेतनेनान्वयः । अतिभयसूचकत्वेन क्रियापदन्यूनत्वमत्र गुण एव । सहैवावनिपालानां शल्यादीनां राज्ञां संघैस्त्वां विशन्ति । न केवलं दुर्योधनादय एव विशन्ति किं तु अजेयत्वेन सर्वैः संभावितोऽपि भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णस्तथाऽसौ सर्वदा मम विद्वेष्टा सहास्मदीयैरपि परकीयैरिव धृष्टद्युम्नप्रभृतिभिर्योधमुख्यैस्त्वां विशन्तीति संबन्धः ॥ २६ ॥

(२) अमी धृतराष्ट्रपुत्रप्रभृतयः सर्वेऽपि ते तव दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि त्वरमाणा विशन्ति । तत्र च केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिर्विशिष्टा दशनान्तरेषु विलग्ना विशेषेण संलग्ना दृश्यन्ते मया सम्यगसंदेहेन ॥ २७ ॥

(३) राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशने निदर्शनमाह—

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति॥२८॥

(४) यथा नदीनामनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवोऽम्बूनां जलानां वेगा वेगवन्तः प्रवाहाः समुद्राभि-

कारण कठोर और भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं तथा कोई दाँतों के बीचमें लगे हुए अपने चूर्णित मस्तकोंके सहित दिखायी दे रहे हैं ॥ २६-२७ ॥]

(१) युयुत्सुको छोड़कर ये दुर्योधनादि धृतराष्ट्रके सौ सहोदर पुत्र सबके सब शीघ्रता करते हुए आपमें प्रवेश कर रहे हैं—इस प्रकार इसका अगले श्लोकके साथ अन्वय है। अत्यन्त भयका सूचक होनेसे यहाँ क्रियापदकी कमी गुण ही है। अवनिपालों अर्थात् शल्यादि राजाओंके समूहोंके सहित ही ये सब आपमें प्रवेश कर रहे हैं। केवल दुर्योधनादि ही प्रवेश नहीं कर रहे हैं किन्तु अजेय होनेके कारण जिनका सभी मान करते हैं वे भीष्म, द्रोण और यह सूतपुत्र कर्ण, जो सर्वदा मुझसे द्वेष करनेवाला है, शत्रुवीरोंके समान हमारे भी धृष्टद्युम्नादि प्रधान योद्धाओंके सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं—इस प्रकार इसका अन्वय है ॥ २६ ॥

(२) ये धृतराष्ट्रके पुत्र आदि सभी वीर आपके दाढ़ोंके कारण कराल अर्थात् भयानक मुखोंमें शीघ्रता करते हुए प्रवेश कर रहे हैं। उनमेंसे कोई तो मुझे सम्यक् रीतिसे निःसंदेहरूपसे चूर्णित उत्तमाङ्गों अर्थात् शिरोंसे युक्त और दाँतोंके बीचमें विलग्न—विशेषरूपसे लगे हुए दिखायी देते हैं ॥ २७ ॥

(३) राजाओंके भगवान्के मुखमें प्रवेश करनेमें दृष्टान्त देते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार नदियोंके अनेकों जलप्रवाह समुद्रकी ही ओर बहते हैं उसी प्रकार मनुष्य लोकके ये वीर पुरुष आपके चारो ओरसे प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २८ ॥]

(४) जिस प्रकार अनेकों मार्गोंसे बहती हुई नदियोंके अनेकों जलके वेग—वेगयुक्त प्रवाह समुद्रकी ओर जाकर समुद्रमें ही मिल जाते—प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार

मुखाः सन्तः समुद्रमेव द्रवन्ति विशन्ति तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितः सर्वतो ज्वलन्ति । अभिविज्वलन्तीति वा पाठः ॥ २८ ॥

(१) अबुद्धिपूर्वकप्रवेशे नदीवेगं दृष्टान्तमुक्त्वा बुद्धिपूर्वकप्रवेशे दृष्टान्तमाह—

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

(२) यथा पतङ्गाः शलभाः समृद्धवेगाः सन्तो बुद्धिपूर्वं प्रदीप्तं ज्वलनं विशन्ति नाशाय मरणायैव तथैव नाशाय विशन्ति लोका एते दुर्योधनप्रभृतयः सर्वेऽपि तव वक्त्राणि समृद्धवेगा बुद्धिपूर्वमनायत्या ॥ २९ ॥

(३) योद्धुकामानां राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशप्रकारमुक्त्वा तदा भगवतस्तद्गासां च प्रवृत्तिप्रकारमाह—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

(४) एवं वेगेन प्रविशतो लोकान्दुर्योधनादीन्समग्रान्सर्वान्ग्रसमानोऽन्तः प्रवेशयञ्ज्वलद्भिर्वदनैः समन्तात्सर्वतस्त्वं लेलिह्यस आस्वादयसि तेजोभिर्भाभिरापूर्य जगत्समग्रं यस्मात्त्वं भाभिर्जग-

---

ये नरलोकके वीर पुरुष आपके अभितः—सब ओरसे जलते हुए मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं। अथवा 'अभितो ज्वलन्ति' के स्थानमें 'अभिविज्वलन्ति' ऐसा भी पाठ है ॥ २८ ॥

(१) अबुद्धिपूर्वक प्रवेशमें नदीके वेगका दृष्टान्त देकर अब बुद्धिपूर्वक प्रवेशमें दृष्टान्त देते हैं—

[श्लोकार्थः—जिस प्रकार बढ़े हुए वेगवाले पतंग अपने नाशके लिये प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करते हैं उसी प्रकार ये लोग नाशके लिये ही तीव्र वेगवान् होकर आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ २९ ॥]

(२) जिस प्रकार पतंग—शलभ बढ़े हुए वेगवाले होकर जान-बूझकर नाश-मरणके लिये ही प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करते हैं उसी प्रकार ये दुर्योधनादि सभी लोग विवश होनेके कारण अपने नाशके लिये जान-बूझकर आपके मुखमें प्रवेश कर रहे हैं ॥२९॥

(३) युद्धोत्सुक राजाओंके भगवान्‌के मुखमें प्रवेश करनेके प्रकारको कहकर अब भगवान्‌की तथा उनके तेजकी प्रवृत्तिके प्रकारका वर्णन करते हैं—

श्लोकार्थः—अपने प्रज्वलित मुखोंसे सम्पूर्ण लोकोंको सब ओरसे लीलते हुए आप उन्हें चाट रहे हैं। हे विष्णो ! आपका प्रचण्ड तेज अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त करके उसे अत्यन्त तपा रहा है ॥ ३० ॥]

(४) इस प्रकार वेगसे प्रवेश करनेवाले दुर्योधनादि सम्पूर्ण लोकोंको आप ग्रसते हुए—अपने भीतर ले जाते हुए अपने प्रज्वलित मुखोंसे उन्हें समन्तात्—सब ओरसे चाट रहे हैं—उनका आस्वादन कर रहे हैं। हे विष्णो—व्यापनशील तेज अर्थात् प्रभासे आप सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त किये हुए हैं। क्योंकि अपने तेजसे आपने सारा जगत् व्याप्त

दापूरयसि तस्मात्तवोग्रास्तीव्रा भासो दीप्तयः प्रज्वलतो ज्वलनस्येव प्रतपन्ति संतापं जनयन्ति हे विष्णो व्यापनशील ॥ ३० ॥

(१) यस्मादेवं तस्मात्—

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥

(२) एवमुग्ररूपः क्रूराकारः को भवानित्याख्याहि कथय मे मह्यमत्यन्तानुग्राह्याय । अत एव नमोऽस्तु ते तुभ्यं सर्वगुरवे हे देववर प्रसीद प्रसादं क्रौर्यत्यागं कुरु । विज्ञातुं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं सर्वकारणं, न हि यस्मात्तव सख्याऽपि सन्प्रजानामि तव प्रवृत्तिं चेष्टाम् ॥ ३१ ॥

(३) एवमर्जुनेन प्रार्थितो यः स्वयं यदर्थो च स्वप्रवृत्तिस्तत्सर्वं त्रिभिः श्लोकैः—

श्रीभगवानुवाच—
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥

(४) कालः क्रियाशक्त्युपहितः सर्वस्य संहर्ता परमेश्वरोऽस्मि भवामीदानीं प्रवृद्धो वृद्धिं गतः । यदर्थं प्रवृत्तस्तच्छृणु—लोकान्दुर्योधनादीन्समाहर्तुं भक्षयितुं प्रवृत्तोऽहमिहास्मिन्काले । मत्प्रवृत्तिं विना कथमेवं स्यादिति चेन्नेत्याह—ऋतेऽपि त्वा त्वामर्जुनं योद्धारं विनाऽपि त्वद्व्यापारं

किया है, इसलिये आपकी उग्र अर्थात् तीव्र प्रभा—दीप्ति प्रज्वलित अग्निके समान सारे जगत्‌को प्रतप्त कर रही है—जगत्‌में सन्ताप पैदा कर रही है।

(१) क्योंकि ऐसा है इसलिये—

[श्लोकार्थः—देवश्रेष्ठ ! मुझे बताइये कि उग्ररूप आप कौन हैं ? आपको नमस्कार हो, आप प्रसन्न होइये। मैं सबके आदिकारणरूप आपको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ। आपकी प्रवृत्तिका मुझे पता नहीं है ॥ ३१ ॥]

(२) अत्यन्त कृपापात्र मुझको आप यह बताइये कि इस प्रकारके उग्ररूप—क्रूर आकृतिवाले आप कौन हैं। अत एव सबके गुरुरूप आपको नमस्कार है। हे देवश्रेष्ठ ! प्रसीद—प्रसाद कीजिये अर्थात् क्रूरताका त्याग कीजिये। मैं आद्य—सबके कारणरूप आपको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि आपका सखा होनेपर भी मैं आपकी प्रवृत्तिको—चेष्टाको नहीं जानता ॥ ३१ ॥

(३) अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर 'जो कुछ वे स्वयं थे और जिसके लिये उनकी प्रवृत्ति थी वह सब तीन श्लोकोंसे—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—मैं लोकोंका क्षय करनेके लिये बढ़ा हुआ काल हूँ। मैं यहाँ लोकोंका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। यहाँ प्रतिपक्षियोंकी सेनामें जो भी योद्धा उपस्थित हैं वे सब तुम्हारे युद्ध न करनेपर भी बचेंगे नहीं ॥ ३२ ॥]

(४) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] मैं इस समय प्रवृद्ध—वृद्धिको प्राप्त हुआ काल—क्रियाशक्तिसे उपहित सबका संहार करनेवाला परमेश्वर हूँ। जिस प्रयोजनसे मैं प्रवृत्त हुआ हूँ वह भी सुनो—इस समय मैं दुर्योधनादि सम्पूर्ण लोकोंका समाहार—सम्यक् आहार अर्थात् भक्षण करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। यदि अर्जुन कहे कि 'मेरी प्रवृत्तिके

विनाऽपि मद्व्यापारेणैव न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति सर्वे भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयो योद्धुमनर्हत्वेन संभाविता अन्येऽपि येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसैन्येषु योधा योद्धारः सर्वेऽपि मया हतत्वादैव न भविष्यन्ति । तत्र तव व्यापारोऽकिंचित्कर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

(१) यस्मादेवम्—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

(२) तस्मात्त्वद्व्यापारमन्तरेणापि यस्मादेते विनङ्क्ष्यन्त्येव तस्मात्त्वमुत्तिष्ठोद्युक्तो भव युद्धाय देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽतिरथा झटित्येवार्जुनेन निर्जिता इत्येवंभूतं यशो लभस्व । महद्भिः पुण्यैरेव हि यशो लभ्यते । अयत्नतश्च जित्वा शत्रून्दुर्योधनादीन्भुङ्क्ष्व स्वोपसर्जनत्वेन भोग्यतां प्रापय समृद्धं राज्यमकण्टकम् । एते च तव शत्रवो मयैव कालात्मना निहताः संहतायुष्स्वदीययुद्धात्पूर्वमेव केवलं तव यशोलाभाय रथान्न पातिताः । अतस्त्वं निमित्तमात्रमर्जुनेनेते निर्जिता इति सार्वलौकिकव्यपदेशास्पदं भव हे सव्यसाचिन्सव्येन वामेन हस्तेनापि शरान्संचितुं संधातुं शीलं यस्य तादृशस्य तव भीष्मद्रोणादिजयो नासंभावितस्तस्मात्त्वद्व्यापारानन्तरं मया रथात्पात्यमानेष्वेतेषु तवैव कर्तृत्वं लोकाः कल्पयिष्यन्तीत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

बिना ऐसा कैसे होगा ?' तो भगवान् कहते हैं—नहीं, तुम जो योद्धा अर्जुन हो उसके बिना भी अर्थात् तुम्हारे व्यापारके बिना भी मेरे व्यापारसे ही ये नहीं रहेंगे अर्थात् विनष्ट हो जायँगे । भीष्म, द्रोण और कर्ण आदि सम्पूर्ण योद्धा जो युद्धके योग्य न होनेके कारण सम्माननीय हैं तथा उनके सिवा जो दूसरे वीर प्रत्यनीक—विपक्षी सेनामें स्थित हैं वे सभी मेरे द्वारा मारे गये होनेसे ही बच नहीं सकते । तात्पर्य यह है कि इसमें तुम्हारा व्यापार तो कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

(१) क्योंकि ऐसा है—

[श्लोकार्थः—इसलिये हे अर्जुन ! तुम खड़े हो जाओ और शत्रुओंको जीतकर यश प्राप्त करो तथा वैभवपूर्ण राज्य भोगो । मैंने तो पहले ही इन्हें मार रखा है । तुम केवल निमित्तमात्र बन जाओ ॥ ३३ ॥]

(२) इसलिये अर्थात् तुम्हारे व्यापारके बिना भी क्योंकि ये नष्ट हो ही जायँगे इसलिये तुम खड़े हो जाओ अर्थात् युद्धके लिये तैयार हो जाओ । जिन्हें जीतना देवादिके लिये भी कठिन था उन भीष्म, द्रोण आदि अतिरथोंको अर्जुनने तुरन्त जीत लिया—इस प्रकारका यश प्राप्त करो । यश तो महान् पुण्योंसे ही प्राप्त होता है । दुर्योधनादि शत्रुओंको बिना यत्नके ही जीतकर समृद्ध—अकण्टक राज्यको भोगो अर्थात् स्वाधीनतापूर्वक उसे अपना भोग्य बनाओ । तुम्हारे इन शत्रुओंको तो तुम्हारे युद्ध करनेसे पहले ही कालरूप मैंने मार दिया है—क्षीणायु कर दिया है । केवल तुम्हें यश प्राप्त करानेके लिये ही रथसे नीचे नहीं गिराया । इसलिये तुम निमित्तमात्र—'अर्जुनने इन्हें जीता है' इस प्रकारकी सार्वजनिक उक्तिके पात्र बन जाओ । हे सव्यसाचिन्—जिसका स्वभाव सव्य—बायें हाथसे भी बाणोंको संचित—संधान करनेका है ऐसे तुम्हारे लिये भीष्म-द्रोणादिपर विजय प्राप्त करना असम्भव नहीं है । अतः तुम्हारे व्यापारके पश्चात्—मेरे द्वारा रथसे इनके गिराये जानेपर लोग इस विजयमें तुम्हारे कर्तृत्वकी ही कल्पना करेंगे—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ३३ ॥

(१) ननु द्रोणो ब्राह्मणोत्तमो धनुर्वेदाचार्यो मम गुरुर्विशेषेण च दिव्यास्त्रसंपन्नस्तथा भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युर्दिव्यास्त्रसंपन्नश्च परशुरामेण द्वंद्वयुद्धमुपगम्यापि न पराजितस्तथा यस्य पिता वृद्धक्षत्रस्तपश्चरति मम पुत्रस्य शिरो यो भूमौ पातयिष्यति तस्यापि शिरस्तत्कालं भूमौ पतिष्यतीति स जयद्रथोऽपि जेतुमशक्यः स्वयमपि महादेवाराधनपरो दिव्यास्त्रसंपन्नश्च तथा कर्णोऽपि स्वयं सूर्यसमस्तदाराधनेन दिव्यास्त्रसंपन्नश्च वासवदत्तया चैकपुरुषघातिन्या मोघीकर्तुमशक्यया शक्त्या विशिष्टस्तथा कृपाश्वत्थामभूरिश्रवःप्रभृतयो महानुभावाः सर्वथा दुर्जया एवैतेषु सत्सु कथं जित्वा शत्रूणां राज्यं भोक्ष्ये कथं वा यशो लप्स्य इत्याशङ्कामर्जुनस्यापनेतुमाह तदाशङ्काविषयान्नामभिः कथयन्—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णतथाऽन्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥

(२) द्रोणादींस्त्वदाशङ्काविषयीभूतान्सर्वानेव योधवीरान्कालात्मना मया हतानेव त्वं जहि । हतानां हनने को वा परिश्रमः । अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेवं शक्ष्यामीति व्यथां भयनिमित्तां पीडां मा गा भयं त्यक्त्वा युध्यस्व, जेतासि जेष्यस्यचिरेणैव रणे सङ्ग्रामे सपत्नान्सर्वानपि शत्रून् ।

(३) अत्र द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं चेति चकारत्रयेण पूर्वोक्ताजेयत्वशङ्काऽनूद्यते । तथाशब्देन कर्णोऽपि । अन्यानपि योधवीरानित्यत्रापिशब्देन । तस्मात्कुतोऽपि स्वस्य पराजयं वधनिमित्तं पापं च मा शङ्किष्ठा इत्यभिप्रायः ।

---

(१) 'द्रोणाचार्य तो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ, धनुर्वेदके आचार्य, मेरे गुरु और विशेषरूपसे दिव्य अस्त्रोंसे सम्पन्न हैं । तथा भीष्मजी स्वच्छन्दमृत्यु, दिव्यास्त्रसम्पन्न और परशुरामजी से द्वन्द्व युद्ध करनेपर भी पराजित नहीं हुए थे । और जिसके पिता वृद्धक्षत्र इस उद्देश्यसे कि जो कोई मेरे पुत्रका मस्तक पृथ्वीपर गिरावेगा उसका शिर भी तत्काल भूमि पर गिर जायगा उस जयद्रथको भी जीतना सम्भव नहीं है तथा वह स्वयं भी महादेवजीकी आराधनामें तत्पर और दिव्य अस्त्रोंसे सम्पन्न है । इसी प्रकार कर्ण भी स्वयं सूर्य के समान और उसकी आराधनासे दिव्यास्त्रसम्पन्न है । उसके पास इन्द्रकी दी हुई एक पुरुषका नाश करनेवाली और किसी भी प्रकार व्यर्थ न की जा सकनेवाली शक्ति भी है । एवं कृपाचार्य, अश्वत्थामा और भूरिश्रवा आदि महानुभाव भी सर्वथा दुर्जय ही हैं । इन सबके रहते हुए मैं किस प्रकार शत्रुओंको जीतकर राज्य भोगूँगा अथवा यश प्राप्त करूँगा ?' अर्जुनकी ऐसी शंकाको निवृत्त करनेके लिये उस आशंकाके विषयोंका नाम लेकर उल्लेख करते हुए श्रीभगवान्ने कहा—

[श्लोकार्थः—तुम मेरे द्वारा मारे हुए द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा दूसरे भी वीर योद्धाओंको मारो। भयसे व्यथित मत होओ, युद्ध करो, तुम संग्राममें शत्रुओंको जीतोगे ॥]

(२) तुम्हारी शंकाके विषयभूत जो द्रोणादि हैं कालस्वरूप मेरे द्वारा मारे हुए उन सभी वीर योद्धाओंको तुम मार डालो । इन मारे हुओंको मारनेमें क्या परिश्रम होगा ? इसलिये व्यथित मत होओ—'मैं ऐसा कैसे कर सकूँगा ?' इस प्रकार की व्यथा—भयजनित पीड़ाको प्राप्त मत होओ । अर्थात् भय छोड़कर युद्ध करो । तुम शीघ्र ही संग्राममें अपने सपत्नों—सम्पूर्ण शत्रुओंको जीतोगे ।

(३) यहाँ 'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च' इन तीन चकारों से पहले कही हुई द्रोणादिके अजेयत्वकी शंकाका अनुवाद किया गया है । 'तथा' शब्दसे कर्ण और 'अन्यानपि

'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हौ ॥'
इत्यत्रेवात्रापि समुदायान्वयानन्तरं प्रत्येकान्वयो द्रष्टव्यः ॥ ३४ ॥

(१) द्रोणभीष्मजयद्रथकर्णेषु जयाशाविषयेषु हतेषु निराश्रयो दुर्योधनो हत एवेत्यनुसंधाय जयाशां परित्यज्य यदि धृतराष्ट्रः संधिं कुर्यात्तदा शान्तिरुभयेषां भवेदित्यभिप्रायवांस्ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायाम्—

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥

(२) एतत्पूर्वोक्तं केशवस्य वचनं श्रुत्वा कृताञ्जलिः किरीटीन्द्रदत्तकिरीटः परमवीरत्वेन प्रसिद्धो वेपमानः परमाश्चर्यदर्शनजनितेन संभ्रमेण कम्पमानोऽर्जुनः कृष्णं भक्ताघकर्षणं भगवन्तं नमस्कृत्वा नमस्कृत्य भूयः पुनरप्याहोक्तवान्सगद्गदं भयेन हर्षेण चाश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति कफरुद्धकण्ठतया वाचो मन्दत्वसकम्पत्वादिविकारः सगद्गदस्तद्युक्तं यथा स्यात्, भीतभीतोऽतिशयेन भीतः सन्पूर्वं नमस्कृत्य पुनरपि प्रणम्याह्यन्तनम्रो भूत्वाऽऽहेति संबन्धः ॥ ३५ ॥

योधवीरान्' इसके 'अपि' शब्दसे अन्य वीरोंकी अजेयताका अनुवाद किया गया है। अतः अभिप्राय यह है कि किसीसे भी अपनी पराजय और वधजनित पापकी शंका मत करो। 'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन । इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन' (२।४) इस श्लोकके समान यहाँ भी समुदायका अन्वय करनेके पश्चात् प्रत्येकका अन्वय किया समझना चाहिये ॥ ३४ ॥

(१) 'जयकी आशाके विषय द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्णके मारे जानेपर निराश्रय हुआ दुर्योधन मर ही जाता है' ऐसा समझकर यदि धृतराष्ट्र जयकी आशा छोड़कर सन्धि कर लें तो दोनों पक्षोंमें शान्ति हो जाय—ऐसे अभिप्रायसे 'फिर क्या हुआ ?' ऐसा प्रश्न होनेपर—

[श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे वचन सुनकर हाथ जोड़े खड़े और काँपते हुए अर्जुनने नमस्कार कर अत्यन्त भयभीत होकर पुनः प्रणाम करते हुए गद्गद कंठसे भगवान् कृष्णसे कहा ॥ ३५ ॥]

(२) [सञ्जयने कहा—] श्रीकृष्णचन्द्रके ये पूर्वोक्त वचन सुनकर हाथ जोड़े खड़े हुए किरीटीने, जो इन्द्रका दिया हुआ किरीट धारण किये हुए था और अत्यन्त वीररूपसे प्रसिद्ध था, काँपते हुए—अत्यन्त आश्चर्यदर्शनसे उत्पन्न हुए सम्भ्रमसे काँपते हुए अर्जुनने भक्तोंके पापोंको नष्ट करनेवाले श्रीभगवान्को नमस्कार कर फिर भी कहा। गद्गद युक्त होकर—भय और हर्षसे अश्रुपूर्ण नेत्र होनेपर कफके द्वारा कण्ठ रुक जानेसे जो कम्पत्व और मन्दत्व आदि वाणीका विकार होता है उसे 'गद्गद' कहते हैं, उससे जिस प्रकार युक्त हो जाय उस तरह भयभीत—अत्यन्त भययुक्त होकर पहले नमस्कार करनेके पश्चात् फिर भी प्रणाम करके अर्थात् अत्यन्त नम्र होकर कहा। इस प्रकार इसका सम्बन्ध है ॥ ३५ ॥

(१) एकादशभिः—

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥

(२) स्थाने इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थे । हे हृषीकेश सर्वेन्द्रियप्रवर्तक यतस्त्वमेवमत्यन्ताद्भुतप्रभावो भक्तवत्सलश्च ततस्तव प्रकीर्त्या प्रकृष्टया कीर्त्या निरतिशयप्राशस्त्यस्य कीर्तनेन श्रवणेन च न केवलमहमेव प्रहृष्यामि किं तु सर्वमेव जगच्चेतनमात्रं रक्षोविरोधि प्रहृष्यति प्रकृष्टं हर्षमाप्नोतीति यत्तत्स्थाने युक्तमेवेत्यर्थः । तथा सर्वं जगदनुरज्यते च तद्विषयमनुरागमुपैतीति च यत्तदपि युक्तमेव । तथा रक्षांसि भीतानि भयाविष्टानि सन्ति दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति सर्वासु दिक्षु पलायन्त इति यत्तदपि युक्तमेव । तथा सर्वे सिद्धानां कपिलादीनां संघा नमस्यन्ति चेति यत्तदपि युक्तमेव । सर्वत्र तव प्रकीर्त्येत्यस्यान्वयः स्थाने इत्यस्य च । अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः । स च नारायणाष्टाक्षरसुदर्शनास्त्रमन्त्राभ्यां संपुटितो ज्ञेय इति रहस्यम् ॥ ३६ ॥

(३) भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुमाह—

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

(१) ग्यारह श्लोकोंसे—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—हे इन्द्रियोंको प्रवृत्त करनेवाले भगवान् ! आपकी श्रेष्ठ कीर्तिसे जगत् अत्यन्त हर्षित और आपके प्रति अनुरक्त हो रहा है, राक्षस लोग डरकर दिशाओंमें भाग रहे हैं तथा सम्पूर्ण सिद्धसमुदाय नमस्कार कर रहे हैं—सो उचित ही है ॥ ३६ ॥]

(२) स्थाने—यह अव्यय 'युक्त' इस अर्थमें है । हे हृषीकेश !—समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक ! क्योंकि तुम अत्यन्त अद्भुत प्रभाववाले और भक्तवत्सलहो इसलिये तुम्हारी प्रकृष्ट कीर्तिसे—निरतिशय उत्कृष्टतासे—कीर्त्तन और श्रवणके द्वारा केवल मैं ही हर्षित नहीं होता हूँ, अपितु राक्षसोंका विरोधी सारा ही जगत्—चेतनमात्र प्रहर्ष—प्रकृष्ट हर्षको प्राप्त होता है—सो स्थाने अर्थात् युक्त ही है । तथा सारा जगत् अनुरक्त होता—आपसे सम्बद्ध अनुरागको प्राप्त होता है सो उचित ही है । तथा राक्षस लोग भीत—भयसे आविष्ट होकर दिशाओंमें द्रवित—समस्त दिशाओंमें पलायित हो रहे हैं सो यह भी उचित ही है । तथा कपिलादि सम्पूर्ण सिद्धोंके समूह जो नमस्कार करते हैं सो यह भी उचित ही है । 'प्रकीर्त्या' और 'स्थाने' इन पदोंका अन्वय सभीके साथ है । मन्त्रशास्त्रमें यह श्लोक रक्षोघ्नमन्त्ररूपसे प्रसिद्ध है, तथा इसे नारायणाष्टाक्षर एवं सुदर्शनास्त्र इन दो मन्त्रोंसे सम्पुटित समझना चाहिये—यह गुप्त रहस्य है ॥ ३६ ॥

(३) भगवान्के हर्षादिका विषय होनेमें हेतु बतलाते हैं—

[श्लोकार्थः—हे महात्मन् ! हे अनन्त ! हे देवेश्वर ! हे जगन्निवास ! आप ब्रह्मासे भी गुरुतर (बढ़कर) और उसके भी आदिकर्ता हैं तथा सत्, असत् और उनसे भी श्रेष्ठ अक्षर हैं । फिर वे आपको नमस्कार क्यों न करेंगे ? ॥ ३७ ॥]

(१) कस्माच्च हेतोस्ते तुभ्यं न नमेरन्न नमस्कुर्युः सिद्धसंघाः सर्वेऽपि हे महात्मन्परमोदारचित्त हेऽनन्त सर्वपरिच्छेदशून्य हे देवेश हिरण्यगर्भादीनामपि देवानां नियन्तः, हे जगन्निवास सर्वाश्रय । तुभ्यं कीदृशाय ब्रह्मणोऽपि गरीयसे गुरुतरायाऽऽदिकर्त्रे ब्रह्मणोऽपि जनकाय । नियन्तृत्वमुपदेष्टृत्वं जनकत्वमित्यादिरेकैकोऽपि हेतुर्नमस्कार्यताप्रयोजकः किं पुनर्महात्मत्वानन्तत्वजगन्निवासत्वादिनानाकल्याणगुणसमुच्चित इत्यनाश्चर्यतासूचनार्थं नमस्कारस्य कस्माच्चेति वाशब्दार्थश्चकारः । किं च सत्, विधिमुखेन प्रतीयमानमस्तीति, असन्निषेधमुखेन प्रतीयमानं नास्तीति, अथवा सव्यक्तमसदव्यक्तं त्वमेव । तथा तत्परं ताभ्यां सदसद्भ्यां परं मूलकारणं यदक्षरं ब्रह्म तदपि त्वमेव त्वद्भिन्नं किमपि नास्तीत्यर्थः । तत्परं यदित्यत्र यच्छब्दात्प्राक्चकारमपि केचित्पठन्ति । एतैर्हेतुभिस्त्वां सर्वे नमस्यन्तीति न किमपि चित्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(२) भक्त्युद्रेकात्पुनरपि स्तौति—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

(३) त्वमादिदेवो जगतः सर्गहेतुत्वात्, पुरुषः पूरयिता, पुराणोऽनादिः त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं लयस्थानत्वान्निधीयते सर्वमस्मिन्निति । एवं सृष्टिप्रलयस्थानत्वेनोपादानत्वमुक्त्वा सर्वज्ञत्वेन प्रधानं व्यावर्तयन्निमित्ततामाह वेत्ता वेदिता सर्वस्यासि । द्वैतापत्तिं वारयति—यच्च वेद्यं

(१) हे महात्मन्—परम उदारचित्त ! हे अनन्त—सब प्रकारके परिच्छेदसे शून्य ! हे देवेश—हिरण्यगर्भादि देवताओंके भी नियन्ता ! हे जगन्निवास—सबके आश्रय ! आपको सारे ही सिद्धसमुदाय किस कारणसे नमस्कार न करेंगे ? कैसे आपको ? ब्रह्मासे भी गरीयस्—गुरुतर तथा ब्रह्माके भी आदिकर्ता—जन्मदाताको । नियन्तृत्व, उपदेष्टृत्व और जनकत्व इत्यादि एक-एक हेतु भी नमस्कार्योग्यताका कारण हो जाता है; फिर वह महात्मत्व अनन्तत्व एवं जगन्निवासत्व इत्यादि कल्याणमय गुणोंसे युक्त हो तब तो कहना ही क्या है ? इस प्रकार यह कथन नमस्कारकी आश्चर्यशून्यता सूचित करनेके लिये है । 'कस्माच्च' इसमें 'च' शब्द 'वा' शब्दके अर्थमें है । तथा 'सत्'—विधिमुखसे प्रतीयमान अर्थात् अस्तिरूप और 'असत्'—निषेधमुखसे प्रतीयमान अर्थात् नास्तिरूप अथवा सत्—व्यक्त और असत्—अव्यक्त आप ही हैं । तथा उनसे परे—उन सत् और असत्से परे उनका मूल कारण जो अक्षर ब्रह्म है वह भी आप ही हैं । तात्पर्य यह है कि आपसे भिन्न कुछ भी नहीं है । कोई-कोई 'तत्परं यत्' यहाँ 'यत्' से पहले 'च' शब्द भी पाठ करते हैं । तात्पर्य यह है कि इन कारणोंसे सब आपको नमस्कार करते हैं, सो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३७ ॥

(२) भक्तिके उद्रेकसे फिर भी स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अनन्तरूप ! आप आदिदेव हैं, पुरुष हैं, पुराण हैं, इस विश्वके चरम लयस्थान हैं, ज्ञाता हैं, ज्ञेय हैं और भगवान् विष्णुके परम पद हैं, यह सारा विश्व आपहीसे व्याप्त है ॥ ३८ ॥]

(३) जगत्की सृष्टिके कारण होनेसे आप आदिदेव हैं, पुरुष—पूरित करनेवाले हैं; पुराण—अनादि हैं, लयस्थान होनेके कारण विश्वके परम निधान हैं—जिसमें सब कुछ निहित किया जाय उसे निधान कहते हैं । इस प्रकार सृष्टि और प्रलयके स्थानरूपसे उपादान कारणता बताकर सर्वज्ञताके कारण प्रधानकी व्यावृत्ति करते हुए निमित्तकारणता

तदपि त्वमेवासि वेदनरूपे वेदितरि परमार्थसंबन्धाभावेन सर्वस्य वेद्यस्य कल्पितत्वात् । अत एव परं च धाम यत्सच्चिदानन्दघनमविद्यातत्कार्यनिर्मुक्तं विष्णोः परमं पदं तदपि त्वमेवासि । स्वया सद्रूपेण स्फूरणरूपेण च कारणेन ततं व्याप्तमिदं स्वतःसत्तास्फूर्तिशून्यं विश्वं कार्यं मायिकसंबन्धेनैव स्थितिकाल हेऽनन्तरूपापरिच्छिन्नस्वरूप ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

(१) वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः सूर्यादीनामप्युपलक्षणमेतत् । प्रजापतिर्विराड्हिरण्यगर्भश्च, प्रपितामहश्च पितामहस्य हिरण्यगर्भस्यापि पिता च त्वम् । यस्मादेवं सर्वदेवात्मकत्वात्त्वमेव सर्वैर्नमस्कार्योऽसि तस्मान्ममापि वराकस्य नमो नमस्ते तुभ्यमस्तु सहस्रकृत्वः, पुनश्च भूयोऽपि पुनरपि नमो नमस्ते । भक्तिश्रद्धातिशयेन नमस्कारेष्वलंप्रत्ययाभावोऽनया नमस्काराबृत्त्या सूच्यते ॥३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्याभितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

(२) तुभ्यं पुरस्तादग्रभागे नमोऽस्तु तुभ्यं पुरो नमः स्तादिति वा । अथशब्दः समुच्चये । पृष्ठतोऽपि तुभ्यं नमः स्तात् । नमोऽस्तु ते तुभ्यं सर्वत एव सर्वासु दिक्षु स्थिताय हे सर्व । वीर्यं

बताते हैं—आप सबके वेत्ता—जाननेवाले हैं । इस प्रकार द्वैतकी प्राप्ति होती है, उसे निवृत्त करते हैं—और जो कुछ वेद्य (ज्ञानका विषय) है वह भी आपही हैं, क्योंकि ज्ञानस्वरूप ज्ञातासे वास्तविक सम्बन्ध न हो सकनेके कारण सारा वेद्यवर्ग कल्पित है । इसीसे जो परमधाम—भगवान् विष्णुका अविद्या और उसके कार्यसे रहित सच्चिदानन्दघन परमपद है वह भी आप ही हैं । हे अनन्त—अपरिच्छिन्नस्वरूप ! स्थितिके समय यह स्वतः सत्ता-स्फूर्तिशून्य विश्व—कार्यवर्ग मायिक सम्बन्धके द्वारा सद्रूप और स्फुरणरूप कारण आपहीके द्वारा व्याप्त है ॥ ३८ ॥

[श्लोकार्थः—आपही वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भके भी पिता हैं । आपको सहस्रों बार नमस्कार है । आपको फिर भी बार-बार नमस्कार है ॥ ३९ ॥]

(१) आप वायु, यम, अग्नि, वरुण और चन्द्रमा हैं—यह सूर्य आदिका भी उपलक्षण है । आप ही प्रजापति—विराट् और हिरण्यगर्भ तथा प्रपितामह—पितामह हिरण्यगर्भके भी पिता हैं । क्योंकि इस प्रकार सर्वदेवमय होनेके कारण आप ही नमस्कारके योग्य हैं इसलिये मुझ दीनका भी आपको हजारों बार नमस्कार हो तथा फिर भी बार-बार नमस्कार हो । इस नमस्कारकी आवृत्तिसे भक्ति और श्रद्धाकी अधिकताके कारण नमस्कार करनेमें संतोषका अभाव सूचित होता है ॥ ३९ ॥

[श्लोकार्थः—'आपको आगेसे और पीछेसे नमस्कार है, हे सर्वरूप ! आपको सब ओरसे नमस्कार है । आप अनन्त बलवाले और असीम पराक्रमवाले हैं । आप सारे जगत्को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिये सर्वरूप हैं ॥ ४० ॥]

(२) आपको [पुरस्तात् नमः] सामनेसे—आगेके भागमें नमस्कार है अथवा ['पुरः नमः स्तात्' ऐसा अन्वय करके] आपको पहले नमस्कार है । 'अथ' शब्द समुच्चय अर्थमें है । पीछेसे भी आपको नमस्कार है । हे सर्व ! सर्वतः समस्त दिशाओंमें

शारीरबलं विक्रमः शिक्षा शस्त्रप्रयोगकौशलम्। 'एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाऽधिकम्' इत्युक्तेर्भीमदुर्योधनयोरन्येषु चैकैकं व्यवस्थितम्। त्वं तु अनन्तवीर्यश्चामितविक्रमश्चेति समस्तमेकं पदम्। अनन्तवीर्येति संबोधनं वा। सर्वं समस्तं जगत्समाप्नोषि सम्यगेकेन सद्रूपेणाऽऽप्नोषि सर्वात्मना व्याप्नोषि ततस्तस्मात्सर्वोऽसि त्वदतिरिक्तं किमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

(१) यतोऽहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानादपराधानजस्रमकार्षं ततः परमकारुणिकं त्वां प्रणम्यापराधक्षमां कारयामीत्याह द्वाभ्याम्—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

(२) त्वं मम सखा समानवया इति मत्वा प्रसभं स्वोत्कर्षख्यापनरूपेणाभिभवेन यदुक्तं मया तवेदं विश्वरूपं तथा महिमानमैश्वर्यातिशयमजानता। पुंल्लिङ्गपाठे इमं विश्वरूपात्मकं महिमानमजानता। प्रमादाच्चित्तविक्षेपात्प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि किमुक्तमित्याह हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ॥ ४१ ॥

स्थित आपको नमस्कार है। वीर्य—शारीरिक बल और विक्रम—शिक्षा-शस्त्रप्रयोगकी कुशलता 'मैं एक (भीम) को बलमें अधिक मानता हूँ और एक (दुर्योधन) को शिक्षामें बड़ा समझता हूँ' इस बलरामजीकी उक्तिके अनुसार भीम और दुर्योधन तथा दूसरे लोगोंमें भी एक-एक गुण ही रहता है, किन्तु आप तो अनन्तबलशाली और असीम विक्रमशील हैं—इस प्रकार यह 'अनन्तवीर्यामितविक्रमः' समासयुक्त एक ही पद है। अथवा अनन्तवीर्य—यह सम्बोधन है। सर्व—समस्त जगत्को समाप्नोषि—एक सद्रूपसे सम्यक् व्याप्त किये हैं अर्थात् सर्वात्मभावसे व्याप्त किये हैं। इसलिये आप सर्व हैं—आपके सिवा और कुछ भी नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४० ॥

(१) क्योंकि आपका माहात्म्य न जाननेके कारण मैंने निरन्तर अपराध किये हैं इसलिये परमकारुणिक आपको प्रणाम करके मैं अपने अपराध क्षमा कराता हूँ—यह बात दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—आपकी इस महिमाको न जानकर अपना समवयस्क समझते हुए मैंने प्रमाद या प्रेमके कारण अपनी उत्कृष्टता दिखाते हुए जो 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इस प्रकार आपको सम्बोधन किया है तथा एकान्तमें अथवा दूसरे लोगोंके सामने हँसीके लिये खेलमें, सोते समय, बैठते समय अथवा भोजन करते हुए आपका तिरस्कार किया है, हे अच्युत असीम प्रभावशाली आपसे मैं उन्हें क्षमा कराता हूँ ॥ ४१-४२ ॥]

(२) आपके ऐसे विश्वरूप और महिमा—ऐश्वर्यकी विशेषता न जाननेके कारण 'तुम मेरे सखा—समवयस्क हो' ऐसा मानकर मैंने प्रसभं—अपने उत्कर्षको प्रकट करना रूप आपके तिरस्कारकी दृष्टिसे। 'महिमानं तवेमम्' ऐसा पुंल्लिंग पाठ होनेपर 'आपके विश्वरूपात्मक माहात्म्यको न जानकर' ऐसा अर्थ होगा। प्रमादसे—चित्तकी चञ्चलतासे अथवा प्रणयसे—स्नेहसे। क्या कहा है ? सो कहते हैं—'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखा !' इत्यादि ॥ ४१ ॥

(१) यच्चावहासार्थं परिहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु विहारः क्रीडा व्यायामो वा। शय्या तूलिकाद्यास्तरणविशेषः। आसनं सिंहासनादि भोजनं बहूनां पङ्क्तावशनं तेषु विषयभूतेषु असत्कृतोऽसि मया परिभूतोऽसि एकः सखीन्विहाय रहसि स्थितो वा त्वम्। अथवा तत्समक्षं तेषां सखीनां परिहसतां समक्षं वा, हेऽच्युत सर्वदा निर्विकार, तत्सर्वं वचनरूपमसत्करणरूपं चापराधजातं क्षामये क्षामयामि त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावेन निर्विकारेण च परमकारुणिकेन भगवता त्वन्माहात्म्यानभिज्ञस्य ममापराधाः क्षन्तव्या इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

(२) अचिन्त्यप्रभावतामेव प्रपञ्चयति—

पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥

(३) अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकस्त्वमसि पूज्यश्चासि सर्वेश्वरत्वात्। गुरुश्चासि शास्त्रोपदेष्टा। अतः सर्वैः प्रकारैर्गरीयान्गुरुतरोऽसि। अत एव न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽपि हेऽप्रतिमप्रभाव। यस्य समोऽपि नास्ति द्वितीयस्य परमेश्वरस्याभावात्तस्याधिकोऽन्यः कुतः स्यात्सर्वथा न संभाव्यत एवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

(४) यस्मादेवम्—

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।

(१) तथा जो अवहासार्थ—परिहासके लिये 'विहारशय्यासनभोजनेषु'-विहार—क्रीडा या व्यायाम, शय्या—गद्दा आदि बिछौनेविशेष, आसन—सिंहासनादि, भोजन—बहुतोंका एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करना—इन प्रसंगोंके आनेपर मैंने आपका असत्कार-पराभव किया है। जब कभी आप एक—मित्रोंको छोड़कर एकान्तमें स्थित थे अथवा जब उनके समक्ष—उन हँसी करते हुए सखाओंके सामने थे। हे अच्युत !—सर्वदा निर्विकार ! वह सब वचनरूप और असत्काररूप अपराधसमूह मैं आप अप्रमेयसे—अचिन्त्यप्रभावशालीसे मैं क्षमा कराता हूँ। तात्पर्य यह है कि आप अचिन्त्यप्रभाव, निर्विकार और परमकारुणिक भगवान्को आपकी महिमा न जाननेवाले मेरे ये अपराध क्षमा कर देने चाहिये ॥ ४२ ॥

(२) भगवान्की अचिन्त्य प्रभावताका ही विस्तार करते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अचिन्त्य प्रभाव ! आप इस चराचर जगत् के पिता, पूज्य, गुरु और गौरवके योग्य हैं। तीनों लोकोंमें आपके समान कोई नहीं है, फिर और कोई अधिक तो कहाँसे हो सकता है ? ॥ ४३ ॥]

(३) हे अमितप्रभावशाली ! आप इस चराचर जगत् के पिता—जन्मदाता हैं, सर्वेश्वर होनेके कारण पूज्य हैं, तथा गुरु—शास्त्रका उपदेश करनेवाले हैं। इसलिये सब प्रकारसे गरीयान्-गुरुतर हैं। अतः तीनों लोकोंमें भी आपके समान कोई नहीं है, फिर अधिक तो कहाँसे आया ? दूसरा परमेश्वर न होनेके कारण जिसके समान भी कोई नहीं है उससे बढ़कर तो कोई हो ही कैसे सकता है ? अर्थात् यह किसी प्रकार सम्भव है ही नहीं ॥ ४३ ॥

(४) क्योंकि ऐसा है—

[श्लोकार्थः—इसलिये प्रणाम करके और शरीरको दण्डके समान पृथ्वीपर गिराकर मैं आप स्तुतिके योग्य ईश्वरको प्रसन्न करता हूँ। हे देव ! जिस प्रकार पुत्रके अपराधको

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

(१) तस्मात्प्रणम्य नमस्कृत्य त्वां प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्भूत्वा कायं दण्डवद्भूमौ पतित्वेति यावत् । प्रसादये त्वामीशमीड्यं सर्वस्तुत्यमहमपराधी । अतो हे देव पितेव पुत्रस्यापराधं सखेव सख्युरपराधं प्रियः पतिरिव प्रियायाः प्रतिव्रताया अपराधं ममापराधं त्वं सोढुं क्षन्तुमर्हसि अनन्यशरणत्वान्मम । प्रियायार्हसीत्यत्रेवशब्दलोपः संधिश्च छान्दसः ॥ ४४ ॥

(२) एवमपराधक्षमां प्रार्थ्य पुनः प्राग्रूपदर्शनं विश्वरूपोपसंहारेण प्रार्थयते द्वाभ्याम्—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

(३) कदाऽप्यदृष्टपूर्वं पूर्वमदृष्टं विश्वरूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टोऽस्मि । तद्विकृतरूपदर्शनजेन भयेन च प्रव्यथितं व्याकुलीकृतं मनो मे । अतस्तदेव प्राचीनमेव मम प्राणापेक्षयाऽपि प्रियं रूपं मे दर्शय हे देव हे देवेश हे जगन्निवास प्रसीद प्राग्रूपदर्शनरूपं प्रसादं मे कुरु ॥ ४५ ॥

(४) तदेव रूपं विवृणोति—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

पिता, सखाके अपराधको सखा और प्रियाके अपराधको प्रियतम सह लेता है उसी प्रकार आपको मेरा अपराध सहन करना उचित है ॥ ४४ ॥]

(१) इसलिये आपको नमस्कार करके और शरीरको प्रणहित—अत्यन्त नीचा रखकर अर्थात् दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर ईड्य—सबकी स्तुतिके योग्य आप ईश्वरको मैं अपराधी प्रसन्न करता हूँ । अतः हे देव ! पुत्रके अपराधको पिताके समान, सखाके अपराधको सखाके समान और प्रिया—पतिव्रताके अपराधको प्रिय-पतिके समान आप मेरे अपराधको सहन करने अर्थात् क्षमा करनेके योग्य हैं, क्योंकि आप मेरे एकमात्र आश्रय हैं । 'प्रियायार्हसि' इसमें 'इव' शब्दका लोप और सन्धि छान्दस है ॥ ४४ ॥

(२) इस प्रकार अपराधक्षमाके लिये प्रार्थना कर फिर विश्वरूपके उपसंहारपूर्वक पूर्वरूपका दर्शन करानेके लिये दो श्लोकोंसे प्रार्थना करते हैं—

[श्लोकार्थः—जिसके पहले दर्शन नहीं किये ऐसे आपके इस विश्वरूपको देखकर मुझे हर्ष हो रहा है तथा भयसे भी मेरा मन बहुत व्यथित हो रहा है । हे देव ! आप मुझे अपना वह (पहला) ही रूप दिखाइये । हे देवाधिदेव ! हे जगन्निवास ! मुझपर प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥]

(३) जिसे पहले कभी नहीं देखा ऐसे इस विश्वरूपको देखकर मुझे हर्ष है तथा ऐसे विकट रूपके दर्शनसे उत्पन्न हुए भयसे मेरा मन भी बहुत व्यथित—व्याकुल हो रहा है । अतः जो प्राणोंकी अपेक्षा भी प्रिय है वह अपना प्राचीन रूप ही मुझे दिखाइये । हे देव ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये अर्थात् मेरे प्रति अपना पूर्वरूपदर्शनरूप प्रसाद कीजिये ॥ ४५ ॥

(४) उसी रूपका स्पष्टीकरण करते हैं—

[श्लोकार्थः—मैं आपको उसी प्रकार मुकुटधारी, गदा धारण किये और हाथमें

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

(१) किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं च त्वां द्रष्टुमिच्छाम्यहं तथैव पूर्ववदेव । अतस्तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन वसुदेवात्मजत्वेन भव हे इदानीं सहस्रबाहो हे विश्वमूर्ते । उपसंहृत्य विश्वरूपं पूर्वरूपेणैव प्रकटो भवेत्यर्थः । एतेन सर्वदा चतुर्भुजादिरूपमर्जुनेन भगवतो दृश्यत इत्युक्तम् ॥ ४६ ॥

(२) एवमर्जुनेन प्रसादितो भयबाधितमर्जुनमुपलभ्योपसंहृत्य विश्वरूपमुचितेन वचनेन तमाश्वासयंस्त्रिभिः—

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

(३) हेऽर्जुन मा भैषीः । यतो मया प्रसन्नेन त्वद्विषयकृपातिशयवतेदं विश्वरूपात्मकं परं श्रेष्ठं रूपं तव दर्शितमात्मयोगादसाधारणान्निजसामर्थ्यात् । परत्वं विवृणोति तेजोमयं तेजःप्रचुरं विश्वं समस्तमनन्तमाद्यं च यन्मम रूपं त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं पूर्वं न दृष्टम् ॥ ४७ ॥

(४) एतद्रूपदर्शनात्मकमतिदुर्लभं मत्प्रसादं लब्ध्वा कृतार्थं एवासि त्वमित्याह—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

चक्र लिये देखना चाहता हूँ । हे सहस्रभुजाओंवाले ! हे विश्वरूप ! आप अपने उस चतुर्भुज रूपसे ही स्थित हो जाइये ॥ ४६ ॥]

(१) मैं आपको उसी प्रकार—पहले हीके समान मुकुटवाला, गदावाला और हाथमें चक्र लिये देखना चाहता हूँ । अतः उस चतुर्भुज रूपसे ही—वसुदेवपुत्ररूपसे ही स्थित होइये । हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्ते ! अब विश्वरूपका उपसंहार कर पहले रूपसे ही प्रकट होइये—ऐसा इसका तात्पर्य है । इससे यह बात कही गयी है कि अर्जुनको सर्वदा भगवान्‌का चतुर्भुजादि रूप ही दिखायी देता था ॥ ४६ ॥

(२) इस प्रकार अर्जुनद्वारा प्रसन्न किये जानेपर अर्जुनको भयभीत देख अपने विश्वरूपका उपसंहार कर तीन श्लोकोंसे उचित वाक्योंद्वारा उसे ढाढस बँधाते हुए—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—अर्जुन ! मैंने प्रसन्न होकर अपने असाधारण सामर्थ्यसे तुम्हें अपना यह श्रेष्ठ, तेजोमय, विश्वात्मक, अनन्त और सबसे प्राचीन रूप दिखाया है, जिसे तुम्हारे सिवा और किसीने पहले नहीं देखा ॥ ४७ ॥]

(३) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] अर्जुन ! डरो मत, क्योंकि मैंने प्रसन्न होकर—तुम्हारे प्रति अत्यन्त कृपायुक्त होकर आत्मयोगसे—अपने असाधारण सामर्थ्यसे तुम्हें यह विश्वात्मक पर—श्रेष्ठरूप दिखाया है । उस रूपकी श्रेष्ठताका स्पष्टीकरण करते हैं—तेजोमय—जिसमें तेजकी अधिकता है, विश्व—समस्त, अनन्त और आद्य ऐसे मेरे जिस रूपको पहले तुम्हारे सिवा और किसीने नहीं देखा ॥ ४७ ॥

(४) यह मेरा रूपदर्शनात्मक अत्यन्त दुर्लभ प्रसाद पाकर तुम कृतार्थ ही हो—ऐसा अब कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे कुरुश्रेष्ठ ! वेद और यज्ञोंके अध्ययन, दान, क्रिया और भीषण तपस्या

PAŃSTWOWE WYDAWNICTWO „WIEDZA POWSZECHNA"

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

(१) वेदानां चतुर्णामपि अध्ययनैरक्षरग्रहणरूपैः, तथा मीमांसाकल्पसूत्रादिद्वारा यज्ञानां वेदबोधितकर्मणामध्ययनैरर्थविचाररूपैर्वेदयज्ञाध्ययनैः, दानैस्तुलापुरुषादिभिः, क्रियाभिरग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिः, तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिरुग्रैः कायेन्द्रियशोषकत्वेन दुष्करैरेवंरूपोऽहं न शक्यो नृलोके मनुष्यलोके द्रष्टुं त्वदन्येन मदनुग्रहहीनेन हे कुरुप्रवीर । शक्योऽहमिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । प्रत्येकं नकाराभ्यासो निषेधदार्ढ्यार्थः । न च क्रियाभिरित्यत्र चकारादनुक्तसाधनान्तरसमुच्चयः ॥ ४८ ॥

(२) एवं त्वदनुग्रहार्थमाविर्भूतेन रूपेणानेन चेत्तवोद्वेगस्तर्हि—

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

(३) इदं घोरमीदृगनेकबाह्वादियुक्तत्वेन भयंकरं मम रूपं दृष्ट्वा स्थितस्य ते तव या व्यथा भयनिमित्ता पीडा सा मा भूत् । तथा मद्रूपदर्शनेऽपि यो विमूढभावो व्याकुलचित्तत्वमपरितोषः सोऽपि मा भूत्किं तु व्यपेतभीरपगतभयः प्रीतमनाश्च सन्पुनस्त्वं तदेव चतुर्भुजं वासुदेवत्वादिविशिष्टं त्वया सदा पूर्वदृष्टं रूपमिदं विश्वरूपोपसंहारेण प्रकटीक्रियमाणं प्रपश्य प्रकर्षेण भयराहित्येन संतोषेण च पश्य ॥ ४९ ॥

इनमेंसे किसी साधनद्वारा मैं मनुष्यलोकमें तुम्हारे सिवा किसी अन्य पुरुषको इस रूपमें दिखायी नहीं दे सकता ॥ ४८ ॥]

(१) हे कुरुप्रवीर ! चारों वेदोंके अक्षर ग्रहणरूप अध्ययनसे तथा मीमांसा और कल्पसूत्रादिद्वारा यज्ञोंके—वेद-प्रतिपादित कर्मोंके अर्थविचाररूप अध्ययनद्वारा, तुलापुरुषादि दानोंसे, क्रियाओंसे—अग्निहोत्रादि श्रौत कर्मोंसे, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि उग्र—शरीर और इन्द्रियोंके शोषक होनेसे दुष्कर तपोंसे तुम्हारे सिवा मेरे अनुग्रहसे रहित किसी अन्य पुरुषको इस मनुष्यलोक में मेरे दर्शन नहीं हो सकते । यहाँ 'शक्योऽहम्' ऐसा कहना चाहिये था, अतः विसर्गका लोप छान्दस है । प्रत्येकके साथ नकारकी आवृत्ति निषेधकी दृढताके लिये है । 'न च क्रियाभिः' यहाँ चकारसे बिना कहे हुए दूसरे साधनोंका भी समुच्चय कर लेना चाहिये ॥ ४८ ॥

(२) इस प्रकार तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट किये हुए इस रूपसे यदि तुम्हें उद्वेग होता है तो—

श्लोकार्थः—मेरा ऐसा भयानक रूप देखकर तुम्हें व्यथा और चित्तकी व्याकुलता नहीं होनी चाहिये । तुम निर्भय होकर प्रसन्न चित्तसे पुनः मेरा यह वही रूप देखो ॥ ४९ ॥]

(३) इस मेरे घोर अर्थात् अनेक भुजादिसे युक्त होनेके कारण भयंकर रूपको देखकर स्थित हुए तुमको 'जो व्यथा—भयजनित पीडा हो रही है वह नहीं होनी चाहिये । तथा मेरा रूप देखनेपर भी जो विमूढभाव—व्याकुलचित्तत्व अर्थात् असन्तोष हो रहा है यह भी नहीं होना चाहिये । किन्तु व्यपेतभीः—भयहीन और प्रसन्नचित्त होकर तुम पुनः विश्वरूपके उपसंहारद्वारा प्रकट किया हुआ यह पूर्वकालमें सर्वदा दीखनेवाला वही वासुदेवत्वादिसे युक्त मेरा चतुर्भुज रूप प्रकर्षसे—भयहीनता और सन्तोषसे युक्त होकर देखो ॥ ४९ ॥

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

(१) वासुदेवोऽर्जुनमिति प्रागुक्तमुक्त्वा यथा पूर्वमासीत्तथा स्वकं रूपं किरीटमकरकुण्डलगदाचक्रादियुक्तं चतुर्भुजं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालापीताम्बरादिशोभितं दर्शयामास भूयः पुनराश्वासयामास च भीतमेनमर्जुनं भूत्वा पुनः पूर्ववत्सौम्यवपुरनुग्रशरीरो महात्मा परमकारुणिकः सर्वेश्वरः सर्वज्ञ इत्यादिकल्याणगुणाकरः ॥ ५० ॥

(२) ततो निर्भयः सन्—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

(३) इदानीं सचेता भयकृतव्यामोहाभावेनाव्याकुलचित्तः संवृत्तोऽस्मि तथा प्रकृतिं भयकृतव्यथाराहित्येन स्वास्थ्यं गतोऽस्मि । स्पष्टमन्यत् ॥ ५१ ॥

(४) स्वकृतस्यानुग्रहस्यातिदुर्लभत्वं दर्शयंश्चतुर्भिः—

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।

[श्लोकार्थः—सञ्जयने कहा—अर्जुनसे ऐसा कहकर श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें पुनः अपना रूप दिखाया । तथा उन महात्माने पुनः सौम्यरूप होकर उस डरे हुए अर्जुनको ढाढस बँधाया ॥ ५० ॥]

(१) वासुदेव भगवान् कृष्णने अर्जुनसे ऐसा कहकर जैसा पहले था वैसा ही अपना किरीट, मकराकृत कुण्डल, गदा एवं चक्रादियुक्त चार भुजाओंवाला एवं श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला और पीताम्बरादिसे सुशोभित रूप दिखाया । तथा महात्मा—परम कारुणिक सर्वेश्वर एवं सर्वज्ञ आदि कल्याणमय गुणोंके आकर श्रीभगवान्ने पुनः—पूर्ववत् सौम्यवपु—अनुग्रशरीर होकर उस भयभीत अर्जुनको ढाढस बँधाया ॥ ५० ॥

(२) तब निर्भय होकर—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—हे जनार्दन ! आपका यह सौम्य मानव देह देखकर अब मैं भयको त्यागकर शान्तचित्त और स्वस्थ हो गया हूँ ॥ ५१ ॥]

(३) [अर्जुनने कहा—] अब मैं सचेता—भयजनित व्यामोहको छोड़कर अव्याकुलचित्त हो गया हूँ । तथा प्रकृतिको—भयजनित व्यथाहीनतासे स्वस्थताको प्राप्त हो गया हूँ । शेष सब स्पष्ट है ॥ ५१ ॥

(४) चार श्लोकोंसे अपने किये हुए अनुग्रहकी अत्यन्त दुर्लभता दिखाते हुए—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्ने कहा—तुमने मेरा जो रूप देखा है उसका दर्शन होना

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

(१) मम यद्रूपमिदानीं त्वं दृष्टवानसि, इदं विश्वरूपं सुदुर्दर्शमत्यन्तं द्रष्टुमशक्यम् । यतो देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं सर्वदा दर्शनकाङ्क्षिणो न तु त्वमिव पूर्वं दृष्टवन्तो न वाऽग्रे द्रक्ष्यन्तीत्यभिप्रायः । दर्शनाकाङ्क्षाया नित्यत्वोक्तेः ॥ ५२ ॥

(२) कस्माद्देवा एतद्रूपं न दृष्टवन्तो न वा द्रक्ष्यन्ति मद्भक्तिशून्यत्वादित्याह—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

(३) न वेदयज्ञाध्ययनैरित्यादिना गतार्थः श्लोकः परमदुर्लभत्वख्यापनायाभ्यस्तः ॥ ५३ ॥

(४) यदि वेदतपोदानेज्याभिर्द्रष्टुमशक्यस्त्वं तर्हि केनोपायेन द्रष्टुं शक्योऽसीत्यत आह—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

(५) साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थस्तुशब्दः । भक्त्यैवानन्यया मदेकनिष्ठया निरतिशयप्रीत्यैवंविधो दिव्यरूपधरोऽहं ज्ञातुं शक्यः शास्त्रतो हेऽर्जुन । शक्य अहमिति च्छान्दसो विसर्गलोपः पूर्ववत् । न केवलं शास्त्रतो ज्ञातुं शक्योऽनन्यया भक्त्या किं तु तत्त्वेन द्रष्टुं च स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं च शक्यो

बहुत ही कठिन है । देवतालोग भी सर्वदा इस रूपके दर्शनकी इच्छावाले रहते हैं ॥५२॥]

(१) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] तुमने इस समय मेरा जो रूप देखा है वह यह विश्वरूप सुदुर्दर्श—देखनेके लिये अत्यन्त अशक्य है; क्योंकि देवता भी नित्य—सर्वदा इस रूपके दर्शनोंकी इच्छावाले रहते हैं । तात्पर्य यह है कि तुम्हारे समान न तो पहले किन्होंने इसे देखा है और न आगे ही कोई देखेंगे, क्योंकि यहाँ उनकी दर्शनकी अभिलाषा की नित्यता बतायी गयी है ॥ ५२ ॥

(२) देवताओंने इस रूपको क्यों नहीं देखा और वे क्यों नहीं देखेंगे—इसपर यह कहते हैं कि 'मेरी भक्तिसे शून्य होनेके कारण उन्हें इसके दर्शन नहीं हुए और न होंगे ही'—

[श्लोकार्थः—तुमने मुझे जिस प्रकारसे देखा है उस प्रकार मैं न तो वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥]

(३) इस श्लोकका तात्पर्य 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादि श्लोकमें आ गया है । विश्वरूपदर्शनकी अत्यन्त दुर्लभता दिखानेके लिये इसकी पुनः आवृत्ति कर दी है ॥ ५३ ॥

(४) यदि आप वेद, तप, दान और यज्ञोंसे नहीं देखे जा सकते तो फिर किस उपायसे देखे जा सकते हैं ? इसपर कहते हैं—

[श्लोकार्थः—हे अर्जुन ! हे परन्तप ! इस प्रकार तो अनन्य भक्तिसे ही मैं जाना, देखा और तत्त्वतः प्राप्त किया जा सकता हूँ ॥ ५४ ॥]

(५) यहाँ 'तु' शब्द अन्य साधनकी व्यावृत्तिके लिये है । हे अर्जुन ! अनन्य भक्तिसे—मेरेमें ही लगी हुई निरतिशय प्रीतिसे इस प्रकारका दिव्यरूपधारी मैं शास्त्रद्वारा जाना जा सकता हूँ । 'शक्य अहम्' इसमें 'शक्यः' शब्दके विसर्गका लोप पहले हीकी

वेदान्तवाक्यश्रवणमननिदिध्यासनपरिपाकेण । ततश्च स्वरूपसाक्षात्कारादविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ तत्त्वेन प्रवेष्टुं च मद्रूपतयैवाऽऽतुं चाहं शक्यो हे परंतप, अज्ञानशत्रुदमनेति प्रवेशयोग्यतां सूचयति ॥ ५४ ॥

(१) अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थिनामनुष्ठानाय मुष्टीकृत्योच्यते—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

(२) मदर्थं कर्म वेदविहितं करोतीति मत्कर्मकृत् । स्वर्गादिकामनायां सत्यां कथमेवमिति नेत्याह मत्परमः, अहमेव परमः प्राप्तव्यत्वेन निश्चितो न तु स्वर्गादिर्यस्य सः । अत एव मत्प्राप्त्याशया मद्भक्तः सर्वैः प्रकारैर्मम भजनपरः । पुत्रादिषु स्नेहे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह-सङ्गवर्जितः, बाह्यवस्तुस्पृहाशून्यः । शत्रुषु द्वेषे सति कथमेवं स्यादिति नेत्याह-निर्वैरः सर्वभूतेषु अपकारिष्वपि

तरह छान्दस है । अनन्यभक्तिके द्वारा मुझे शास्त्रसे केवल जाना ही नहीं जा सकता अपितु मुझे तत्त्वतः देखा भी जा सकता है अर्थात् मेरा वेदान्तके वाक्योंके श्रवण, मनन और निदिध्यासनका परिपाक होनेपर मेरा स्वरूपसे साक्षात्कार भी किया जा सकता है । फिर स्वरूपका साक्षात्कार होनेसे अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर तत्त्वतः प्रवेश अर्थात् तादात्म्यभावसे ही मुझे प्राप्त किया जा सकता है । 'हे परन्तप !—अज्ञानरूप शत्रुका दमन करनेवाले !' इस सम्बोधनसे भगवान् अर्जुनकी अपनेमें प्रवेश करनेकी योग्यता सूचित करते हैं ॥ ५४ ॥

(१) अब कल्याणकामियोंके अनुष्ठानके लिये सम्पूर्ण गीताशास्त्रका सारभूत अर्थ इकट्ठा करके कहा जाता है—

[श्लोकार्थः—हे पाण्डुपुत्र ! जो मेरे लिये ही कर्म करनेवाला, मुझे ही प्राप्तव्य माननेवाला, मेरा भक्त, सङ्गहीन और समस्त प्राणियोंके प्रति वैरभावसे रहित होता है वह मुझे प्राप्त हो जाता है ॥ ५५ ॥]

(२) जो मेरे लिये वेदविहित कर्म करता है उसे 'मत्कर्मकृत्' कहते हैं । किन्तु स्वर्गादिकी कामनाओंके रहते हुए ऐसा कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—नहीं, जो मत्परम है अर्थात् जिसने मेरेको ही परम—अपने प्राप्तव्यरूपसे निश्चय कर रखा है, स्वर्गादिको नहीं । इसीसे मेरी प्राप्तिकी आशासे जो मद्भक्त—मेरा भक्त—सब प्रकार मेरे भजनमें लगा हुआ है । किन्तु पुत्रादिमें स्नेह रहनेपर ऐसा कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—नहीं, जो संगवर्जित—बाह्य वस्तुओंके स्नेहसे रहित है । यह बात शत्रुओंमें द्वेष रहते हुए कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—नहीं, जो निर्वैर—समस्त प्राणियोंके प्रति वैरशून्य, अपना अपकार करनेवालोंके प्रति भी द्वेषशून्य है वह अभेदपूर्वक मुझे

द्वेषशून्यो यः स मामेत्यभेदेन हे पाण्डव । अयमर्थस्त्वया ज्ञातुमिष्टो मयोपदिष्टो नातः परं किंचित्कर्तव्यमस्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां विश्वरूपदर्शननिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

प्राप्त हो जाता है। हे पाण्डव तुम्हें यह बात जाननेकी इच्छा थी, सो मैंने इसका उपदेश कर दिया। तात्पर्य यह है कि इससे बढ़कर और कोई कर्त्तव्य नहीं है ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-विरचित श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका टीकाके हिन्दी भाषान्तरण विश्वरूपदर्शननिरूपण नामका ग्यारहवाँ अध्याय ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

(१) पूर्वाध्यायान्ते—

'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥'

इत्युक्तम् । तत्र मच्छब्दार्थे संदेहः किं निराकारमेव सर्वस्वरूपं वस्तु मच्छब्देनोक्तं भगवता किं वा साकारमिति । उभयत्रापि प्रयोगदर्शनात् ।

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥'

इत्यादौ निराकारं वस्तु व्यपदिष्टं, विश्वरूपदर्शनानन्तरं च—

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥'

इति साकारं वस्तु । उभयोश्च भगवदुपदेशयोरधिकारिभेदेनैव व्यवस्थया भवितव्यमन्यथा विरोधात् । तत्रैवं सति मया मुमुक्षुणा किं निराकारमेव वस्तु चिन्तनीयं किं वा साकारमिति स्वाधिकारनिश्चयाय सगुणनिर्गुणविद्ययोर्विशेषवुभुत्सया—

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

(२) एवं मत्कर्मकृदित्याद्यनन्तरोक्तप्रकारेण सततयुक्ता नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ सावधानतया प्रवृत्ता भक्ताः साकारवस्त्वेकशरणाः सन्तस्त्वामेवंविधं साकारं ये पर्युपासते सततं चिन्तयन्ति ।

(१) पिछले अध्यायके अन्तमें 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव' ऐसा कहा है। इसमें 'मत्' (मेरा) शब्दके अर्थके विषयमें सन्देह होता है कि भगवान्‌ने 'मत्' शब्दसे सर्वस्वरूप निराकार वस्तु ही कही है अथवा साकार ? क्योंकि इस शब्दका दोनों अर्थोंमें प्रयोग देखा जाता है। जैसे 'अनेकों जन्मोंके पश्चात् ज्ञानवान् होनेपर जीव 'यह सब वासुदेव है' इस प्रकार मुझे प्राप्त करता है। ऐसा महात्मा मिलना अत्यन्त कठिन है' इत्यादि कथनमें निराकार वस्तु कही गयी है तथा विश्वरूप दिखानेके पश्चात् 'तुमने मुझे जिस प्रकार देखा है उस प्रकार मेरा दर्शन न तो वेदोंसे हो सकता है, न तपसे हो सकता है, न दानसे हो सकता है और न यज्ञसे ही हो सकता है' इस स्थानमें साकार वस्तुका उल्लेख हुआ है। भगवान्‌के ये दोनों उपदेश अधिकारि-भेदसे ही व्यवस्थापूर्वक हो सकते हैं, नहीं तो इनमें विरोध रहेगा। ऐसी स्थितिमें मैं जो मुमुक्षु हूँ उसे निराकार वस्तुका ही चिन्तन करना चाहिये अथवा साकारका—इस प्रकार अपने अधिकारका निश्चय करनेके लिये सगुण और निर्गुण विद्याओंका अन्तर समझनेकी इच्छासे—

[श्लोकार्थः—अर्जुनने कहा—इस प्रकार जो भक्त निरन्तर योगयुक्त रहकर साकार रूप आपकी उपासना करते हैं और जो अविनाशी अव्यक्त (निराकार) ब्रह्मके उपासक हैं उनमेंसे योगवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ? ॥ १ ॥]

(२) [अर्जुनने कहा—] इस प्रकार 'मत्कर्मकृत्' इत्यादि अभी बताये हुए प्रकारसे सततयुक्त—भगवत्कर्म इत्यादिमें निरन्तर सावधानीसे प्रवृत्त जो भक्तजन—

ये चापि सर्वतो विरक्तास्त्यक्तसर्वकर्माणोऽक्षरं न क्षरत्यश्नुते वेत्यक्षरम् 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' इत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धसर्वोपाधि निर्गुणं ब्रह्म । अत एवाव्यक्तं सर्वकरणागोचरं निराकारं त्वां पर्युपासते तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमा अतिशयेन योगविदः, योगं समाधिं विन्दन्ति विदन्तीति वा योगविद उभयेऽपि । तेषां मध्ये के श्रेष्ठा योगिनः केषां ज्ञानं मयाऽनुसरणीयमित्यर्थः ॥ १ ॥

(१) तत्र सर्वज्ञो भगवानर्जुनस्य सगुणविद्यायामेवाधिकारं पश्यंस्तं प्रति तां विधास्यति यथाधिकारं तारतम्योपेतानि च साधनानि । अतः प्रथमं साकारब्रह्मविद्यां प्ररोचयितुं स्तुवन्प्रथमाः श्रेष्ठा इत्युत्तरम्—

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

(२) मयि भगवति वासुदेवे परमेश्वरे सगुणे ब्रह्मणि मन आवेश्यानन्यशरणतया निरतिशयप्रियतया च प्रवेश्य हिङ्गुलरङ्ग इव जतु तन्मयं कृत्वा ये मां सर्वयोगेश्वराणामीश्वरं सर्वज्ञं समस्तकल्याणगुणनिलयं साकारं नित्ययुक्ताः सततोद्युक्ताः श्रद्धया परया प्रकृष्टया सात्त्विक्योपेताः सन्त उपासते सदा चिन्तयन्ति ते युक्ततमा मे मम मता अभिप्रेताः । ते हि सदा मदासक्तचित्ततया

एकमात्र साकार वस्तुका ही आश्रय लेनेवाले होकर ऐसे अर्थात् साकाररूप आपकी सब प्रकार उपासना—निरन्तर चिन्तन करते हैं और जो सब ओरसे विरक्त तथा सम्पूर्ण कर्मोंके त्यागी होकर अक्षर—जिसका क्षय नहीं होता अथवा जो व्याप्त हो जाता है ऐसे अक्षर अथवा 'गार्गि ! उस इस अक्षरको ही ब्रह्मवेत्ता अस्थूल, अनणु, अह्रस्व और अदीर्घ कहते हैं' इत्यादि श्रुतिने जिसकी समस्त उपाधियोंका निषेध किया है ऐसे निर्गुण ब्रह्मकी, अतः अव्यक्त अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके अविषय निराकाररूप आपकी सबप्रकार उपासना करते हैं, उन दोनोंमें श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन हैं ? जो अतिशय योगविद् हो अथवा जो योग—समाधिका अनुभव करता हो वे दोनों ही योगवेत्ता कहे जाते हैं उन दोनोंमें श्रेष्ठ योगी कौन-से हैं । तात्पर्य यह है कि मुझे किनके ज्ञानका अनुसरण करना चाहिये ॥ १ ॥

(१) अब सगुण विद्यामें ही अर्जुनका अधिकार देखकर सर्वज्ञ भगवान् उनके लिये उसीका विधान करेंगे तथा अधिकारके अनुसार तारतम्यसे उसके साधनोंका भी निरूपण करेंगे । अतः पहले साकार ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये उसकी स्तुति करते हुए 'इनमें पहले ही श्रेष्ठ हैं' ऐसा उत्तर—

[श्लोकार्थः—श्रीभगवान्‌ने कहा—जो लोग सर्वदा मेरेमें चित्त लगाकर निरन्तर प्रयत्न करते हुए अत्यन्त श्रद्धासम्पन्न होकर मेरी उपासना करते हैं उन्हें मैं सबसे श्रेष्ठ योगवेत्ता मानता हूँ ॥ २ ॥]

(२) [श्रीभगवान्‌ने कहा—] मुझ भगवान् वासुदेव परमेश्वर सगुण ब्रह्ममें मन लगाकर—अनन्य शरणरूप और अत्यन्त प्रिय होनेके कारण उसमें प्रविष्ट कर अर्थात् हिंगुलके रंगमें लाखके समान तन्मय कर जो नित्ययुक्त—निरन्तर प्रयत्नशील होकर परा—प्रकृष्ट अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धासे युक्त होकर मेरी उपासना करते हैं—सर्वदा मेरा चिन्तन करते हैं उन्हें 'मैं' युक्ततम मानता—समझता हूँ । सर्वदा मेरेमें ही आसक्तचित्त

मामेव विषयान्तरविमुखाश्चिन्तयन्तोऽहोरात्राण्यतिवाहयन्ति । अतस्त एव युक्ततमा मता अभिमताः ॥ २ ॥

(१) निर्गुणब्रह्मविदपेक्षया सगुणब्रह्मविदां कोऽतिशयो येन त एव युक्ततमास्तवाभिमता इत्यपेक्षायां तमतिशयं वक्तुं तन्निरूपकान्निर्गुणब्रह्मविदः प्रस्तौति द्वाभ्याम्—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

(२) येऽक्षरं मामुपासते तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्तीति द्वितीयगतेनान्वयः । पूर्वेभ्यो वैलक्षण्यद्योतनाय तुशब्दः । अक्षरं निर्विशेषं ब्रह्म वाचक्नवीब्राह्मणे प्रसिद्धं तस्य समर्पणाय सप्त विशेषणानि । अनिर्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यं यतोऽव्यक्तं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तैर्जातिगुणक्रियासंबन्धैरहितम् । जातिं गुणं क्रियां संबन्धं वा द्वारीकृत्य शब्दप्रवृत्तेर्निर्विशेषे प्रवृत्त्ययोगात् । कुतो जात्यादिरहित्यमत आह सर्वत्रगं सर्वव्यापि सर्वकारणम् । अतो जात्यादिशून्यं परिच्छिन्नस्य कार्यस्यैव जात्यादियोगदर्शनात्, आकाशादीनामपि कार्यत्वाभ्युपगमाच्च । अत एवाचिन्त्यं शब्दवृत्तेरिव मनोवृत्तेरपि न

रहनेके कारण वे अन्य विषयोंसे विमुख होकर मेरा ही चिन्तन करते हुए अपने दिन-रात बिताते हैं । इसलिये उन्हें ही मैं युक्ततम मानता हूँ ॥ २ ॥

(१) 'निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंकी अपेक्षा सगुण ब्रह्मके उपासकोंमें ऐसी क्या विशेषता है, जो वे ही युक्ततम हैं और उन्हींके आप विशेष मानते हैं' ऐसी अर्जुनकी ओरसे आशङ्का करके उ (विशेषताको बतानेके लिये, जिनकी अपेक्षा उन्हें विशेष बताना है उन निर्गुण-ब्रह्मोपासकोंकी दो श्लोकोंसे स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थः—जो लोग इन्द्रियोंके समूहको रोककर, सर्वत्र समान बुद्धि रखकर, और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर होकर शब्दसे कथन करनेके अयोग्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, अज्ञान और उसके कार्यके अधिष्ठानभूत, निर्विकार और नित्य निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३-४ ॥]

(२) जो अक्षर ब्रह्मरूप मेरी उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं—इस प्रकार इसका दूसरे श्लोकके क्रियापदसे सम्बन्ध है । पहली कोटिके उपासकोंसे इनकी भिन्नता दिखानेके लिये 'तु' शब्द दिया है । अक्षर—निर्विशेष ब्रह्म, जो बृहदारण्यकोपनिषद्‌के वाचक्नवी ब्राह्मणमें प्रसिद्ध है, उसे समर्पित करनेके लिये सात विशेषण दिये जाते हैं—१. अनिर्देश्य—शब्दसे कथन करनेके लिये अशक्य, क्योंकि २. अव्यक्त—शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तभूत जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्धसे रहित हैं, कारण कि शब्दकी प्रवृत्ति तो जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्धको द्वार बनाकर ही होती है । जाति आदिसे रहित क्यों है ? इसपर कहते हैं—३. सर्वत्रग—सर्वव्यापी अर्थात् सबका कारण है, इसलिये जाति आदिसे रहित है, क्योंकि परिच्छिन्न कार्यवर्गसे ही जाति आदिका योग देखा जाता है तथा आकाशादिको भी कार्य ही माना गया है । इसीसे ४. जो अचिन्त्य—शब्दवृत्तिके समान मनोवृत्तिका भी विषय नहीं है, क्योंकि वह भी

विषयः, तस्या अपि परिच्छिन्नविषयत्वात् । 'यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः ।

(१) तर्हि कथं 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इति च श्रुतिः । 'शास्त्रयोनित्वात्' इति सूत्रं च ।

(२) उच्यते, अविद्याकल्पितसंबन्धेन शब्दजन्यायां बुद्धिवृत्तौ चरमायां परमानन्दबोधरूपे शुद्धे वस्तुनि प्रतिबिम्बितेऽविद्यातत्कार्ययोः कल्पितयोर्निवृत्युपपत्तेरुपचारेण विषयत्वाभिधानात् । अतस्तत्र कल्पितमविद्यासंबन्धं प्रतिपादयितुमाह—कूटस्थं, यन्मिथ्याभूतं सत्यतया प्रतीयते तत्कूटमिति लोकैरुच्यते । यथा कूटकार्षापणः कूटसाक्षित्वमित्यादौ । अज्ञानमपि मायाख्यं सह कार्यप्रपञ्चेन मिथ्याभूतमपि लौकिकैः सत्यतया प्रतीयमानं कूटं तस्मिन्नध्यासिकेन संबन्धेनाधिष्ठानतया तिष्ठतीति कूटस्थमज्ञानतत्कार्याधिष्ठानमित्यर्थः । एतेन सर्वानुपपत्तिपरिहारः कृतः । अत एव सर्वविकाराणामविद्याकल्पितत्वात्तद्धिष्ठानं साक्षिचैतन्यं निर्विकारमित्याह—अचलं, चलनं विकारः । अचलत्वादेव ध्रुवमपरिणामि नित्यम् । एतादृशं शुद्धं ब्रह्म मां पर्युपासते श्रवणेन प्रमाणगतामसंभावनामपोह्य मननेन च प्रमेयगतामनन्तरं विपरीतभावनानिवृत्तये ध्यायन्ति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण तैलधारावदविच्छिन्नसमानप्रत्ययप्रवाहेण निदिध्यासनसंज्ञकेन ध्यानेन विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

(३) कथं पुनर्विषयेन्द्रियसंयोगे सति विजातीयप्रत्ययतिरस्कारोऽत आह—संनियम्य स्वविषयेभ्य उपसंहृत्येन्द्रियग्रामं करणसमुदायम् । एतेन शमदमादिसंपत्तिरुक्ता ।

परिच्छिन्न वस्तु को ही विषय करनेवाली है; जैसा कि 'जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है' इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

(१) शंका—तो फिर 'उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ' 'तीव्र बुद्धिसे ही देखा जाता है' ये श्रुतियाँ और 'शास्त्रका कारण होनेसे' यह सूत्र क्यों हैं ?

(२) समाधान—बताते हैं, शब्दसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिकी चरमवृत्तिमें अविद्याकल्पित सम्बन्धसे परमानन्दबोधस्वरूप शुद्ध वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़नेसे अविद्या और उसके कल्पित कार्यकी निवृत्ति होनी सम्भव है, अतः उपचारसे ब्रह्मको शास्त्र या तीव्र बुद्धिका विषय कहा गया है । इसलिये उसके साथ अविद्याके कल्पित सम्बन्धका प्रतिपादन करनेके लिये कहते हैं—५. कूटस्थ—जो मिथ्या वस्तु सत्यरूपसे प्रतीत होती है उसे लोग 'कूट' कहते हैं; जैसे—कूटकार्षापण (खोटा सिक्का) कूटसाक्षित्व (झूठी गवाही) आदि शब्दोंमें । अपने कार्यभूत प्रपञ्चके सहित मायासंज्ञक अज्ञान भी मिथ्या होते हुए लौकिक पुरुषों को सत्यरूपसे प्रतीत होता है, इसलिये यह कूट है । इसमें आध्यात्मिक सम्बन्धसे अधिष्ठानरूपसे स्थित है, इसलिये कूटस्थ, अर्थात् अज्ञान और उसके कार्यका अधिष्ठान है । इससे सब प्रकारकी अनुपपत्तियोंका परिहारकर दिया गया है । अतः समस्त विकार अविद्याकल्पित होनेके कारण उनका अधिष्ठानभूत साक्षी चैतन्य निर्विकार है—ऐसा कहते हैं—६. जो अचल है—चलन विकार है [उससे रहित] तथा अचल होनेके कारण ही जो ७. ध्रुव—अपरिणामी अर्थात् नित्य है । जो ऐसे शुद्ध ब्रह्म मेरी उपासना करते हैं—जो श्रवणके द्वारा प्रमाणगत सन्देहकी निवृत्ति करके और मननसे प्रमेयगत संशयको दूर करके विपरीत भावनाकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मका ध्यान करते हैं, अर्थात् जो विजातीय वृत्तिके तिरस्कारपूर्वक तैलधाराके समान अविच्छिन्न समान प्रत्ययके प्रवाहरूप निदिध्यासन संज्ञक ध्यानसे उसे विषय करते हैं ।

(३) किन्तु विषय और इन्द्रियोंका संग रहते हुए विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—इन्द्रियग्राम यानी करणसमूहको सन्नियत—अपने विषयोंसे निवृत्त करके । इससे शम-दमादि सम्पत्तिका निरूपण किया गया है ।

(१) विषयभोगवासनायां सत्यां कुत इन्द्रियाणां ततो निवृत्तिस्तत्राऽऽह—सर्वत्र विषये समा तुल्या हर्षविषादाभ्यां रागद्वेषाभ्यां च रहिता मतिर्येषां सम्यग्ज्ञानेन तत्कारणस्याज्ञानस्यापनीतत्वाद्विषयेषु दोषदर्शनाभ्यासेन स्पृहाया निरसनाच्च ते सर्वत्र समबुद्धयः । एतेन वशीकारसंज्ञा वैराग्यमुक्तम् । अत एव सर्वत्राऽऽत्मदृष्ट्या हिंसाकारणद्वेषरहितत्वात्सर्वभूतहिते रताः 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इति मन्त्रेण दत्तसर्वभूताभयदक्षिणाः कृतसंन्यासा इति यावत् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा संन्यासमाचरेत्' इति स्मृतेः । एवंविधाः सर्वसाधनसंपन्नाः सन्तः स्वयं ब्रह्मभूता निर्विचिकित्सेन साक्षात्कारेण सर्वसाधनफलभूतेन मामक्षरं ब्रह्मैव ते प्राप्नुवन्ति, पूर्वमपि मद्रूपा एव सन्तोऽविद्यानिवृत्त्या मद्रूपा एव तिष्ठन्तीत्यर्थः । 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति', 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिभ्यः । इहापि च 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतमि'त्युक्तम् ॥ ४ ॥

(२) इदानीमेतेभ्यः पूर्वेषामतिशयं दर्शयन्नाह—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

(३) पूर्वेषामपि विषयेभ्य आहृत्य सगुणे ब्रह्मणि मनआवेशे सततं तत्कर्मपरायणत्वे च परश्रद्धोपेतत्वे च क्लेशोऽधिको भवत्येव । किं तु अव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणब्रह्मचिन्तनपराणां तेषां

---

(१) किन्तु विषयभोगकी वासना रहते हुए इन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—जिनकी विषयमें सर्वत्र समान—तुल्य, अर्थात् हर्ष और विषाद तथा राग और द्वेषसे रहित बुद्धि है, सम्यग् ज्ञानके द्वारा उस (विषमता) के कारणभूत अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे तथा विषयोंमें दोषदर्शनके अभ्याससे इच्छा न रहनेसे वे सर्वत्र समबुद्धि होते हैं । इससे वशीकारसंज्ञा वैराग्यका निरूपण किया गया । अतः सर्वत्र आत्मदृष्टि होनेसे हिंसाके निमित्तभूत द्वेषसे रहित होनेके कारण जो सब प्राणियोंके हितमें तत्पर हैं—जिन्होंने 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा' इस मन्त्र द्वारा समस्त प्राणियोंको अभयरूप दक्षिणा दे दी है, अर्थात् जो 'समस्त भूतोंको अभयदान करके संन्यास करे' इस स्मृतिके अनुसार संन्यास कर चुके हैं । इस प्रकारके निर्गुणोपासक सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न हो स्वयं ब्रह्मभूत होकर समस्त साधनोंके फलभूत निःसन्दिग्ध साक्षात्कारके द्वारा मुझ अक्षर ब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं; अर्थात् पहले भी मेरे ही स्वरूप रहते हुए वे अविद्याकी निवृत्तिद्वारा मद्रूप हुए ही स्थित रहते हैं । यह बात 'ब्रह्मरूप रहते हुए ही ब्रह्मको प्राप्त होता है' 'ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है' इन श्रुतियोंसे भी प्रमाणित होती है तथा इस ग्रन्थमें भी 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है' इस प्रकार कही गयी है ॥ ३-४ ॥

(२) अब इनकी अपेक्षा पहली कोटिके भक्तोंकी श्रेष्ठता दिखाते हुए कहते हैं—

[श्लोकार्थः—उन अव्यक्त ब्रह्ममें आसक्तचित्त उपासकोंको बहुत अधिक कठिनाईका सामना करना पड़ता है, क्योंकि देहाभिमानी जीवोंको अव्यक्त गति बड़ी कठिनतासे मिलती है ॥ ५ ॥]

(३) पहले उपासकोंको भी चित्तको विषयोंसे हटाकर सगुण ब्रह्ममें लगाते हुए निरन्तर कर्मपरायण रहने तथा अत्यन्त श्रद्धायुक्त रहनेमें बहुत कठिनता होती ही है किन्तु जिनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त है उन निर्गुण ब्रह्म-चिन्तनमें लगे हुए पूर्वोक्त साधनोंवाले उपासकोंको तो और भी अधिक कठिनता होती है । इस विषयमें भगवान्

पूर्वोक्तसाधनवतां क्लेश आयासोऽधिकतरोऽतिशयेनाधिकः। अत्र स्वयमेव हेतुमाह भगवान्—अव्यक्ता हि गतिः, हि यस्मादव्यक्तात्मकं गन्तव्यं फलभूतं ब्रह्म दुःखं यथा स्यात्तथा कृच्छ्रेण देहवद्भिर्देहमानिभिरवाप्यते। सर्वकर्मसंन्यासं कृत्वा गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यानां तेन तेन विचारेण तत्तद्भ्रमनिरासकरणे महान्प्रयासः प्रत्यक्षसिद्धस्ततः क्लेशोऽधिकतरस्तेषामित्युक्तम्। यद्यप्येकमेव फलं तथाऽपि ये दुष्करेणोपायेन प्राप्नुवन्ति तद्पेक्षया सुकरेणोपायेन प्राप्नुवन्तो भवन्ति श्रेष्ठा इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

(१) ननु फलैक्ये क्लेशाल्पत्वाधिक्याभ्यामुत्कर्षनिकर्षौ स्यातां, तदेव तु नास्ति निर्गुणब्रह्मविदां हि फलमविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या निर्विशेषपरमानन्दबोधब्रह्मरूपता, सगुणब्रह्मविदां त्वधिष्ठानप्रमाया अभावेनाविद्यानिवृत्त्यभावादैश्वर्यविशेषः कार्यब्रह्मलोकगतानां फलम्। अतः फलाधिक्यार्थमायासाधिक्यं न न्यूनतामापादयतीति चेत्।

(२) न, सगुणोपासनया निरस्तसर्वप्रतिबन्धानां विना गुरूपदेशं विना च श्रवणमननिदिध्यासनाद्यावृत्तिक्लेशं स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तवाक्येनेश्वरप्रसादसहकृतेन तत्त्वज्ञानोदयादविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या ब्रह्मलोक एवैश्वर्यभोगान्ते निर्गुणब्रह्मविद्याफलपरमकैवल्योपपत्तेः। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति श्रुतेः स प्राप्तहिरण्यगर्भैश्वर्यो भोगान्त एतस्माज्जीवघनात्सर्वजीवसमष्टिरूपात्परात्क्षेष्ठाद्धिरण्यगर्भात्परं विलक्षणं श्रेष्ठं च पुरिशयं स्वहृदयगुहानिविष्टं पुरुषं पूर्णं प्रत्यगभिन्नमद्वितीयं परमात्मानमीक्षते स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तप्रमाणेन साक्षात्करोति. तावता च मुक्तो भवतीस्वयं ही कारण बताते हैं—'अव्यक्ता हि गतिः'—'हि'—क्योंकि अक्षरात्मक प्राप्तव्य—फलभूत ब्रह्म देहवानों—देहाभिमानियोंको दुःखसे—कठिनतासे प्राप्त होता है। सम्पूर्ण कर्मोंका संन्यास करके गुरुके समीप जाकर वेदान्तवाक्योंके उस-उस विचारसे उस-उस भ्रमकी निवृत्ति करनेमें महान् क्लेश होना प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है, इसीसे यह कहा गया है कि उन्हें अधिक क्लेश होता है। यद्यपि फलतो एक ही है, तथापि जो उसे दुष्कर उपायद्वारा प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा उसे सुगम उपायसे प्राप्त करनेवाले श्रेष्ठ हैं—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ५ ॥

(१) शंका—फलकी एकता होनेपर क्लेशकी अल्पता और अधिकता होनेके कारण इनकी उत्कृष्टता और निकृष्टता हो—इतनी ही बात नहीं है, अपितु निर्गुण ब्रह्मोपासकोंका फल तो अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति द्वारा निर्विशेष परमानन्द बोधब्रह्मस्वरूपता है तथा सगुण ब्रह्मोपासकोंको अधिष्ठानका ज्ञान न होनेसे अविद्याकी निवृत्ति न होनेके कारण कार्य ब्रह्मके लोकमें जाकर ऐश्वर्यविशेषरूप फल ही मिलता है। इसलिये फलकी अधिकताके लिये किया जानेवाला अधिक परिश्रम उस उपासना की न्यूनता नहीं कर सकता।

(२) समाधान—ऐसी बात नहीं है। सगुणोपासना के द्वारा जिनके सब प्रतिबन्ध दूर हो गये हैं, उन्हें बिना गुरुके उपदेशके तथा बिना श्रवण मनन निदिध्यासनादि अभ्यासोंके क्लेशके ईश्वरकृपाके सहित स्वयं प्रत्यक्ष हुए वेदान्तवाक्यद्वारा तत्त्वज्ञानका उदय हो जानेसे अविद्या और उसके कार्यकी निवृत्ति होकर ब्रह्मलोकका ऐश्वर्य भोगनेके पश्चात् निर्गुणोपासनाका फल परम कैवल्य मिल सकता है। 'स एतस्माज्जीवघनात्परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इस श्रुतिके अनुसार जिसे हिरण्यगर्भका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है वह पुरुष भोगकी समाप्ति होनेपर इस पर—श्रेष्ठ जीवघनसे—समस्त जीवोंके समष्टिरूप हिरण्यगर्भसे पर—विलक्षण और श्रेष्ठ पुरिशय—अपनी हृदयगुहामें निहित पुरुषको—पूर्ण, अर्थात् प्रत्यगभिन्न अद्वितीय परमात्माको देखता है—स्वयं अनुभव हुए वेदान्त-प्रमाणसे

त्यर्थः। तथा च विनाऽपि प्रागुक्तक्लेशेन सगुणब्रह्मविदामीश्वरप्रसादेन निर्गुणब्रह्मविद्याफलप्राप्तिरितीममर्थमाह द्वाभ्याम्—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

(१) तुशब्द उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थः। ये सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य सगुणे वासुदेवे समर्प्य मत्परा अहं भगवान्वासुदेव एव परः-प्रकृष्टः प्रीतिविषयो येषां ते तथा सन्तोऽनन्येनैव योगेन न विद्यते मां भगवन्तं मुक्त्वाऽन्यदालम्बनं यस्य तादृशेनैव योगेन समाधिनैकान्तभक्तियोगापरनाम्ना मां भगवन्तं वासुदेवं सकलसौन्दर्यसारनिधानमानन्दघनविग्रहं द्विभुजं चतुर्भुजं वा समस्तजनमनोमोहिनीं मुरलीमतिमनोहरैः सप्तभिः स्वरैरापूरयन्तं वा दरकमलकौमोदकीरथाङ्गसङ्गिपाणिपल्लवं वा नरसिंहराघवादिरूपं वा यथादर्शितविश्वरूपं वा ध्यायन्तश्चिन्तयन्त उपासते समानाकारमविच्छिन्नं चित्तवृत्तिप्रवाहं संतन्वते समीपवर्तितयाऽऽसते तिष्ठन्ति वा तेषां मय्यावेशितचेतसां मयि यथोक्त आवेशितमेकाग्रतया प्रवेशितं चेतो यैस्तेषामहं सततोपासितो भगवान्मृत्युसंसारसागरान्मृत्युयुक्तो यः संसारो मिथ्याज्ञानतत्कार्यप्रपञ्चः स एव सागर इव दुरुत्तरस्तस्मात्समुद्धर्ता सम्यग्ज्ञानायासेनोद्धर्ता सर्वबाधाव-

उसका साक्षात्कार करता है; अर्थात् उतनेहीसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार पहले बताये हुए क्लेशके बिना भी सगुण ब्रह्मवेत्ताओंको ईश्वरकी कृपासे निर्गुण ब्रह्मविद्याके फलकी प्राप्ति हो जाती है—इसी बातको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

[श्लोकार्थः—किन्तु जो सम्पूर्ण कर्मोंको मुझे अर्पण कर मेरे प्रति ही तत्पर रह अनन्य-भावरूप योगसे मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे अर्जुन! मेरेमें चित्त लगानेवाले उन उपासकोंका इस मृत्युरूप संसार-सागरसे तत्काल उद्धार करनेवाला मैं होता हूँ ॥ ६-७ ॥]

(१) 'तु' शब्द पूर्वोक्त शंकाकी निवृत्तिके लिये है। जो समस्त कर्म मुझ सगुण वासुदेवको समर्पण कर मत्पर रहते हैं—मैं भगवान् वासुदेव ही जिनके लिये पर—उत्कृष्ट प्रीतिका विषय हूँ, ऐसे रहते हैं तथा अनन्य ही योगसे—मुझ भगवान्को छोड़कर जिसका कोई और आलम्बन नहीं है ऐसे ही योगसे—समाधिसे, जिसका दूसरा नाम एकान्त-भक्तियोग है, सकलसौन्दर्यसारनिधि, आनन्दघनमूर्ति, द्विभुज या चतुर्भुज, समस्त जीवोंके मनको मोहित करनेवाली अत्यन्त मनोहर मुरलीको सात स्वरोंसे बजाते हुए अथवा करकमलों में शंख, पद्म कौमोदकी गदा और चक्र धारण करनेवाले भगवान् वासुदेवरूप मेरा अथवा मेरे नरसिंह और राघवादि रूपका अथवा जैसा कि तुम्हें दिखाया है, उस विराट् रूपका ध्यान—चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं—सजातीय-प्रत्ययाकार अविच्छिन्न चित्तवृत्तियोंका प्रवाह चलाते अथवा मेरे समीपवर्ती होकर 'आसते'—बैठते हैं उन मय्यावेशितचेताओंका—उपर्युक्त रूपोंवाले मेरेमें जिन्होंने अपने चित्तको आविष्ट—एकाग्रतया प्रविष्ट कर दिया है उनका उनसे निरन्तर उपासित मैं भगवान् मृत्युयुक्त संसारसागरसे—मृत्युयुक्त जो संसार, अर्थात् मिथ्या अज्ञान और उसका कार्यभूत प्रपञ्च है वही है सागरके समान दुस्तर उससे नचिरात्—शीघ्र ही अर्थात् उसी जन्ममें ज्ञानका

धिभूते शुद्धे ब्रह्मणि धर्ता धारयिता ज्ञानावष्टम्भदानेन भवामि नचिराच्छ्रिप्रमेव तस्मिन्नेव जन्मनि, हे पार्थेति संबोधनमाश्वासार्थम् ॥ ६-७ ॥

(१) तदेवमियता प्रबन्धेन सगुणोपासनां स्तुत्वेदानीं विधत्ते—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

(२) मय्येव सगुणे ब्रह्मणि मनः संकल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व स्थापय सर्वा मनोवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु । एवकारानुषङ्गेण मय्येव बुद्धिमध्यवसायलक्षणां निवेशय, सर्वा बुद्धिवृत्तीर्मद्विषया एव कुरु, विषयान्तरपरित्यागेन सर्वदा मां चिन्तयेत्यर्थः । ततः किं स्यादित्यत आह—निवसिष्यसि निवत्स्यसि लब्धज्ञानः सन्मदात्मना मय्येव शुद्धे ब्रह्मण्येवात ऊर्ध्वमेतद्देहान्ते न संशयो नात्र प्रतिबन्धशङ्का कर्तव्येत्यर्थः । एव अत ऊर्ध्वमित्यत्र संध्यभावः श्लोकपूरणार्थः ॥ ८ ॥

(३) इदानीं सगुणब्रह्मध्यानाशक्तानामशक्तितारतम्येन प्रथमं प्रतिमादौ बाह्ये भगवद्ध्यानाभ्यासस्तदशक्तौ भागवतधर्मानुष्ठानं तदशक्तौ सर्वकर्मफलत्याग इति त्रीणि साधनानि त्रिभिः श्लोकैर्विधत्ते—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय ॥ ९ ॥

आश्रय देकर समुद्धत—सम्यक्—विनापरिश्रमके ही उत्—ऊँचे अर्थात् समस्त बाधाओंके अवधिभूत शुद्ध ब्रह्ममें धर्ता—रखनेवाला हो जाता हूँ । 'हे पार्थ !' यह सम्बोधन ढाढस बँधानेके लिये है ॥ ६-७ ॥

(१) इस प्रकार इयत्ताप्रबन्धसे (स्वरूपके दिग्दर्शन द्वारा) सगुणोपासनाकी स्तुतिकर अब उसके सर्वोत्कृष्ट साधनका विधान करते हैं—

[श्लोकार्थः—मेरे ही में मन स्थिर करो, मुझ ही में बुद्धिको जोड़ दो, इससे तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ८ ॥

(२) मुझ सगुण ब्रह्ममें ही अपना संकल्प-विकल्पात्मक मन स्थिर कर दो । समस्त मनोवृत्तियोंको मुझको विषय करनेवाली ही बना दो । 'एवं' शब्दका सम्बन्ध होनेसे मेरे ही में निश्चयात्मिका बुद्धिको नियुक्त करो, अर्थात् बुद्धिकी समस्त वृत्तियोंको मुझे ही विषय करनेवाली बना दो । तात्पर्य यह है कि और सब विषयोंको छोड़कर सर्वदा मेरा ही चिन्तन करो । उससे क्या होगा ? इसपर कहते हैं—'तुम ज्ञान प्राप्त करके इस शरीरका अन्त होनेपर मेरे स्वरूप होकर मुझ शुद्ध ब्रह्ममें ही निवास करोगे—इसमें सन्देह नहीं है, अर्थात् इसमें किसी प्रकारके प्रतिबन्धकी शंका नहीं करनी चाहिये । 'एव अत ऊर्ध्वम्' इसमें श्लोक-पूर्तिके लिये सन्धि नहीं की गयी ।

(१) अब, जो सगुण ब्रह्मका ध्यान करनेमें असमर्थ हैं उनकी असमर्थताके तारतम्यसे पहले प्रतिमादि बाह्य आलम्बनोंमें ध्यानका अभ्यास करना, उसमें असमर्थ होनेपर भागवत धर्मोंका आचरण करना और उसमें भी समर्थ न होनेपर समस्त कर्मफलोंका त्याग करना—इन तीन साधनोंका तीन श्लोकोंसे विधान किया जाता है—

[श्लोकार्थः—हे धनञ्जय ! यदि तुम चित्तको स्थिरतापूर्वक मेरेमें नहीं लगा सकते तो अभ्यास योगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेका यत्न करो ॥ ९ ॥]

(१) अथ पक्षान्तरे स्थिरं यथा स्यात्तथा चित्तं समाधातुं स्थापयितुं मयि न शक्नोषि चेत्तत एकस्मिन्प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य चेतसः पुनः पुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधिस्तेनाभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ यतस्व हे धनञ्जय बहूञ्शत्रूञ्जित्वा धनमाहृतवानसि राजसूयार्थमेकं मनःशत्रुं जित्वा तत्त्वज्ञानधनमाहरिष्यसीति न तवाऽऽश्चर्यमिति संबोधनार्थः ॥ ९ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

(२) मत्प्रीणनार्थं कर्म मत्कर्म श्रवणकीर्तनादिभागवतधर्मस्तत्परमस्तदेकनिष्ठो भव । अभ्यासासामर्थ्ये मदर्थं भागवतधर्मसंज्ञकानि कर्माण्यपि कुर्वन्सिद्धिं ब्रह्मभावलक्षणां सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेणावाप्स्यसि ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

(३) अथ बहिर्विषयाकृष्टचेतस्त्वादेतन्मत्कर्मपरत्वमपि कर्तुं न शक्नोषि ततो मद्योगं मदेकशरणत्वमाश्रितो मयि सर्वकर्मसमर्पणं मद्योगस्तं वाऽऽश्रितः सन्यतात्मवान्यतः संयतसर्वेन्द्रिय आत्मवान्विवेकी च सन्सर्वकर्मफलत्यागं कुरु फलाभिसंधिं त्यजेत्यर्थः ॥ ११ ॥

(१) अथ—पक्षान्तरमें, जिससे कि स्थिर हो जाय इस प्रकार यदि तुम चित्तको मेरेमें समाहित—स्थापित नहीं कर सकते तो अभ्यासयोगके द्वारा—चित्तको सब ओरसे हटाकर प्रतिमा आदि किसी एक आलम्बनमें पुनः पुनः स्थिर करना अभ्यास है उसके सहित जो योग—समाधि है उस अभ्यासयोगके द्वारा मुझे पानेकी इच्छा अर्थात् प्रयत्न करो । हे धनञ्जय !—इस सम्बोधनका तात्पर्य यह है कि तुम राजसूयादिके लिये बहुतसे शत्रुओंको जीतकर धन ले आये थे, इसलिये अब जो अकेले मनरूपी शत्रुको जीतकर तत्त्वज्ञानरूप धन ले आओगे—यह तुम्हारे लिये कोई आश्चर्यकी बात नहीं होगी ॥ ९ ॥

[श्लोकार्थः—यदि तुम अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो तो मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंमें तत्पर हो जाओ । मेरे लिये कर्म करनेसे भी तुम सिद्धि प्राप्तकर लोगे ॥ १० ॥]

(२) मेरी प्रसन्नताके लिये जो कर्म हों वे मत्कर्म कहलाते हैं; अर्थात् श्रवण कीर्तनादि भागवत धर्म तत्परम—एकमात्र उन्हींमें निष्ठा रखनेवाले हो जाओ । अभ्यासमें समर्थ न होनेपर मेरे लिये भागवत धर्म संज्ञक कर्मोंको भी करनेपर तुम अन्तःकरणकी शुद्धि और ज्ञानोत्पत्तिद्वारा ब्रह्मभावरूपा सिद्धि प्राप्तकर लोगे ॥ १० ॥

[श्लोकार्थः—और यदि तुम ऐसा करनेमें भी असमर्थ हो तो मेरेको सर्वकर्मसमर्पणरूप योगका आश्रय ले इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते हुए विवेक सम्पन्न हो समस्त कर्मफलका त्यागकर दो ॥ ११ ॥]

(३) यदि बाह्य विषयोंमें आकृष्टचित्त होनेके कारण तुम यह भगवत्कर्म परत्व करनेमें भी समर्थ नहीं हो तो मद्योग—एकमात्र मेरी शरणताका ही आश्रय ले, अथवा, मुझे सम्पूर्ण कर्मोंको समर्पण कर देना ही मद्योग है, उसका आश्रय लेकर यतात्मवान् यत अर्थात् जिसने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयत कर लिया है और आत्मवान्—विवेकी होकर सर्वकर्मफलत्याग करो अर्थात् फलकी अभिलाषाको त्याग दो ॥ ११ ॥

(१) इदानीमत्रैव साधनविधानपर्यवसानादिमं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

(२) श्रेयः प्रशस्यतरं हि एव ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयोऽभ्यासाज्ज्ञानार्थश्रवणाभ्यासात्, ज्ञानाच्छ्रवणमननपरिनिष्पन्नादपि ध्यानं निदिध्यासनसंज्ञं विशिष्यतेऽतिशयितं भवति साक्षात्कारान्यवहितहेतुत्वात् । तदेवं सर्वसाधनश्रेष्ठं ध्यानं ततोऽप्यतिशयितत्वेनाज्ञकृतः कर्मफलत्यागः स्तूयते ।

(३) ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यत इत्यनुषज्यते । त्यागान्नियतचित्तेन पुंसा कृतात्सर्वकर्मफलत्यागाच्छान्तिरुपशमः सहेतुकस्य संसारस्यानन्तरमव्यवधानेन न तु कालान्तरमपेक्षते । अत्र—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥'

इत्यादिश्रुतिषु 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्'त्यादिस्थितप्रज्ञलक्षणेषु च सर्वकामत्यागस्यामृतत्वसाधनत्वमवगतं, कर्मफलानि च कामास्तत्त्यागोऽपि कामत्यागत्वसामान्यात्सर्वकामत्यागफलेन स्तूयते । यथाऽसस्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति, यथा वा जामदग्न्येन ब्राह्मणेन निःक्षत्रा पृथिवी कृतेति ब्राह्मणत्वसामान्यादिदानींतना अपि ब्राह्मणा अपरिमेयपराक्रमत्वेन स्तूयन्ते तद्वत् ॥ १२ ॥

(१) अब यहीं सम्पूर्ण साधनोंके विधानकी समाप्ति होती है, अतः इस सर्वकर्मफलत्यागकी स्तुति करते हैं—

[श्लोकार्थ :—अभ्यासकी अपेक्षा तो ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान बढ़कर है और ध्यानकी अपेक्षा समस्त कर्मफलोंका त्याग श्रेयस्कर है । कर्मफलोंका त्याग करनेके पश्चात् तुरन्त ही संसार की शान्ति हो जाती है ॥ १२ ॥]

(२) अभ्यास अर्थात् ज्ञानके लिये किये जानेवाले श्रवणके अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान—शब्द (शास्त्रप्रमाण) और युक्तियों द्वारा आत्माका निश्चय कर लेना श्रेयः—प्रशस्यतर है । श्रवण और मननसे प्राप्त हुए ज्ञानकी अपेक्षा भी निदिध्यासनसंज्ञक ध्यान बढ़कर है, क्योंकि वह साक्षात्कारका अव्यवहित (व्यवधानशून्य) कारण है । इसप्रकार ध्यान सब साधनोंसे श्रेष्ठ है किन्तु उससे भी श्रेष्ठ बताकर अज्ञानीके किये हुए कर्मफलत्यागकी स्तुति की जाती है ।

(३) ध्यानसे कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है—इस प्रकार इसका सम्बन्ध है । त्यागसे अर्थात् संयतचित्त पुरुषके द्वारा कियेहुए सम्पूर्ण कर्मफलोंके त्यागसे अनन्तर—बिना व्यवधानके हेतुसहित संसारकी शान्ति हो जाती है, फिर उसे कालान्तरकी अपेक्षा नहीं होती । यहाँ 'जिस समय इसके हृदयमें स्थित सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं तो यह मरणधर्मा अमर हो जाता है, इसी स्थानपर उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है' इत्यादि श्रुतियोंमें और 'जिस समय यह समस्त कामनाओंको त्याग देता है' इत्यादि स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें सर्वकामत्यागकी अमृतत्वसाधनता ज्ञात होती है । कर्मफल ही काम हैं, अतः उनके त्यागकी भी कामत्यागत्वमें समानता होनेके कारण कामत्यागके फलरूपसे स्तुतिकी जाती है; जिस प्रकार अगस्त्य ब्राह्मणने समुद्रको पी लिया था तथा परशुराम ब्राह्मणने पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहितकर दिया था, इसलिये ब्राह्मणत्वमें समानता होनेके कारण आजकलके ब्राह्मणोंकी भी असीम पराक्रमता बताकर स्तुतिकी जाती है उसी प्रकार [यह कार्यफलत्यागकी भी स्तुति की गयी है] ॥ १२ ॥

(१) तदेवं मन्दमधिकारिणं प्रत्यतिदुष्करत्वेनाक्षरोपासननिन्दया सुकरं सगुणोपासनं विधायाशक्तितारतम्यानुवादेनान्यान्यपि साधनानि विदधौ भगवान्वासुदेवः कथं नु नाम सर्वप्रतिबन्धरहितः सन्नुत्तमाधिकारितया फलभूतायामक्षरविद्यायामवतरेदित्यभिप्रायेण साधनविधानस्य फलार्थत्वात् । तदुक्तम्—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः । ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् । तदेवाऽऽविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥' इति ।

(२) भगवता पतञ्जलिना चोक्तं—'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति । 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' इति च । तत इतीश्वरप्रणिधानादित्यर्थः । तदेवमक्षरोपासननिन्दा सगुणोपासनस्तुतये न तु हेयतया, उदितहोमविधावनुदितहोमनिन्दावत्, 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्ततेऽपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायात् । तस्मादक्षरोपासका एव परमार्थतो योगवित्तमाः ।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥'

इत्यादिना पुनः पुनः प्रशस्ततमतयोक्तास्तेषामेव ज्ञानं धर्मजातं चानुसरणीयमधिकारमासाद्य त्वयेत्यर्जुनं बुबोधयिषुः परमहितैषी भगवानभेददर्शिनः कृतकृत्यानक्षरोपासकान्प्रस्तौति सप्तभिः—

(१) इस प्रकार मन्द अधिकारीके प्रति, अत्यन्त दुष्कर होनेके कारण, अक्षरोपासनाकी निन्दाद्वारा सुगम सगुणोपासनाका विधानकर असमर्थताके तारतम्यका अनुवाद करते हुए भगवान् वासुदेवने दूसरे साधनोंका भी विधान कर दिया है । इसमें उनका अभिप्राय यही है कि किसी तरह वह सब प्रकारके प्रतिबन्धोंसे रहित हो उत्तम अधिकारी होकर सब साधनोंकी फलभूता अक्षरविद्यामें उतर सके, क्योंकि साधनोंका विधान तो फलके लिये ही होता है । ऐसा ही कहा भी है—'जो मन्द अधिकारी निर्विशेष परब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ हैं, ब्रह्मका निरूपण करके उनपर कृपाकी जाती है । इस सगुण ब्रह्मके चिन्तन द्वारा जब इनका मन अपने वशमें हो जाता है तो इन्हें उपाधिकी कल्पनासे रहित साक्षात् उस निर्विशेष ब्रह्मका ही साक्षात्कार हो जाता है ।

(२) भगवान् पतञ्जलिने भी कहा है—'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है' तथा 'उससे प्रत्यक् चेतनाकी प्राप्ति और अन्तरायोंका अभाव होता है ।' उससे अर्थात् ईश्वर-प्रणिधानसे । सूर्योदयके समय होमका विधान करनेके लिये जिस तरह सूर्यका उदय न होनेपर होम करनेकी निन्दा की जाती है वैसे ही यहाँ अक्षरोपासनाकी निन्दा सगुणोपासनाकी स्तुति के लिये की गयी है, उसे हेय बतानेके लिये नहीं । इस विषयमें 'निन्दा जिस वस्तुकी निन्दाकी जाती है उसकी निन्दा करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होती बल्कि जिसका विधान करना होता है उसकी स्तुतिके लिये प्रवृत्त होती है' यह न्याय प्रमाण है । इसलिये वास्तवमें तो अक्षरोपासक ही योगवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं । 'ज्ञानिको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्यारा है ।' 'ये सभी भक्त उदार हैं, किन्तु ज्ञानीको तो मैं आत्मा ही मानता हूँ' इत्यादि वाक्योंसे पुनः पुनः उसे ही श्रेष्ठतया रूपसे कहा है । अतः अर्जुनको यह समझानेकी इच्छासे कि अधिकार प्राप्त करके तुम्हें भी उसी ज्ञान और धर्मसमूहका अनुसरण करना उचित है परम हितैषी श्रीभगवान् 'अद्वेष्टा' इत्यादि सात श्लोकोंद्वारा उन कृतकृत्य अभेददर्शी अक्षरोपासकोंकी ही स्तुति करते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

(१) सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेन पश्यन्नात्मनो दुःखहेतावपि प्रतिकूलबुद्ध्यभावान्न द्वेष्टा सर्वभूतानां किं तु मैत्रो मैत्री स्निग्धता तद्वान् । यतः करुणः करुणा दुःखितेषु दया तद्वान्सर्वभूताभयदाता परमहंसपरिव्राजक इत्यर्थः । निर्ममो देहेऽपि ममेतिप्रत्ययरहितः । निरहंकारो वृत्तस्वाध्यायादिकृताहंकारान्निष्क्रान्तः । द्वेषरागयोरप्रवर्तकत्वेन समे दुःखसुखे यस्य सः । अत एव क्षमी, आक्रोशनताडनादिनाऽपि न विक्रियामापद्यते ॥ १३ ॥

(२) तस्यैव विशेषणान्तराणि—(संतुष्ट इति)

सततं शरीरस्थितिकारणस्य लाभेऽलाभे च संतुष्ट उत्पन्नालंप्रत्ययः । तथा गुणवल्लाभे विपर्यये च । सततमिति सर्वत्र संबध्यते । योगी समाहितचित्तः । यतात्मा संयतशरीरेन्द्रियादिसंघातः । दृढः कुतार्किकैरभिभवितुमशक्यतया स्थिरो निश्चयोऽहमस्म्यकर्त्राभोक्तृसच्चिदानन्दाद्वितीयं ब्रह्मेत्यध्यवसायो यस्य स दृढनिश्चयः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । मयि भगवति वासुदेवे शुद्धे ब्रह्मणि

[श्लोकार्थः—जो सभी प्राणियोंसे द्वेष न करनेवाला, उनकी प्रति-प्रीति रखनेवाला, करुणासे युक्त, ममताशून्य, अहंकारहीन, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान्, निरन्तर सन्तुष्ट, एकाग्रचित्त, शरीर और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, दृढनिश्चयी तथा मेरेमें मन और बुद्धिको समर्पित किये हुए है ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझको प्यारा है ॥ १३-१४ ॥]

(१) समस्त प्राणियोंको आत्मभावसे देखनेके कारण जो अपने दुःखके कारण होनेपर भी समस्त प्राणियोंसे उनमें प्रतिकूलबुद्धि न होनेके कारण, द्वेष नहीं करता; किन्तु मैत्र—मैत्री अर्थात् स्निग्धता उससे युक्त है, क्योंकि करुण है—करुणा अर्थात् दुःखियोंके प्रति दयाभाव उससे युक्त है अर्थात् समस्त प्राणियोंको अभय देनेवाला परमहंस परिव्राजक है । जो निर्मम है—देहमें भी 'यह मेरा है' ऐसे ज्ञानसे रहित है, निरहङ्कार अर्थात् सदाचार और स्वाध्यायादिजनित अहंकारसे अलग है और राग-द्वेषको प्रवृत्त करनेवाले न होनेसे जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं इसीसे जो क्षमी है अर्थात् गाली देने और पीटनेसे भी विकारको प्राप्त नहीं होता ॥ १३ ॥

(२) उसीके दूसरे विशेषण बताते हैं—शरीरकी स्थितिके कारणकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें जो सन्तुष्ट हैं अर्थात् जिसे अलंप्रत्यय (बस, अब नहीं चाहिये—ऐसा ज्ञान) उत्पन्न हो गया है । इसी प्रकार गुणयुक्त वस्तुके मिलने या न मिलने पर भी जिसकी ऐसी ही बुद्धि रहती है । यहाँ 'सततम्' इस अव्ययका सभीके साथ सम्बन्ध है । जो योगी—समाहितचित्त और यतात्मा—शरीर और इन्द्रियादि संघातका संयम करनेवाला है । जिसका दृढ—कुतार्किकोंसे पराभूत न हो सकनेके कारण स्थिर निश्चय अर्थात् 'मैं अकर्ता अभोक्ता सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान है ऐसा जो दृढनिश्चय अर्थात् स्थितप्रज्ञ है; तथा मुझ भगवान् वासुदेवमें—शुद्ध ब्रह्ममें जिसने अपने मन-

अर्पितमनोबुद्धिः समर्पितान्तःकरणः । ईदृशो यो मद्भक्तः शुद्धाक्षरब्रह्मवित्स मे प्रियः मदात्मत्वात् ॥ १४ ॥

(१) पुनस्तस्यैव विशेषणानि—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

(२) यस्मात्सर्वभूताभयदायिनः संन्यासिनो हेतोर्नोद्विजते न संतप्यते लोको यः कश्चिदपि जनः । तथा लोकान्निरपराधोद्वेजनैकव्रतात्खलजनान्नोद्विजते च यः, अद्वैतदर्शित्वात्परमकारुणिकत्वेन क्षमाशीलत्वाच्च । किंच हर्षः स्वस्य प्रियलाभे रोमाञ्चाश्रुपातादिहेतुरानन्दाभिव्यञ्जकश्चित्तवृत्तिविशेषः, अमर्षः परोत्कर्षासहनरूपश्चित्तवृत्तिविशेषः, भयं व्याघ्रादिदर्शनादीनश्चित्तवृत्तिविशेषत्रासः, उद्वेग एकाकी कथं विजने सर्वपरिग्रहशून्यो जीविष्यामीत्येवंविधो व्याकुलतारूपश्चित्तवृत्तिविशेषस्तैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः, अद्वैतदर्शितया तदयोग्यत्वेन तैरेव स्वयं परित्यक्तो न तु तेषां त्यागाय स्वयं व्यापृत इति यावत् । चेन मद्भक्त इत्यनुकृष्यते । ईदृशो मद्भक्तो यः स मे प्रिय इति पूर्ववत् ॥ १५ ॥

(३) किं च—

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

बुद्धिको अर्पित कर दिया है, ऐसा जो मेरेमें अन्तःकरणको समर्पित करनेवाला मेरा भक्त अर्थात् शुद्ध अक्षरब्रह्मका उपासक है वह सर्वदा आत्मस्वरूप होनेके कारण मुझे प्रिय है ॥ १४ ॥

(१) फिर उसके विशेषण बताते हैं—

[श्लोकार्थः—जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता और जो लोकसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, भय और उद्वेगसे रहित है वह मेरा प्यारा है ॥ १५ ॥

(२) जिससे अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अभय देनेवाले संन्यासीरूप हेतुसे लोक—हर कोई पुरुष उद्विग्न—सन्तप्त नहीं होता तथा लोकसे—जिनका निरपराध पुरुषोंको उद्विग्न करना ही एकमात्र व्रत है ऐसे दुष्ट लोगोंसे जो, अद्वैतदर्शी परमकारुणिक और क्षमाशील होनेके कारण, उद्विग्न नहीं होता, तथा जो हर्ष—अपना प्रिय पदार्थ मिलनेपर रोमाञ्च एवं अश्रुपातादि हेतुओंसे आनन्दकी अभिव्यक्त करनेवाली चित्तकी वृत्तिविशेष, अमर्ष—दूसरेकी उन्नतिको न सहनारूप चित्तकी वृत्तिविशेष, भय—व्याघ्रादिके दर्शनसे होनेवाला त्रासरूप चित्तकी वृत्तिविशेष और उद्वेग—'मैं विजन वनमें सब प्रकारके परिग्रहसे रहित होकर अकेला कैसे जीवित रह सकूँगा' इस प्रकारकी व्याकुलतारूप चित्तकी वृत्तिविशेष—इन हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगसे जो मुक्त है—अद्वैतदर्शी होनेसे उनके योग्य न होनेके कारण जिसे स्वयं उन्होंने ही त्याग दिया है अर्थात् उन्हें त्यागनेके लिये जिसने स्वयं कोई व्यापार नहीं किया । दो 'च' शब्दोंसे यो मद्भक्तः' इन पदोंकी अनुवृत्ति होती है । अर्थात् जो मेरा ऐसा भक्त है वह मुझे प्रिय है—ऐसा पूर्ववत् समझना चाहिये ॥ १५ ॥

(३) तथा—

[श्लोकार्थः—जो सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित, पवित्र, चतुर, उदासीन,

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

(१) निरपेक्षः सर्वेषु भोगोपकरणेषु यदृच्छोपनीतेष्वपि निःस्पृहः । शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशौच-संपन्नः । दक्ष उपस्थितेषु ज्ञातव्येषु कर्तव्येषु च सद्य एव ज्ञातुं कर्तुं च समर्थः । उदासीनो न कस्यचिन्मित्रादेः पक्षं भजते यः । गतव्यथः परैस्ताड्यमानस्यापि गता नोत्पन्ना व्यथा पीडा यस्य सः । उत्पन्नायामपि व्यथायामपकर्तृष्वनपकर्तृत्वं क्षमित्वं, व्यथाकारणेषु सत्स्वप्यनुत्पन्नव्यथत्वं गतव्यथत्वमिति भेदः । ऐहिकामुष्मिकफलानि सर्वाणि कर्माणि सर्वारम्भास्तान्परित्यक्तुं शीलं यस्य स सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

(२) किं च—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

(३) समदुःखसुख इत्येतद्विवृणोति—यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ, न द्वेष्टि अनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्राप्तेष्टवियोगे, न काङ्क्षति अप्राप्तेष्टसंयोगे । सर्वारम्भपरित्यागीत्येतद्विवृणोति—शुभाशुभे सुखसाधन-दुःखसाधने कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

व्यथाशून्य और समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला है वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है ॥ १६ ॥]

(१) जो निरपेक्ष है—दैववश भोगकी सम्पूर्ण सामग्रियोंके प्राप्त होनेपर भी उनकी इच्छा नहीं करता, शुचि—बाह्य और आन्तरिक पवित्रतासे सम्पन्न है, दक्ष—जानने और करनेयोग्य विषयोंके उपस्थित होनेपर तत्काल ही उन्हें जानने और करनेमें समर्थ हो जाता है, उदासीन—मित्रादि किसीका भी पक्ष लेनेवाला नहीं है, गतव्यथ—दूसरोंके पीटनेपर भी जिसे व्यथा अर्थात् पीडा उत्पन्न नहीं होती । व्यथा होनेपर भी अपकार न करना क्षमाशील होना है और व्यथाके कारण रहते हुए भी व्यथा न होना गतव्यथता है—यह इन दोनोंमें अन्तर है । लौकिक और अलौकिक फलवाले जितने कर्म हैं वे सब आरम्भ हैं उन्हें त्यागनेका जिसका स्वभाव है ऐसा जो सर्वारम्भपरित्यागी संन्यासी मेरा भक्त है वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥

(२) तथा—

[श्लोकार्थः—जो न हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न किसी वस्तुकी इच्छा करता है तथा जो शुभ और अशुभ दोनोंका त्याग करनेवाला और मुझमें भक्ति रखनेवाला है वह मेरा प्यारा है ॥ १७ ॥]

(३) अब 'समदुःखसुख' इस श्लोकका स्पष्टीकरण कहते हैं—जो इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर हर्षित नहीं होता, अनिष्टकी प्राप्ति होनेपर द्वेष नहीं करता, प्राप्त इष्टका वियोग होनेपर शोक नहीं करता और अप्राप्त इष्टकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता । 'सर्वारम्भ-परित्यागी' इसका स्पष्टीकरण करते हैं—सुख और दुःखके साधनभूत शुभ और अशुभ कर्मोंको त्यागनेका जिसका स्वभाव है वह जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला भक्तिमान् पुरुष है वह मेरा प्यारा है ॥ १७ ॥

(१) किं च—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

(२) पूर्वस्यैव प्रपञ्चः । सङ्गविवर्जितश्चेतनाचेतनसर्वविषयशोभनाध्यासरहितः । सर्वदा हर्ष-विषादशून्य इत्यर्थः । स्पष्टम् ॥ १८ ॥

(३) किं च—

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

(४) निन्दा दोषकथनम् । स्तुतिर्गुणकथनम् । ते दुःखसुखाजनकतया तुल्ये यस्य स तथा । मौनी संयतवाक् । ननु शरीरयात्रानिर्वाहाय वाग्व्यापारोऽपेक्षित एव नेत्याह—संतुष्टो येन केनचित् । स्वप्रयत्नमन्तरेणैव बलवत्प्रारब्धकर्मोपनीतेन शरीरस्थितिहेतुमात्रेणाशनादिना संतुष्टो निवृत्तस्पृहः । किं च—अनिकेतो नियतनिवासरहितः । स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिर्यस्य स स्थिरमतिः । ईदृशो यो भक्तिमान्स मे प्रियो नरः । अत्र पुनः पुनर्भक्तेरुपादानं भक्तिरेवापवर्गस्य पुष्कलं कारणमिति द्रढयितुम् ॥ १९ ॥

(५) अद्वेष्टेत्यादिनाऽक्षरोपासकादीनां जीवन्मुक्तानां संन्यासिनां लक्षणभूतं स्वभावसिद्धं धर्मजातमुक्तम् । यथोक्तं वार्तिके—

---

(१) तथा—

[श्लोकार्थः—जो शत्रु और मित्र तथा मान और अपमानमें समान है, शीत और उष्णमें एवं सुख-दुःखमें समान है तथा रोगहीन है ॥ १८ ॥]

(२) यह पूर्व श्लोकका ही स्पष्टीकरण है । संगविवर्जित—चेतन-अचेतन सभी विषयोंमें रमणीयताके अध्याससे रहित अर्थात् हर्ष और विषादसे सर्वथा रहित । शेष स्पष्ट है ॥ १८ ॥

(३) तथा—

[श्लोकार्थः—जो स्तुति और निन्दामें समान, मौनी, जिस-तिस वस्तुसे सन्तुष्ट, अनिकेत और स्थिरबुद्धि है वह भक्तिमान् पुरुष मेरा प्यारा है ॥ १९ ॥]

(४) निन्दा—दोषकथनको और स्तुति गुणकथन को कहते हैं । वे सुख और दुःखके जनक न होनेसे जिनके लिये समान हैं । मौनी—संयतवाक् । शरीरयात्राके निर्वाहके लिये तो वाणीके व्यापारकी अपेक्षा है ही—ऐसा यदि कहो तो [कहते हैं—] यह बात नहीं है, क्योंकि वह जो कुछ मिल जाय उसीसे सन्तुष्ट रहता है, अर्थात् अपने प्रयत्नके बिना ही बलवान् प्रारब्ध कर्मद्वारा प्राप्त शरीरकी स्थितिमें हेतुमात्र भोजनादिसे सन्तुष्ट अर्थात् स्पृहाशून्य रहता है तथा जो अनिकेत—नियत निवासस्थानसे रहित तथा जिसकी परमार्थ वस्तुविषयक बुद्धि स्थिर है ऐसा जो स्थिरमति है वह भक्तिमान् पुरुष मेरा प्यारा है । यहाँ बार-बार 'भक्ति' शब्दका ग्रहण इस बातको दृढ करनेके लिये है कि भक्ति ही मोक्षका पर्याप्त कारण है ॥ १९ ॥

(५) 'अद्वेष्टा' इत्यादि ग्रन्थसे अक्षरोपासकादि संन्यासियोंके लक्षणस्वरूप स्वभाव-सिद्ध धर्म कहे गये हैं; जैसा कि वार्तिकमें कहा है—जिसे आत्मज्ञान हो गया है उसमें

'उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः ॥' इति ।

एतदेव च पुरा स्थितप्रज्ञलक्षणरूपेणाभिहितम् । तदिदं धर्मजातं प्रयत्नेन संपाद्यमानं मुमुक्षोर्मोक्षसाधनं भवतीति प्रतिपादयन्नुपसंहरति—

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

(१) ये तु संन्यासिनो मुमुक्षवो धर्मामृतं धर्मरूपममृतत्वसाधनत्वाद्दृष्टतदास्वाद्यत्वाद्वेदं यथोक्तमद्वेष्टा सर्वभूतानामित्यादिना प्रतिपादितं पर्युपासतेऽनुतिष्ठन्ति प्रयत्नेन श्रद्धधानाः सन्तो मत्परमा अहं भगवानक्षरात्मा वासुदेव एव परमः प्राप्तव्यो निरतिशया गतिर्येषां ते मत्परमा भक्ता मां निरुपाधिकं ब्रह्म भजमानास्तेऽतीव मे प्रियाः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति पूर्वसूचितस्यायमुपसंहारः ।

(२) यस्माद्धर्मामृतमिदं श्रद्दधानतया अनुतिष्ठन्भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्यातीव प्रियो भवति तस्मादिदं ज्ञानवतः स्वभावसिद्धतया लक्षणमपि मुमुक्षुणाऽऽत्मतत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मज्ञानोपायत्वेन यत्नादनुष्ठेयं

बिना प्रयत्नके ही अद्वेष्टृत्वादि गुण हो जाते हैं, वे उसके लिये साधनरूप नहीं होते ।' पहले यही बात स्थितप्रज्ञके लक्षणरूपसे कही गयी है । प्रयत्नसे सम्पादन किये जानेपर यही धर्मसमूह मुमुक्षुके मोक्षका साधन होता है— यह प्रतिपादन करते हुए इस प्रसंगका उपसंहार करते हैं—

[श्लोकार्थः—मेरेमें श्रद्धा रखनेवाले और मुझे ही परम गति समझनेवाले जो भक्तगण सब प्रकार इस उपर्युक्त धर्मरूप अमृतका सेवन करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं ॥ २० ॥]

(१) जो मुमुक्षु संन्यासी श्रद्धा रखकर और मत्परम—मैं अक्षरात्मा भगवान् वासुदेव ही जिनका परम प्राप्तव्य—निरतिशया गति हूँ ऐसे मेरे भक्त होकर इस उपर्युक्त—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि ग्रन्थसे प्रतिपादित धर्मामृत—धर्मरूप अमृतका, अमृतत्वका साधन होनेसे अथवा अमृतके समान स्वाद होनेके कारण पर्युपासन अर्थात् प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करते हैं वे मत्परायण भक्त—मुझ निरुपाधिक परब्रह्मका भजन करनेवाले मुझे अत्यन्त प्रिय हैं । यह 'मैं ज्ञानीको अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्यारा है' इस प्रकार पहले कही हुई बातका ही उपसंहार है ।

(२) क्योंकि इस धर्मामृतका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करनेसे पुरुष परमेश्वर भगवान् विष्णुका अत्यन्त प्रिय हो जाता है इसलिये ज्ञानीका यह स्वभावसिद्ध लक्षण होनेपर भी भगवान् विष्णुके परम पदको जाननेकी इच्छावाले आत्मतत्त्वके जिज्ञासु मुमुक्षु पुरुषको इसका आत्मज्ञानके उपायरूपसे प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये—यह इस वाक्यका

विष्णोः परमं पदं जिगमिषुणेति वाक्यार्थः । तदेवं सोपाधिकब्रह्माभिध्यानपरिपाकान्निरुपाधिकं ब्रह्मानुसंदधानस्याद्वेष्टृत्वादिधर्मविशिष्टस्य मुख्यस्याधिकारिणः श्रवणमननिदिध्यासनान्यावर्तयतो वेदान्तवाक्यार्थतत्त्वसाक्षात्कारसंभवात्ततो मुक्त्युपपत्तेर्मुक्तिहेतुवेदान्तमहावाक्यार्थान्वययोग्यस्तत्पदार्थोऽनुसंधेय इति मध्यमेन षट्केन सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

तात्पर्य है । इस प्रकार सोपाधिक ब्रह्मके ध्यानका परिपाक होनेसे निरुपाधिक ब्रह्मका अनुसन्धान करनेवाले, अद्वेष्टृत्वादि धर्मोंसे युक्त, एवं श्रवण-मनन और निदिध्यासनका अभ्यास करनेवाले मुख्य अधिकारीको वेदान्तवाक्योंके अर्थस्वरूप तत्त्वका साक्षात्कार होना संभव है और इससे उसकी मुक्ति भी हो सकती है । अतः मुक्तिके हेतुभूत वेदान्तके महावाक्योंके अर्थमें जिसका अन्वय हो सकता है उस 'तत्' पदके अर्थका अनुसन्धान करना चाहिये—यह बात बीचके छः अध्यायोंसे सिद्ध होती है ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपाद-शिष्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीकृत श्रीमद्भगवद्गीतागूढार्थदीपिका-टीकाके हिन्दीभाषान्तरका भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय ॥ १२ ॥